...युत मेघ राज जी पुनम चन्द जी
... करवा जी सुराना की ओर से
...ारों भण्डार पुस्तकालय को सप्रेम भेंट!

18 10.72

आचार्य श्री तुलसी की अन्य कृतियां

१. नैतिक संजीवन

[अणुव्रत-आन्दोलन के वार्षिक अधिवेशन में प्रदत्त जीवन की ज्वल
समस्याओं का हृदयस्पर्शी समाधान प्रस्तुत करने वाले मंगल प्रवचन, दीक्षा
प्रवचन तथा कुछ अन्य प्रवचन]

२. अग्नि परीक्षा

[लंका-विजय से सीता के अग्नि-स्नान तक की राम-कथा में अनुस्यूत लो
लयाश्रित प्रबन्ध-काव्य]

३. आषाढ़भूति

[नास्तिकता पर आस्तिकता की विजय का अभिव्यंजक प्रबन्ध-काव

४. श्रीकालू उपदेशवाटिका

[भक्ति व अध्यात्म रस से संभृत १४४ गीतिकाओं का संग्रह]

५. श्रद्धेय के प्रति

[देव, गुरु और धर्म की त्रिपदी से सम्बद्ध पर्व-दिवसों के अवसर
रचित गीतिकाओं का संग्रह]

भरत-मुक्ति

[चक्रवर्ती भरत के जीवन पर आधारित
प्रबन्ध काव्य]

रचयिता
आचार्य श्री तुलसी

सम्पादन-कार्य

'भरत-मुक्ति' एक प्रबन्ध काव्य है। उसमें चक्रवर्ती भरत का जीवन चित्रित है। उसका सम्पादन आधुनिक हुआ है। सम्पादन-कार्य दो मुनियों ने किया।

श्रमण सागर और मुनि महेन्द्र 'प्रथम'

मुनि महेन्द्र ने 'भरत-मुक्ति : एक अध्ययन' लिखकर भरत के जीवन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। अपने शिष्यों द्वारा जो साहित्यिक उपहार जनता को मिल रहा है, उससे मेरी प्रसन्नता अभिवृद्ध होती है।

वि० सं० २०२०
कार्तिक कृष्णा १३
लाडनूं

—आचार्य तुलसी

भूमिका

मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति उसके अपने आनन्द के सर्जन के लिए ही होती है। दुःख-जिहासा से प्रेरित होकर ही वह अणु-अणु की छान-बीन करता है तथा उनके समवाय से नई सृष्टि रच डालता है। जब वह वैयक्तिक आकांक्षाओं से उपरत हो जाता है, तब उसकी प्रवृत्ति और निखर उठती है, जिसे अध्यात्म की भाषा में परमार्थ कहा जाता है। कवि भी यदि इसका अपवाद बनकर केवल वर्णों के चयन की ओर ही विशेष अग्रसर होता है तो कविता तो बन सकती है, किन्तु वह रस-विहीन फलमात्र ही रह जाती है। इसीलिए कविता की नहीं जाती, वह तो सहज स्फूर्त होती है। नीरव वातावरण, प्रकृति की अनुकूलता, गिरिकन्दरा, उद्यान व सरित्तट का वास कविता के उत्प्रेरक होते हुए भी उसकी आत्मा नहीं बन पाते। अनुभूतियों की तीव्रता अभिव्यक्ति का उत्सग पाकर इतनी सजीव व सरस हो उठती है कि नीरवता आदि मुख्य जैसे प्रतीत होने वाले साधन भी वहाँ गौण ही रह जाते हैं, यह अनुभूत सत्य है। कविता की प्रसन्नता का प्रसाद पाने के लिए मैंने कभी प्रयत्न नहीं किया, उसका सहवर्तित्व ही मुझे हितकर लगा। परिणामतः बारह वर्ष की अवस्था से ही मैं कविता लिखने लगा। नीरवता और जन-संकुलता मेरे इस कार्य में न साधक हुई और न बाधक। जैसा नीरवता में कर पाया, वैसा जन-संकुलता में भी। राजस्थानी मातृभाषा है और संस्कृत अधीत, अतः दोनों ही भाषाओं में लिखता रहा। कुछ वर्षों पूर्व हिन्दी भाषा की ओर भी आकर्षण बढ़ा। भरत-मुक्ति काव्य पहली कृति है, जिसकी रचना सन् १९५८ में की थी।

प्रस्तुत काव्य-निर्माण के मुख्यतया दो उद्देश्य थे—१. साधु-संघ में हिन्दी काव्य की धारा को प्रवाहित करना; २. ऋषभ-पुत्र भरत चक्रवर्ती को काव्य शैली में प्रस्तुत करना। बहुत समय से यह बलवती अभिलाषा थी कि जैसे प्रचार-क्षेत्र में हमने पादन्यास कर नैतिक वातावरण बनाया, आचार-क्षेत्र को सुदृढ़ बनाया और शिक्षा के क्षेत्र में साधु-संघ को गतिशील किया; वैसे ही साहित्यिक क्षेत्र में भी नया उद्वर्तन दिया जाए। ऐसा होने से सभी कार्यों में मनालोचित निखार सहज ही आ सकता है।

देश स्वतन्त्र हुआ ही था। देश का नेतृवर्ग उस समय राष्ट्र-निर्माण की

चिन्तन में लगा हुआ था। हमारा ध्यान भी उस ओर आकर्षित हुआ। जब तक नैतिक निर्माण नहीं होता, तब तक सभी निर्माण अधूरे हैं, इसमें मत-भिन्नता को अवकाश नहीं। अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से सारे ही देश का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया और उस कार्य में सारे मन को एक तरह से लगा दिया। लम्बी-लम्बी यात्राएँ कीं। जैसा कि सोचा गया था, इस देश में नैतिकता का वातावरण बनाने में सफल हुए।

लम्बी-लम्बी पद-यात्राओं में शरीर को चूर-चूर करने वाला श्रम तो सहज होता ही है। जन-सम्पर्क उस श्रम के साथ व्यस्तता का रंग और उंडेल देता है, जिससे काव्य-रचना को एक कोने में ही शान्त बैठ जाना पड़ता है। फिर भी उत्तरप्रदेश-यात्रा के अवसर पर कानपुर चतुर्मास में अन्यान्य कार्यक्रमों से थोड़ा अवकाश मिला। वह चतुर्मास तीन महीने का था। उस समय इस काव्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ। यद्यपि उस समय भी राम-कथा के एक मन के निर्माण की अभिलाषा थी, पर इस काव्य का प्रारम्भ हो जाने से वह कार्य स्थगित ही रहा, जो अगले वर्ष 'द्विशताब्दि समारोह' के अवसर पर 'अग्नि-परीक्षा' के रूप में पूर्ण हुआ। यह काव्य उत्तरवर्ती होता हुआ भी पूर्व ही प्रकाशित हो गया।

भरत-मुक्ति की कथा जैन समाज के लिए सुपरिचित है। मेरे मन में तो इस कथा के प्रति आरम्भ से ही बहुत आकर्षण था। न मालूम कितनी बार इसे सुनने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ होगा। परम श्रद्धेय श्री कालूगणी से अनेक बार मैंने सुना, 'भरत-बाहुबली महाकाव्य' (संस्कृत) बहुत ही सरस व अद्वितीय काव्य है। पंचमाचार्य श्री मघवागणी इस काव्य का परिषद् में रस विभोर होकर ओजस्विनी शैली में वाचन करते थे। असंस्कृतज्ञ जनता भी मंत्र मुग्ध होकर उसे सुनती थी। काव्य की कमनीयता से घटना निहाल हो उठती है और घटना की मनोरमता से काव्य का रूप निखर आता है। कुशल वक्ता की ओजस्विनी शैली का सहारा पाकर काव्य की कमनीयता और घटना की मनोरमता श्रोता के हृदय को सहज ही आकर्षित कर लेती है। एक श्रोता तो काव्य-रस में इतना आप्लावित हुआ कि उसने वह प्रति ही चुरा ली। दूसरी प्रति के अभाव में आचार्य श्री मघवागणी का उस समय वह वाचन अवरुद्ध हो गया। तब से उस काव्य की खोज चल रही थी। लगभग पचास वर्ष बाद उसकी आगे की प्रति आगरा में मिली। वह प्रति अशुद्ध थी, अतः मुनि नथमल ने उसका संशोधन कर सुन्दर प्रतिलिपि तैयार की। मैंने उसका व्याख्यान में वाचन किया और पाठ्यक्रम में भी उसे स्थान दिया।

लम्बे अर्से से मेरी यह कामना थी कि हिन्दी जगत् में उस घटना को तथा उस काव्य के कुछेक स्थलों को आधुनिक रूप देकर प्रस्तुत किया जाए, पर

अन्यान्य व्यस्तताओं के कारण ऐसा न हो सका। भरत और बाहुबली का बारह वर्षीय युद्ध-वर्णन तो उसी काव्य मे मिलता है, अत. प्रस्तुत काव्य मे उसी को आधार माना है। मैं चाहता था, यह काव्य लघुकाय ही हो, पर ज्यो-ज्यों रचना होती गई, विस्तार भी उसी प्रकार होता गया। यह कैसा बना है, मेरे लिए यह विमर्षणीय नही है। प्राचीन व नवीन दोनो ही पद्धतियो का यथास्थान प्रयोग मुझे उचित प्रतीत हुआ। काव्य-रचना में एक ओर जहाँ साहित्य-मनीषी मेरे केन्द्र थे, वहाँ साधारण पाठको को भी मैं कैसे भुला सकता था।

प्रस्तुत काव्य की रचना मे शिष्य श्रमण सागर व महालचन्दजी सेठिया (सरदारशहर) के पौत्र सोहनलाल सेठिया का श्रम भी पूरा सहयोगी रहा है।

धवल समारोह के अवसर पर मेरे साहित्य का सम्पादन-कार्य मुनि महेन्द्र कुमार 'प्रथम' ने आरम्भ करना चाहा और मैंने उसे सहर्ष सम्मति दी। नैतिक संजीवन, अग्नि-परीक्षा, आपाढभूति, श्री कालू उपदेश वाटिका, श्रद्धेय के प्रति आदि का सम्पादन वह मनोयोग व तत्परता से कर चुका है।

प्रस्तुत काव्य का 'एक अध्ययन' तुलनात्मक लिखा गया है, अत इसमें अनेक ग्रन्थो का पारायण स्वाभाविक था ही। एक अध्ययन विस्तृत अवश्य हो गया है, किन्तु अन्वेषको के लिए उपयोगी बन पडा है। मुनि नगराज ने सम्पादन-कार्य मे मुनि महेन्द्र का मार्ग-दर्शन किया है।

मुझे आशा है कि यह काव्य जहाँ हमारे सघ के साधु-साध्वियो के लिए दिशा-सूचन का कार्य करेगा, वहाँ साहित्यिक जगत् को भी प्रीणित करेगा।

वि० स० २०१६ माघ कृ० ६
रीछेड (राजस्थान)

—आचार्य तुलसी

अन्यान्य व्यस्तताओं के कारण ऐसा न हो सका। भरत और बाहुबली का बारह वर्षीय युद्ध-वर्णन तो उसी काव्य में मिलता है, अतः प्रस्तुत काव्य में उसी को आधार माना है। मैं चाहता था, यह काव्य लघुकाय ही हो, पर ज्यों-ज्यों रचना होती गई, विस्तार भी उसी प्रकार होता गया। यह कैसा बना है, मेरे लिए यह विमर्शणीय नहीं है। प्राचीन व नवीन दोनों ही पद्धतियों का यथास्थान प्रयोग मुझे उचित प्रतीत हुआ। काव्य-रचना में एक ओर जहाँ साहित्य-मर्मज्ञ मेरे केन्द्र थे, वहाँ साधारण पाठकों को भी मैं कैसे भुला सकता था।

प्रस्तुत काव्य की रचना में शिष्य श्रमण सागर व महालचन्दजी सेठिया (सरदारशहर) के पौत्र सोहनलाल सेठिया का श्रम भी पूरा सहयोगी रहा है।

धवल समारोह के अवसर पर मेरे साहित्य का सम्पादन-कार्य मुनि महेन्द्र कुमार 'प्रथम' ने प्रारम्भ करना चाहा और मैंने उसे सहर्ष सम्मति दी। नैतिक सञ्जीवन, अग्नि-परीक्षा, आषाढ़भूति, श्री कालू उपदेश वाटिका, श्रद्धेय के प्रति आदि का सम्पादन वह मनोयोग व तत्परता से कर चुका है।

प्रस्तुत काव्य का 'एक अध्ययन' तुलनात्मक लिखा गया है, अतः इसमें अनेक ग्रन्थों का पारायण स्वाभाविक था ही। एक अध्ययन विस्तृत अवश्य हो गया है, किन्तु अन्वेषकों के लिए उपयोगी बन पड़ा है। मुनि नगराज ने सम्पादन-कार्य में मुनि महेन्द्र का मार्ग-दर्शन किया है।

मुझे आशा है कि यह काव्य जहाँ हमारे संघ के साधु-साध्वियों के लिए दिशा-सूचन का कार्य करेगा, वहाँ साहित्यिक जगत् को भी प्रीणित करेगा।

वि० सं० २०१६ माघ कृ० २
रींछेड़ (राजस्थान)

—आचार्य तुलसी

चिन्ता मे लगा हुआ था। हमारा ध्यान भी उस ओर आकर्षित हु
तक नैतिक निर्माण नही होता, तब तक सभी निर्माण अधूरे हैं,
भिन्नता को अवकाश नहीं। अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से सारे
ध्यान इस ओर आकृष्ट किया और उस कार्य में सारे संघ को ए
लगा दिया। लम्बी-लम्बी यात्राऐं की। जैसा कि सोचा गया था, ह
नैतिकता का वातावरण बनाने मे सफल हुए।

लम्बी-लम्बी पद-यात्राओं में शरीर को चूर-चूर करने वाला श्रम
होता ही है। जन-सम्पर्क उस श्रम के साथ व्यस्तता का रस और
है, जिससे काव्य-कलना को एक कोने में ही शान्त बैठ जाना पड़ता
भी उत्तरप्रदेश-यात्रा के अवसर पर कानपुर चतुर्मास मे अन्यान्य क
थोड़ा अवकाश मिला। वह चतुर्मास पाँच महीने का था। उस समय
का निर्माण आरम्भ हुआ। यद्यपि उस समय भी राम-कथा के
निर्माण की अभिलाषा थी, पर इस काव्य का आरम्भ हो जाने से
स्थगित ही रहा, जो अगले वर्ष 'द्विशताब्दि समारोह' के अवसर
परीक्षा' के रूप मे पूर्ण हुआ। यह काव्य उत्तरवर्ती होता हुआ
प्रकाशित हो गया।

भरत-मुक्ति की कथा जैन समाज के लिए सुपरिचित है। मेरे
इस कथा के प्रति आरम्भ से ही बहुत आकर्षण था। न मालूम कि
इसे सुनने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ होगा। परम श्रद्धेय श्री का
अनेक बार मैंने सुना, 'भरत-बाहुबली महाकाव्य' (संस्कृत) बहुत
अद्वितीय काव्य है। पचमाचार्य श्री मघवागणी इस काव्य का परि
विभोर होकर ओजस्विनी शैली मे वाचन करते थे। असंस्कृतज्ञ जन
मुग्ध होकर उसे सुनती थी। काव्य की कमनीयता से घटना निहाल
है और घटना की मनोरमता से काव्य का रूप निखर आता है। कु
की ओजस्विनी शैली का सहारा पाकर काव्य की कमनीयता और
मनोरमता श्रोता के हृदय को सहज ही आकर्षित कर लेती है। एक
काव्य-रस मे इतना आप्लावित हुआ कि उसने वह प्रति ही चुरा ल
प्रति के अभाव मे आचार्य श्री मघवागणी का उस समय वह वाच
हो गया। तब से उस काव्य की खोज चल रही थी। लगभग पचास
उसकी मांगे की प्रति आगरा मे मिली। वह प्रति अशुद्ध थी, अतः मु
ने उसका संशोधन कर सुन्दर प्रतिलिपि तैयार की। मैंने उसका
वाचन किया और पाठ्यक्रम मे भी उसे स्थान दिया।

लम्बे समय से मेरी यह कामना थी कि हिन्दी जगत् मे उस घटन
उस काव्य के कुछेक स्थलों को आधुनिक रूप देकर प्रस्तुत किया

अनुक्रम

भरत-मुक्ति : एक अध्ययन

अनुक्रम

भरत-मुक्ति : एक अध्ययन

भरत-मुक्ति महाकाव्य

भरत-मुक्ति : एक अध्ययन

विश्व क्या है ? यह कब बना ? बनने से पूर्व इसकी क्या स्थिति थी ? प्रारम्भिक सभ्यता क्या रही होगी ? उसमे किस तरह विकास हुए होगे ? इसका भविष्य क्या है ? कब प्रलय होगा ? प्रलय के बाद क्या होगा ? अन्तिम सस्कृति क्या रहेगी ? स्वभावतः ही ये प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क मे उभरते रहते हैं । इनका समाधान इतिहास के पुरावो मे खोजा गया, पर वह हृदय मे नही उतरा । ध्वसावशेषो की मिट्टी व पत्थरो के टुकडो को प्रयोगशालाओ मे लाया गया, वहा उन्हे परखा गया, फिर भी समाधान नही हुआ । दार्शनिको ने भी अपने चिन्तन के आधार पर इन प्रश्नो का समाधान प्रस्तुत किया । वह तार्किक था, अत स्थायी और सर्वजन-ग्राह्य भी बना । विभिन्न दार्शनिको ने यद्यपि इन प्रश्नो के उत्तर भी भिन्न-भिन्न दिये, पर कुल मिलाकर यह स्पष्ट है कि वे उत्तर ही आज सस्कृति का रूप धारण कर चुके हैं ।

इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण और रोचक स्थल सस्कृति का उद्गम और आदि विकास ही हुआ करता है । उसमे लेखक को अन्वेषण के लिए बहुत आयास उठाना पड़ता है, पर पाठक को उसमे उतना ही अधिक आनन्द आता है । साथ ही यदि वह इतिहास-प्रकरण लोक-गीतो की धुन मे या जन-भाषा मे कविताबद्ध होता है तो पाठक पढ़ते-पढते उस पर झूम उठता है और उन तथ्यों को सहजतया ही हृदयगम कर सकता है ।

आचार्यश्री तुलसी का भरत-मुक्ति महाकाव्य भी इसी शृ खला की एक कड़ी कहा जा सकता है । प्रस्तुत महाकाव्य मे सामाजिक, न्यायिक व धार्मिक व्यवस्थाओ के प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत का जीवन सदृब्ध है । इस काव्य के प्रमुख नायक चक्रवर्ती भरत है और उनके सहवर्ती भगवान् ऋषभदेव, महामाता मरुदेवा, भाई बाहुबली व भगिनी ब्राह्मी, सुन्दरी आदि है । काव्य उपरोक्त प्रश्नो का जैनी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और साथ ही साथ आदि सभ्यता व सस्कृति का सजीव चित्रण भी । मनुष्य व्यष्टि से समष्टि मे क्यो आया ? उसके मन मे वितृष्णा क्यो उत्पन्न हुई ? वितृष्णा के साथ दम्भ व अहं क्यो बढ़ा ? अपराध क्यो बढ़े ? उनके निरोध

के लिए दण्ड-व्यवस्थाओं का प्रादुर्भाव कैसे हुआ तथा अन्ततः साम्राज्यवादी वृत्तियों का विस्तार क्यों व कब हुआ; आदि का बहुत रोचक शैली में जैन दृष्टिकोण से प्रामाणिक विवेचन किया गया है।

भगवान् ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत जैन-परम्परा में तो श्लाघ्यपुरुष हैं ही, वैदिक परम्परा मे भी भगवान् ऋषभदेव आठवें अवतार व उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत अनासक्त योगी माने गए हैं। दोनों ही प्रसंगों में बहुत कुछ सादृश्य है। बौद्ध-साहित्य में भी उनका उल्लेख मिलता है। प्रस्तुत महाकाव्य पर कुछ साहित्यिक मीमांसा करने से पूर्व यह आवश्यक होगा कि तत्सम्बन्धी घटनाओं की पूर्व पीठिका व उनके ऐतिहासिक तथा शास्त्रीय आधार को भी परखा जाये, जिससे काव्य की मौलिक विशेषताओं का असाधारणतया अध्ययन किया जा सके।

जैन वाङ्मय में

क्रम-ह्रासवाद और क्रम-विकासवाद

सृष्टि का कभी आत्यन्तिक नाश नहीं होता, अत उसके रचना-काल का प्रश्न उठता ही नही। वह शाश्वत है। क्रम-ह्रासवाद व क्रम-विकासवाद के आधार पर समय व्यतीत होता है, युग बनते हैं और उनसे इस विश्व मे क्रमश: अवसर्पण (अपकर्ष) और उत्सर्पण (उत्कर्ष) होता है। जैन शास्त्रो के अनुसार द्वापर, त्रेता, सतयुग और कलियुग की तरह सामूहिक परिवर्तन को 'कालचक्र' के नाम से अभिहित किया गया है। कालचक्र के मुख्यत दो विभाग हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। दोनो ही विभाग फिर छ-छ भागो मे विभक्त होते है। अवसर्पिणी के छ विभागो के नाम है—१ एकान्त सुषमा, २. सुषमा, ३. सुषम-दु:षमा, ४ दु:षम-सुषमा, ५. दु:षमा और ६. दु:षम-दु:षमा। उत्सर्पिणी में इनका व्यतिक्रम होता है। इन छ विभागो को 'आरा' भी कहा जाता है। अवसर्पिणी मे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, आयुष्य, शरीर, सुख आदि की क्रमश: अवनति होती है और उत्सर्पिणी में उन्नति। जब उन्नति चरम सीमा पर पहुंच जाती है, तब अवनति आरम्भ होती है और जब अवनति चरम सीमा पर पहुंच जाती है, तब उन्नति आरम्भ होती है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के आरम्भ से एक तरह की नई सृष्टि का आरम्भ होता है और समाप्ति होने पर समाप्ति।

अवसर्पण की आदि सभ्यता

प्रथम विभाग एकान्त सुषमा मे मनुष्यो का आयुष्य तीन पल्य का होता था और उनका शरीर तीन कोश-परिमाण। उनका समचतुरस्र संस्थान होता था और वज्रऋषभनाराच संहनन। वे अपक्रोध, निरभिमान, निश्छद्म, अवितृष्ण, विनीत, भद्र, भोज्य व भक्ष्य पदार्थों का संग्रह न करने वाले, सन्तुष्ट, औत्सुक्य रहित और सर्वदा धर्मपरायण होते थे। उस समय भूमि अत्यन्त स्निग्ध थी और मिट्टी चीनी से भी अतिशय मिष्ट; अत: नदियो मे पानी भी मधुर व

[illegible]

[illegible]

[illegible] हिंसा और उच्छृंखलता के भावों का भी अभाव था । [illegible] भी नहीं था ।

हाथी, घोड़े, बैल, ऊँट आदि सभी प्रकार के पशु होते थे पर मनुष्य उन्हें [illegible] प्रयुक्त नहीं करता था । गाय, भैंस बकरी आदि दुधारू पशु भी होते थे, पर उनका दूध नहीं निकाला जाता था. अतः किसी ने दूध का स्वाद भी कभी नहीं चखा था । गेहूँ, चावल आदि धान्य बिना बोये ही उगते थे, पर [illegible] उपयोग में ही नहीं लाया जाता था । सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र प्राणी भी किसी पर हमला नहीं करते थे । किसी प्रकार के रोग भी नहीं थे । जीवन बहुत स्वस्थ होता था । असामयिक मृत्यु नहीं होती थी । बुखार, ज्वर व महामारी आदि छोटी व बड़ी किसी प्रकार की भी व्याधि नहीं होती थी । इस प्रकार चार कोटाकोटि सागर[1] का एकान्त सुषमा नामक प्रथम विभाग समाप्त हुआ ।

सभ्यता में परिवर्तन

अवसर्पिणी कालचक्र का दूसरा और लगभग तीसरा विभाग भी क्रमशः बीत गया । सभी बातें ह्रासोन्मुख होने लगीं । पृथ्वी का स्वभाव, पानी का स्वाद, पदार्थों की यथेष्ट उपलब्धि क्रमशः कम होती गई । आयुष्य भी तीन पल्य के स्थान पर दो पल्य व एक पल्य का हो गया । भोजन की आवश्यकता भी तीसरे व दूसरे दिन होने लगी । शरीर का परिमाण भी घटने लगा । कल्पवृक्षों ने भी आवश्यकताएं पूर्ण करना कुछ कम कर दिया ।

तृतीय विभाग लगभग समाप्त हो रहा था । एक पल्य का केवल आठवाँ भाग अवशिष्ट था । यौगलिक व्यवस्था डोलने लगी । सरलता, निरभिमान व निर्दम्भ के स्थान पर जीवन में कुटिलता, मद व दम्भ प्रविष्ट होने लगे । कल्पवृक्षों के द्वारा अभीप्सित मिलना बहुत अल्प हो गया । भूमि की स्निग्धता व मधुरता में भी घोर अन्तर आ गया । आवश्यकताएं बढ़ने लगीं और उनकी पूर्ति के लिए संग्रहवृत्ति भी बढ़ी । जब अनिवार्य आवश्यकताएं पूर्ण न हुईं तो वाद-विवाद, लूट-खसोट व छीना-झपटी भी बढ़ी । सहज रूप में उगने वाले धान्य

१. दस कोटाकोटि पल्य का एक सागर होता है ।

का भोजन के रूप में उपयोग होने लगा। क्षमा, शान्ति व सौहार्द आदि सहज गुण बदल गये। अपराधी मनोभावना के बीज अंकुरित होने लगे। असंख्य वर्षों के बाद ऐसी परिस्थिति हुई थी।

समष्टि जीवन के आरम्भ के निमित्त

अव्यवस्था व अपराध न हों, इसके लिए मार्ग खोजे जाने लगे। अपनी-अपनी सुरक्षा के लिए अपने से समर्थ का आश्रय लिया जाने लगा। एक-दूसरे की निकटता बढ़ी और उसने सामूहिक जीवन जीने के लिए विवश कर दिया। उस सामूहिक व्यवस्था को 'कुल' के नाम से कहा गया।

तन्त्र के आरम्भ की आदि घटना व वाहन का उपयोग

मनुष्यों में अहंवृत्ति जागृत होने लगी थी; अतः उस 'कुल' का मुखिया कौन हो, यह प्रश्न भी सामने आया। पद-लिप्सा भड़कने लगी थी, परन्तु उसके लिए किसी प्रकार का विग्रह उचित नहीं समझा जाता था। किसी सहज मार्ग की गवेषणा की जा रही थी। एक दिन एक विशेष घटना घटी। एक युगल स्वेच्छया वन में भ्रमण कर रहा था। सामने से एक उज्ज्वल व बलिष्ठ हाथी आगया। दोनों की आंखें मिलीं। हाथी के हृदय में युगल के प्रति सहज स्नेह जागृत हुआ। उसे अपने गत भव की स्मृति हुई; जिससे उसने जाना, हम दोनों ही पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में वणिक् पुत्र थे और दोनों में घनिष्ठ मैत्री थी। यह सरल था, अतः यहां मनुष्य रूप में उत्पन्न हुआ है और मैं धूर्त—मायाचारी था, अतः इस पशु-योनि में आया हूँ। उसने अपने मित्र को, उसके न चाहने पर भी अपनी पीठ पर बैठा लिया। अन्य युगलों ने जब इस घटना को देखा तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ; क्योंकि इस अवसर्पिणी काल में यह युगल ही सर्वप्रथम वाहनारूढ हुआ था। हाथी बहुत विमल था, अतः उस युगल का नाम भी विमल-वाहन प्रसिद्ध हो गया तथा उसे ही प्रथम कुलकर के पद पर आसीन किया गया। इस प्रकार कुलकर की नियुक्ति हो जाने से सभी युगल विमलवाहन के आदेश को मानते और वह सबको व्यवस्था देता।

दण्ड-नीति की आवश्यकता

अपराधी मनोवृत्ति बढ़ती हुई कुछ रुकी। किन्तु व्यवस्था देने मात्र से ही स्थिति नियन्त्रित न हुई। कुछ दण्ड-नीति की भी आवश्यकता अनुभव की गई। इससे पूर्व कोई दण्ड-व्यवस्था नहीं थी। उस स्थिति को निम्न श्लोक से अभि-व्यक्त किया जा सकता है :

धर्मेणैव प्रजाः सर्वा, रक्षन्तिस्म परस्परम् ।

विमलवाहन के समय यह स्थिति बदल गई । कल्पवृक्षों ने अभीप्सित प्रदान करना लगभग बन्द कर दिया; अतः युगलों का उन पर अत्यधिक ममत्व बढ़ने लगा । एक युगल द्वारा अधिकृत कल्पवृक्ष का दूसरे युगल द्वारा बलात् उपयोग होने लगा और इस प्रकार व्यवस्था-भंग होने से विग्रह बढ़ने लगे । विमलवाहन ने सबको एकत्रित किया और अपने ज्ञान-वैशिष्ट्य से झगड़ा टालने की दृष्टि से, कुटुम्बियों में जिस तरह सम्पत्ति बाँटी जाती है, कल्पवृक्षों का बटवारा कर दिया ।

हाकार नीति

कुछ दिन तक व्यवस्था ठीक चलती रही, पर इसका भी अतिक्रमण होने लगा । विमलवाहन ने इसके प्रतिकार के लिए दण्ड-व्यवस्था का आरम्भ किया । सर्वप्रथम हाकार नीति का प्रचलन हुआ । अपराधी को खेदपूर्वक कहा जाता—'हा ! तुमने यह किया ?' अपराधी पानी-पानी हो जाता । उस समय इतना कथन भी मृत्यु-दण्ड का काम करता था । कुछ दिनों तक यह व्यवस्था चलती रही । अपराध भी कम होते, व्यवस्था भी बनी रहती । किन्तु आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में धीरे-धीरे अपराध बढ़ने लगे और प्रचलित दण्ड-व्यवस्था भी लोगों के लिए सहज बन गई ।

माकार नीति

विमलवाहन के बाद उसका ही पुत्र चक्षुष्मान् दूसरा कुलकर हुआ । वह भी अपने पिता की तरह ही व्यवस्थाएं देता रहा । कभी अपराध बढ़ते और कभी कम होते । 'हाकार' दण्ड से सब कुछ ठीक हो जाता । चक्षुष्मान् के बाद जब उसका पुत्र यशस्वी तृतीय कुलकर बना; तब वैमनस्य, प्रतिशोध व अन्य अपराध भी बढ़ते गए । यशस्वी ने यह सोचकर कि एक औषधि से यदि रोगोपशान्ति नहीं होती तो दूसरी औषधि का प्रयोग करना चाहिए; 'माकार नीति' का प्रचलन किया । अपराधी से कहा जाता—'और कभी ऐसा अपराध मत करना' । अल्प अपराधी को 'हाकार' और भारी अपराधी को 'माकार' का दण्ड दिया जाता ।

धिक्कार नीति

यशस्वी और चतुर्थ कुलकर अभिचन्द्र के समय तक उक्त दो दण्ड-व्यवस्थाओं

से ही काम चलता रहा। पांचवें कुलकर प्रसेनजित् को फिर इसमें परिवर्तन करना पड़ा। अपराधों की गुरुता बढ़ती जा रही थी। प्रारम्भ में जिसे महान् अपराध कहा जाता, इस समय तक वह तो सामान्य कोटि में आ चुका था। *युगल कामार्त, लज्जा व मर्यादा-विहीन होने लगे;* इसलिए प्रसेनजित् ने हाकार और माकार के साथ 'धिक्कार नीति' का प्रचलन किया। इस दण्ड-व्यवस्था के अनुसार अपराधी को इतना और कहा जाता—'तुझे धिक्कार है, जो इस तरह के काम करता है'। इससे पुनः मर्यादाएं स्थापित हुईं। युगल भीत रहने और अपराध करते हुए सकुचाते। छठे मरुदेव और सातवें नाभि कुलकर तक यह व्यवस्था चलती रही। नाभि कुलकर की पत्नी का नाम मरुदेवा था। शास्त्रों में प्रत्येक कुलकर का नाम, उसकी पत्नी का नाम व उसके वाहन के रूप में हाथी का विशद विवेचन किया गया है।

कुलकर के पर्यायवाची नामों में मनु,[1] कुलधर व युगादिपुरुष भी प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार कुल—संघीय जीवन बिताने की शिक्षा देने से ये कुलकर कहलाये थे; उसी प्रकार आजीविका के नाना साधन बताने से मनु, कुलों की व्यवस्थित स्थापना से कुलधर तथा इस युग के आदि पुरुष होने से युगादि-पुरुष कहलाये।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार जब तीसरा आरा समाप्ति पर था, कल्पवृक्षों का तेज घटने लगा। पृथ्वी पर सहज प्रकाश की अल्पता हुई तो सूर्य, चन्द्र दिखाई देने लगे। उससे जनता भयभीत हुई, किन्तु जब प्रथम कुलकर ने सूर्य, चन्द्र दिखने का कारण स्पष्ट किया तो भय भी दूर हुआ। सूर्य, चन्द्र का दिखना उस समय के परिवर्तनों में सबसे बड़ा व पहला परिवर्तन था। असंख्य वर्षों के बाद ताराओं का प्रकटीकरण हुआ। पृथ्वी पर पर्वत, नदियां भी दिखने लगीं। अब तक जो पशु शान्त वृत्ति वाले थे, वे हिंसक वृत्ति धारण करने लगे। इस प्रकार के भयानक वातावरण को देखकर लोग डरने लगे। *कुलकरों ने समय-समय पर रक्षात्मक उपाय लोगों को बताये।* उन्होंने हाथी, घोड़े और अन्य प्राणियों को वश में करने के प्रकार, पर्वत पर चढ़ने और नदियों को तैरने के प्रकार भी बतलाये।[2] पउमचरिउ के अनुसार यह घटना सातवें कुलकर श्री चक्षुष्मान् के समय पर हुई थी।[3]

---

१. आदि पुराण, पर्व ३, श्लोक २११
२. विस्तार के लिए देखें, महापुराण—पर्व३, श्लो० ५५ से २०६
३. सत्तमु चारु-चक्खु चक्खुब्भउ। तासु काले उप्पज्जइ विब्भउ।
सहसा चन्द्र दिवायर-दंसणे। समलु वि जणु आसङ्किउ णिय-मणे।
'अहो परमेसर कुलयर सारा। कोउहल्लु गहु एउ भडारा।
तं णिसुणेवि णराहिउ घोसइ। कम्म-भूमि मलइ एवंहि होसइ।

कुलकरों की संख्या

कुलकरों की संख्या के बारे में मतभिन्नता है। श्वेताम्बर जैन साहित्य—स्थानांग सूत्र[1], समवायांग[2] एवं भगवती[3] सूत्र में सात कुलकरों का उल्लेख पाया जाता है, जिसकी पुष्टि आवश्यक[4] चूर्णि, आवश्यक[5] निर्युक्ति व त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित[6] आदि में उत्तरवर्ती आचार्यों ने की है। उपांग साहित्य—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[7] में पन्द्रह कुलकर बताये गए हैं। पउमचरियं[8] में विमलसूरि ने चौदह कुलकर माने हैं। दिगम्बर परम्परा में चौदह कुलकर माने गये हैं, किन्तु नामों में यहाँ भिन्नता मिलती है। महापुराण[9] में आचार्य जिनसेन ने जिन चौदह कुलकरों के नामों का उल्लेख किया है, महाकवि स्वयम्भू-

---

पुव्व-विदेहें णिव्वाणाणन्दें। कहिउ आसि महु परमजिणिन्दें।

—पउमचरिउ, पढमो संधि, पृ० १८

१ जम्बुद्दीवे २ भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए सत्त कुलगरा हुत्था—पढमित्थ १ विमलवाहण २ चक्खुम ३ जसमं ४ चउत्थमभिचंदे। तत्तोय ५ पसेणइ पुण ६ मरुदेवे चेव ७ नाभी य।

—ठाणांग सूत्र, ठा० ७, उ० ३

२. समवायांग सूत्र, सम० १५७

३. जम्बूदीवेणं भन्ते! इह भारहवासे इमीसे उसप्पिणीए समाए कइ कुलगरा होत्था? गोयमा! सत्त। —भगवती सूत्र, श०५, उ० ५

४. पत्र १२६

५. पृ० २४, श्लो० ८१

६. पर्व १, सर्ग २, श्लो० १४२-२०६

७. तीसे णं समाए पच्छिमे तिभाए पलिओवमट्ठभागावसेसे एत्थ णं इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जित्था, तंजहा—१. सुमई २. पडिस्सुई ३. सीमंकरे ४. सीमंधरे ५. खेमंकरे ६. खेमंधरे ७. विमलवाहणे ८. चक्खुमं ९. जसमं १० अभिचन्दे ११. चंदाभे १२ पसेणई १३. मरुदेवे १४. णाभी १५. उसभे। —जम्बूदीपपण्णत्ति, वक्षस्कार २, सूत्र २८

८. उद्देसा ३, श्लो० ५०-५५

९. खण्ड १, पृ० ५१-५६ पर उल्लिखित १४ कुलकरों के नाम इस प्रकार हैं: १. प्रतिश्रुति, २. सुमति, ३. क्षेमंकर, ४. क्षेमन्धर, ५. सीमंकर, ६. सीमन्धर, ७. विमलवाहन, ८. चक्षुष्मान्, ९. यशस्वान्, १० अभिचन्द्र, ११. चन्द्राभ, १२. मरुदेव, १३. प्रसेनजित् और १४. नाभि।

चित पउमचरिउ[1] में वे कुछ भिन्न हैं; किन्तु दिगम्बर परम्परा में अधिक
ान्यता जिनसेन द्वारा उल्लिखित नामों को ही मिली है। प्रश्न यह उपस्थित
होता है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में तो यह अन्तर हो सकता था,
पर श्वेताम्बर परम्परा के अंग साहित्य व उपांग साहित्य में यह अन्तर क्यों
हुआ? प्रश्न प्राचीन है और उसे समाहित करने के लिए पूर्व आचार्यों ने भी
विभिन्न तर्क प्रस्तुत को हैं। श्री जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिचन्द्रीय[2] वृत्ति में कहा गया
है: "पुण्य पुरुषों के अधिकाधिक वंशजों का वर्णन होना चाहिए।" हीरप्रश्न[3]
वृत्ति में इसी तर्क को समाहित करने के लिए नाना पक्ष उपस्थित किये गए हैं।
वहां लिखा गया है: "कुलकर दो प्रकार के होते हैं; कुलकर-कार्य में नियुक्त
और स्वतन्त्र प्रवृत्त। स्थानांग आदि में विमलवाहन आदि का जो उल्लेख मिलता
है, वहा नियुक्त कुलकरों की अपेक्षा से है और जम्बूदीपण्णत्ति में 'कुलकर का
कार्य करने वाले कुलकर होते हैं' इस अभिप्राय: से दोनों प्रकार के कुलकरों
को ग्रहण कर पन्द्रह बताये गये हैं।' उन्होंने इस मत की पुष्टि में श्री
जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की 'विशेषणवती'[4] को भी उद्धृत किया है, किन्तु
वे यह भी मानते हैं कि 'विशेषणवती' की संगति समुचित नहीं है। उसमे
कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं। उदाहरणार्थ—"पन्द्रह[5] कुलकरों की व्यवस्था
मे प्रथम कुलकर सुमति के समय से पंचम क्षेमकर के समय तक हाकार दण्ड
था। षष्ठ कुलकर क्षेमन्धर से दशम कुलकर अभिचन्द्र के समय तक माकार दण्ड
था और एकादशम कुलकर चन्द्राभ से पन्द्रहवें कुलकर ऋषभ के समय त

---

१. पहिलउ पहु पडिसुइ सुयवन्तउ। बीयउ सम्मइ सम्मयवन्तउ।
तइयउ खेमङ्करु खेमङ्करु। चउयउ खेमन्धरु रणे दुद्धरु।
पञ्चमु सीमङ्करु दोहर-करु। छट्ठउ सीमन्धरु धरणीधरु।
सत्तमु चारु-चक्खु चक्खुब्भउ। तासु काले उप्पज्जइ विम्भउ।
पुणु जाउ जसुम्भउ अतुल-थामु। पुणु विमलवाहणुच्छलिय-णामु।
पुणु साहिचन्दु चन्दाहि जाउ। मरुएउ पसेणइ णाहिराउ।
१. प्रतिश्रुति, २. सुमति, ३. क्षेमंकर, ४. क्षेमंधर, ५. सीमंकर, ६. सीम
७. चक्षुष्मान्, ८. यशस्वी, ९. विमलवाहन, १०. अमृत, ११. चन्
१२. मरुदेव, १३. प्रसेनजित्, १४. नाभि। —पढमो संधि, पृ० १
२. वक्षस्कार २, पत्र सं० १३३-१
३. जम्बूदीपपण्णत्ति वृत्ति, वक्षस्कार २, पत्र सं० १३३-१ दि०
४. सत्तगहणेण जे विमलवाहणाई परेण से ण संगहिआ।
अणिओत्तिट्ठिअ ते कुलगरत्तणं जेण कयवंतो।
पण्णरस कुलगरत्तणसामण्णाओत्ति तेवि संगहिआ।
५. जम्बूदीपपण्णत्ति, वक्षस्कार २, पत्र संख्या १३३-२, १३४-१, सूत्र सं

धिक्कार दण्ड था। सात कुलकरों की व्यवस्था में "प्रथम[1] और द्वितीय कुलकर विमलवाहन व चक्षुष्मान् के समय हाकार दण्ड था। यशस्वी और अभिचन्द्र के समय अल्प अपराधी के लिए हाकार दण्ड और भारी अपराधी के लिए माकार दण्ड था। प्रसेनजित्, मरुदेव व नाभि कुलकर के समय जघन्य अपराधी के लिए हाकार दण्ड, मध्यम अपराधी के लिए माकार दण्ड तथा उत्कृष्ट अपराधी के लिए धिक्कार दण्ड था।" दोनों व्यवस्थाओं की युगपत् समीक्षा से यह तथ्य आविर्भूत होता है कि पन्द्रह कुलकरों की व्यवस्था के अनुसार विमलवाहन व चक्षुष्मान् के समय दूसरी दण्ड-व्यवस्था होती है, जबकि स्थानांग सूत्र के अनुसार प्रथम दण्ड-व्यवस्था। जिन छः कुलकरों के लिए 'नियुक्त' शब्द का प्रयोग न होकर 'स्वतन्त्रप्रवृत्त' कहा जाता है; उनके समय में यदि किसी दण्ड-व्यवस्था का आरम्भ नहीं होता तो यह कथन युक्ति-संगत हो सकता था, किन्तु ऐसा माना नहीं गया है। यही तर्क चौदह कुलकरों की परम्परा के बारे में भी दी जा सकती है। कुछ एक आचार्य इस संख्या-भेद को वाचना[2]-भेद भी मानते हैं।

भगवान् ऋषभदेव की कुलकरों में गणना इतनी यथार्थ प्रतीत नहीं होती। नाभि कुलकर के समय में ही ऋषभदेव का राजा के रूप में अभिषेक हो चुका था। एक कुलकर की वर्तमानता में दूसरा कुलकर कैसे हो सकता है तथा पूर्व कुलकर के समय में ही जब ऋषभदेव का राज्याभिषेक हो जाता है, तब वे कुछ समय के लिए भी कुलकर पद पर आसीन हुए होंगे, यह भी कैसे माना जा सकता है! जहाँ उनके लिए कुलकर का उल्लेख किया गया है, उसके अनन्तर ही उन्हें *'पढ़म केवली, पढ़म जिणे' के साथ 'पढ़म[3] राया'* भी माना गया है। यदि वे प्रथम राजा हैं तो कुलकर कैसे हो सकते थे? उनका समय तो यौगलिक सभ्यता तथा मानवीय सभ्यता का सन्धि-काल था, अत: उन्हें यौगलिक परम्परा का वाहक कैसे कहा जा सकता है। उनकी कुमारावस्था तक ही यौगलिक व्यवस्था चली थी। उसके बाद तो राज्य-व्यवस्था का विधिवत् श्रीगणेश हो गया था। तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने भगवान् ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत के कुलकर होने का प्रतिवाद किया है। उन्होंने यौगलिक परम्परा व सामाजिक परम्परा की सीमा-रेखा का अंकन करते हुए स्पष्ट लिखा है: "भगवान् ऋषभदेव ने कुमार अवस्था के अनन्तर राजा बनते

---

१. पढमबीयाणं पढमा तइयचउत्थाण अभिणवा बीया।
   पंचमछट्ठस्स य सत्तमस्स तइया अभिणवा उ॥

—स्थानांगसूत्र वृत्ति, स्था० ७, उ०३

२. क. हीरप्रश्न वृत्ति
   ख. तीर्थंकर महावीर, भाग १, पृ० २२

३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २, पत्र सं० १३५-१, सूत्र सं० ३०

हो यौगलिक धर्म-परम्परा को समाप्त किया।"[१]

आचार्य जिनसेन ने महापुराण[२] में भगवान् ऋषभदेव व चक्रवर्ती भरत को यद्यपि कुलकर, कुलधर व मनु के नाम से अभिहित किया है, किन्तु उसके साथ ही उन्हें तीर्थंकर व चक्रवर्ती भी माना है। इससे स्पष्ट है कि उस समय प्राचीन परम्परा विच्छिन्न प्रायः हो चुकी थी, नवीन परम्पराओं का श्रीगणेश हो रहा था। जन-मानस प्रचीन परम्पराओं के संस्कार से सहसा विलग नहीं हो रहा था और नई परम्पराएं शीघ्रता से हृदय मे उतर नही रही थी; अतः दोनों नामों से वहां अभिहित किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। वास्तविकता यह है कि उस समय कुलकर व्यवस्था से आगे समाज-व्यवस्था व राज्य-व्यवस्था का प्रवर्तन हो चुका था और व्यष्टि समष्टि में परिवर्तित होने लगी थी। नाना प्रकार के सामाजिक नियमन भी बन चुके थे। कुलकर-व्यवस्था मे जहा कल्पवृक्षो द्वारा आवश्यकताएं पूर्ण होती थी, वहां ऋषभदेव के समय से ऐसा होना समाप्त हो गया था। क्रमशः असि, मषि, कृषि का विकास हो गया था और उसके आधार पर ग्राम-निर्माण, शासन-प्रणाली, दण्ड-व्यवस्था, वैवाहिक सम्बन्ध व उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रियो के कार्यों का विभाजन भी हो चुका था। इन विभिन्न आधारों से सहज निष्कर्ष निकलता है कि नाभि अन्तिम कुलकर थे और श्री ऋषभदेव मानवीय सभ्यता के आदि सूत्रधार।

जैन परम्परा के कुलकरो की तरह वैदिक परम्परा में भी सात मनु माने गये हैं। मनुस्मृति, अध्याय १, श्लो० २२-२३ मे उनके नाम हैं: १. स्वायम्भू, २. स्वारोचिष, ३. उत्तम, ४ तामस ५. रैवत, ६. चाक्षुष और ७. वैवस्त। कुछ एक वैदिक शास्त्रों मे सात भावी मनु भी बताये गए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं: १. सावर्णि, २. दक्षसावर्णि, ३. ब्रह्मसावर्णि, ४. धर्मसावर्णि, ५. रुद्र-सावर्णि, ६. रोच्यदेवसावर्णि और ७. इन्द्रसावर्णि।

कर्मयुग का आरम्भ

अन्तिम कुलकर नाभि के समय यौगलिक सभ्यता क्षीण होने लगी। यह समय यौगलिक सभ्यता व मानवीय सभ्यता का सन्धिकाल था। आयु, संहनन, संस्थान व शरीर-परिमाण आदि घटने लगे थे। तृतीय विभाग सुषम-दुःषमा

१. पछै जुगलिया धर्म दूरो करो, राज बैठा छै मोटे मंडाण।
—भिक्षुग्रन्थ-रत्नाकर, खण्ड २, रत्न १७, भरतचरित्र, ढाल १, गा० ५

२. वृषभस्तीर्थकृच्चैव कुलकृच्चैव संमतः।
भरतश्चक्रभृच्चैव कुलभृच्चैव वर्णितः॥ २१३
वृषभो भरतेशश्च तीर्थचक्रभृतौ मनू। २३२ —महापुराण, पर्व ३

समाप्त होने में केवल चौरासी हजार वर्ष अवशिष्ट थे। नाभि कुलकर के घर पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। माता ने चौदह स्वप्न देखे। उनमें प्रथम स्वप्न वृषभ का था। शिशु के वृक्ष स्थल पर वृषभ का लाञ्छन भी था, वे सब में वृषभ—श्रेष्ठ थे, अतः उनका नाम वृषभनाथ—ऋषभदेव रखा गया। आगे चलकर समाज-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था व धर्म-व्यवस्था के आदि प्रवर्तक होने से वे आदिनाथ के नाम से भी विश्रुत हुए। सहजात कन्या का नाम सुमङ्गला रखा गया।

वंश-उत्पत्ति व उनके नामकरण

ऋषभदेव जब कुछ कम एक वर्ष के हुए, वंश का नामकरण किया गया। इन्द्र स्वयं इस कार्य के लिए आया। उसके हाथ में गन्ना था। ऋषभदेव उस समय नाभि कुलकर की गोद में थे। इन्द्र के अभिप्राय को जानकर उन्होंने उसे लेने के लिए हाथ बढ़ाया; अत वह वंश इक्षु + आकु (भक्षणे) = इक्ष्वाकु वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पहला इक्ष्वाकु वंश बना, ऐसा इस आधार से कहा जा सकता है। इसी तरह एक-एक घटना विशेष को लेकर पृथक्-पृथक् समूहों के पृथक्-पृथक् वंश बनते गये और नामकरण होता गया।

अकाल मृत्यु

श्री ऋषभदेव का बाल्य-जीवन बहुत ही आनन्द से बीता। धीरे-धीरे बड़े होने लगे। एक दिन विशेष घटना घटी। एक युगल अपने पुत्र व पुत्री को एक ताड़ वृक्ष के नीचे बैठाकर स्वयं कदलीवन में क्रीड़ा के लिए चला गया। दैवयोग से एक बड़ा फल टूटा और किसलय कोमल उस पुत्र पर पड़ा। उसकी असमय ही मृत्यु हो गई। यह पहली अकाल मृत्यु थी। यौगलिक माता-पिता ने अपनी उस लाड़ली कन्या का लालन-पालन किया। वह बहुत सरूपा थी। उसके प्रत्येक अवयव से लावण्य टपकता था। कुछ महीनों बाद उसके माता-पिता का भी देहान्त हो गया। वह अकेली रह गई। उसका नाम सुनन्दा था। वह एकाकिनी यूथभ्रष्ट मृगी की तरह इधर-उधर भटकने लगी। कुछ युगलों ने कुलकर श्री नाभि के समक्ष यह सारा उदन्त कहा। श्री नाभि ने सुनन्दा को, यह कह कर कि यह ऋषभ की पत्नी होगी, अपने पास रख लिया।

विवाह-परम्परा

यौवन प्रवेश पर ऋषभदेव का सहजात सुमङ्गला और सुनन्दा के साथ पाणि-ग्रहण हुआ। अपनी बहिन के अतिरिक्त दूसरी कन्या के साथ भी विवाह-सम्बन्ध हो सकता है, इसका यह पहला प्रयोग था। सुमङ्गला ने चवदह

गमन-पूर्वक भरत व ब्राह्मी को जन्म दिया और सुनन्दा ने बाहुबली व सुन्दरी को। इसके बाद क्रमशः सुमङ्गला के अठानवे[1] पुत्र और हुए।

राज्य-व्यवस्था का प्रारम्भ

प्राचीन मर्यादाएं छिन्न-भिन्न होती जा रही थीं। तीनों ही दण्ड-व्यवस्थाओं की उपेक्षा होने लगी; अतः किसी भी प्रकार का नया विधान आवश्यक हो गया था। कल्पवृक्षों से प्रकृति-सिद्ध जो ईप्सित मिलता था, वह अपर्याप्त होने लगा। तृष्णा बढ़ने लगी, आवेश उभरने लगा, अहं जागृत होने लगा और द्वेष फुफकार मारने लगा। शान्ति भंग होने लगी। जिन युगलों ने अपने जीवन में कभी लड़ाई, झगड़ा या वैमनस्य नहीं देखा था; उन्हें यह बहुत ही बुरा लगा। वे इन स्थितियों से घबरा गये। एक दिन वे ऋषभदेव के पास पहुंचे और सारी स्थिति उनसे निवेदित की। ऋषभदेव ने कहा—जो लोग मर्यादाओं का अतिक्रमण करते हैं, उन्हें दण्ड मिलना चाहिए। पहले भी ऐसा हुआ था और उसके प्रतिकार स्वरूप ही तीन प्रकार की दण्ड-व्यवस्थाओं का प्रचलन हुआ था। अपराध अधिक बढ़ने लगे हैं, अतः उनके शमन व मर्यादाओं की रक्षा के निमित्त अन्य दण्ड-व्यवस्था का भी आविर्भाव होना चाहिए। यह सब कुछ तो राजा ही कर सकता है।

युगलों ने पूछा—राजा कौन होता है और उसके कार्य क्या होते हैं?

ऋषभदेव ने कहा—विशिष्ट बुद्धि तथा शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति राजा होता है। उसके पास आततायियों को दण्ड देने के लिए चार प्रकार की सेना होती है। उच्च सिंहासन पर बैठा कर सर्वप्रथम उसका अभिषेक किया जाता है। वह अपने बुद्धि-कौशल से अन्याय का परिहार और न्याय का प्रवर्तन करता है। शक्ति के सारे स्रोत उसमें केन्द्रित होते हैं; अतः वहां कोई मनमानी नहीं कर सकता।

हमारे में तो आप ही सर्वाधिक बुद्धिशाली व समर्थ हैं, अतः आप ही हमारे राजा बनें। आपको अब हमारी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए; युगलों ने कहा।

यह मांग आप कुलकर श्री नाभि के समक्ष प्रस्तुत करें। वे आपको राजा देंगे; श्री ऋषभदेव ने युगलों से कहा। युगल मिल-जुलकर श्री नाभि के पास पहुंचे और आत्म-निवेदन किया। नाभि ने ऋषभदेव को उनका राजा घोषित किया। युगलों ने उसे सहर्ष स्वीकार किया और ऋषभदेव के सम्मुख आकर कहने लगे—नाभि कुलकर ने आपको ही हमारा राजा बनाया है।

---

१. पुत्रों के नाम देखें, परिशिष्ट, संख्या—२

युगलों ने प्रपूर्व समारोह के साथ ऋषभदेव का राज्याभिषेक किया। ऋषभदेव राजा बने और शेष जनता प्रजा। उन्होंने अपने पुत्र की तरह प्रजा का पालन प्रारम्भ किया। राजा बनने के बाद ऋषभदेव पर व्यवस्था-संचालन का विधिवत् दायित्व आ गया। सारी प्राचीन परम्पराएं जर्जरित हो चुकी थीं। आवास, भूख, शीत, ताप आदि की समस्याएं सताने लगी थीं। अराजकता बढ़ रही थी। जनता प्रतिभद्र थी। वह किसी भी प्रकार का कर्म नहीं जानती थी। ऋषभदेव के सम्मुख यह जटिल पहेली थी, पर उन्होंने अपने ज्ञान-बल से उन सबका समाधान प्रस्तुत किया। आवास-समस्या के समाधान हेतु उस समय नगर व ग्राम बसाये गए। पहले-पहल अयोध्या का निर्माण हुआ और उसके अनन्तर अन्य नगरों व ग्रामों का। सज्जनों की सुरक्षा और दुर्जनों के दमन के निमित्त उन्होंने अपने मंत्री-मंडल का निर्माण किया। चोरी, लूट-खसोट व दूसरों के अधिकारों का अपहरण न हो, इसके लिए प्रारक्षक वर्ग की स्थापना की। राज्य-शक्ति को कोई चुनौती न दे सके, इसके लिए गज, अश्व, रथ व पादातिक, चार प्रकार की सेना एकत्रित की और सेनापति की नियुक्ति भी की। गौ, बलीवर्द, महिष, महिषी, खच्चर, ऊंट आदि पशुओं को भी उपयोगी समझ कर एकत्रित किया गया।

खाद्य-समस्या

इस समय तक युगलों का भोजन कल्पवृक्षों के अभाव में कन्द, मूल, फल, पत्र, पुष्प आदि हो गया था। तृण की तरह स्वयं उगने वाले चावल, गेहूँ, चने, मूंग आदि भी उनके भोजन में सम्मिलित हो चुके थे। वनवास से गृह-वास की ओर जब जनता का क्रम चला, कन्द, मूल, फल का भोजन भी अपर्याप्त व अपक्व चावल, चने व गेहूँ का भोजन स्वास्थ्य के लिए अहितकर अनुभव होने लगा। सहज उत्पन्न अन्न को पकाना भी वे नहीं जानते थे और न पकाने के साधन भी उनके पास थे। अपक्व अन्न-ग्रहण से अजीर्ण का रोग सताने लगा। युगल ऋषभदेव के पास अपनी व्यथा लेकर पहुंचे। उन्होंने कहा—अनाज को हाथ में मलकर, उसके छिलके निकाल डालो और फिर उसे खाओ। यह व्याधि दूर हो जायेगी। लोगों ने वैसा ही किया। कुछ दिन बीते, किन्तु अपक्व होने से वह अनाज भी दुष्पाच्य रहा और वही व्याधि पुनः सताने लगी। ऋषभदेव के पास फिर वही समस्या उपस्थित हुई। उन्होंने समाधान दिया—हाथों से मलकर, पानी में भिगोकर व पत्तों के दोनों में रख कर खाओ। इससे तुम व्याधि से बच सकोगे। लोगों की ऋषभदेव पर पूरी श्रद्धा थी, अतः उन्होंने वैसा ही किया। कुछ दिन उस उपक्रम से काम चल गया, किन्तु स्थायी समाधान नहीं मिला। फिर ऋषभदेव के सम्मुख ही वे आये और

अपनी व्यथा सुनाने लगे। कुछ चिन्तन के बाद उन्होंने उत्तर दिया—पूर्व विधि से अन्न तैयार कर कुछ देर मुट्ठी में या बगल में इस तरह रखो कि उससे अन्न कुछ गर्म हो जायें। सभी ऐसा करने लगे। ऐसा करने पर भी उनका अजीर्ण नहीं मिटा, उदर-व्याधि बढ़ती गई और लोग कमजोर होते गए।

अग्नि और पात्र-निर्माण का आरम्भ

कुछ दिन बीते। एक दिन एक विशेष घटना घटी। वंश-वृक्षों के परस्पर टकराने से अग्नि प्रकट हुई। उसने भयंकर रूप धारण कर लिया। तृण, काष्ठ व अन्य वस्तुएं जलने लगी। ऐसा किसी ने कभी नहीं देखा था। लोगों ने उसे रत्न-राशि समझा और उसे लेने के लिए हाथ फैलाए। उनके हाथ जलने लगे। सारे ही भयभीत होकर अपने राजा के पास पहुंचे। ऋषभदेव बोले—अब स्निग्धरूक्ष काल आ गया है, अतः अग्नि प्रकट हुई है। एकान्त स्निग्ध समय में अग्नि पैदा नहीं होती। इतने दिन अत्यन्त स्निग्ध समय था, अतः अन्न की पाचन-क्रिया में भी दुविधा होती थी और उससे अजीर्ण होता था। अब यह समस्या नहीं रहेगी। तुम लोग सब जाओ और पूर्व विधि से तैयार किये हुए अन्न को उसमें पका कर खाओ। उसके आस-पास जो भी घास-फूस व अन्य सामग्री हो, उसे हटा दो।

सरलाशय मनुष्य दौड़े और उन्होंने पकाने के लिए अग्नि में अन्न रखा। किन्तु अन्न तो सारा ही उसमें जलकर भस्म हो गया। बेचारे दौड़े-दौड़े फिर वहीं आये और कहने लगे—स्वामिन्! वह तो बिल्कुल भूखा राक्षस है। हमने उसके समीप जितना अन्न रखा, कुक्षिभरी की तरह अकेला ही सब कुछ खा गया। हमें तो उसने कुछ भी वापस नहीं किया।

ऋषभदेव ने उत्तर दिया—इस तरह नहीं। पहले तुम पात्र बनाओ, फिर उसमें अन्न पकाओ और खाओ।

जनता ने पूछा—स्वामिन्! पात्र कैसे बनाये जायेंगे।

ऋषभदेव उस समय हाथी पर सवार थे। उन्होंने आर्द्र मृत्तिका-पिण्ड मंगवाया। हाथी के सिर पर उसे रखा, हाथ से थपथपाया और उसका पात्र बनाकर सबको दिखलाया तथा साथ में शिक्षा भी दी कि इस विधि से तरह-तरह के पात्र बनाओ। उन्हें पहले अग्नि में पकाओ और तत्पश्चात् उनमें पूर्व-विधि से निष्पन्न अन्न पकाकर खाओ। इस प्रकार पाक-विद्या के साथ-ही-साथ समाज में पहला शिल्प कुम्भकार का प्रचलित हुआ।

अन्य शिल्प

अग्नि के आविर्भाव व कुम्भकार-शिल्प के आरम्भ के अनन्तर अन्य शिल्पों

का मार्ग भी खुल गया। ग्रामों और नगरों का निर्माण तो प्रारम्भ हो ही गया था, पर मनुष्य का उसमें कोई विशेष कौशल नहीं था। उस समय का मनुष्य सरल व कलाओं से अनभिज्ञ था तथा निर्दिष्ट कार्य के अतिरिक्त विशेष कुछ कर भी नहीं सकता था। उसमें उसकी प्रतिभा की अल्पता व उपकरणों का सर्वथा अभाव; दोनों ही कारण प्रमुख थे। पात्र-निर्माण के साथ-ही-साथ गृह-निर्माण व उसके उपकरण-निर्माण का शिल्प भी ऋषभदेव ने जनता को सिखाया।

काम की अल्पता में समय की बहुलता भी होती थी। कभी-कभी श्रम करते हुए लोगों का मन उचट भी जाता था। जब परस्पर समवयस्क मिलते, मनोरंजन के लिए जी मचलने लगता। ऐसा कोई साधन भी नहीं था, अतः उसका अभाव भी खटकता रहता था। ऋषभदेव ने इन सब बातों को लक्षित कर लोगों को चित्र-शिल्प सिखलाया।

कल्पवृक्षों से भोजन की पूर्ति जब असम्भव हो गई तो उसके साथ वस्त्र-अभाव भी खलने लगा। वल्कल वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के वस्त्रों के निर्माण का लोगों को ज्ञान नहीं था, अतः जुलाहा वर्ग बनाया गया। उसे वस्त्र-निर्माण का प्रशिक्षण दिया गया और धीरे-धीरे उस अभाव को दूर किया गया।

ज्यों-ज्यों मनुष्य सामाजिक बनता गया, त्यों-त्यों उसने अपने व्यवहार, रहन-सहन व शारीरिक क्रिया-कलापों में भी परिवर्तन करना प्रारम्भ कर दिया। सिर व दाढ़ी के बढ़े हुए केश, नाखून आदि उन्हें बुरे व अमनोज्ञ लगने लगे, अतः उस व्याधि से मुक्त करने के लिए नापित-शिल्प का प्रशिक्षण दिया गया।

पांचों शिल्पों के प्रसरण के साथ-ही-साथ इनके सूक्ष्म भेद भी होने गये और इस प्रकार प्रत्येक शिल्प के बीस-बीस अवान्तर भेद हो जाने से सौ प्रकार का शिल्प समाज में प्रविष्ट हो गया। इसके साथ पनिहारे व लकड़ी बेचने का काम भी एक व्यवसाय बन गया। खेती-बाड़ी की व्यवस्थित पद्धति का व व्यापार के माध्यम से आवश्यक वस्तुओं की सुलभता के सर्वांगीण स्वरूप का प्रशिक्षण भी दिया गया।

लोगों की जब पारस्परिक समीपता अधिक बढ़ी तो एक-दूसरे के प्रभाव में किसी का दमन और किसी का आरोहण भी होने लगा। इसका व्यवस्थित विधान भी बन गया, जिसे आज की भाषा में समाज-शास्त्र कहा जा सकता है। साम, दाम, दण्ड और भेद के रूप में उसका विकास हुआ और क्रमशः वह व्यवहार का माध्यम भी बन गया।

कुछ भी नहीं आयेगा। आप कोई दूसरी विधि बताइये। ऋषभदेव ने उन्हें बैलों का मुंह बाधने का परामर्श दिया। उन्होंने वैसा ही किया। बैलों ने खाना बन्द कर दिया। वे फूले न समाये। कुछ समय बाद अनाज अलग हो गया और भूसी अलग। लोगों ने अनाज अपने कोठों में भर लिया और भूसी बैलों के आगे रख दी। बैलों ने उसे नहीं खाया। लोगों ने समझा बैल नाराज हो गए हैं। हमने इन्हें खाने से रोका था; अतः अब ये नहीं खाते हैं। पानी रखा गया तो बैलों ने पानी भी नहीं पिया। दो, चार, दस, बारह घण्टे बीत गये। फिर घबराये हुए लोग ऋषभदेव के पास पहुंचे और कहा—स्वामिन्! बैल तो नाराज हो गये हैं। वे कुछ खाते-पीते नहीं हैं। अब क्या करें? यदि उन्होंने कुछ भी खाया-पीया नहीं तो वे शीघ्र ही मर जायेंगे। ऋषभदेव ने ध्यानपूर्वक सोचकर पूछा—तुमने उनका मुंह खोला या नहीं? लोगों ने कहा—आपने हमें यह कब बताया था? ऋषभदेव बोले—जब मुंह बंधा है, वे खायेंगे भी कैसे? जल्दी जाओ और मुंह खोलो। सब ठीक हो जायेगा। लोगों ने वैसा ही किया और बैलों ने खाना-पीना आरम्भ कर दिया।

ऋषभदेव के आदेश से बारह घण्टे बैलों का मुंह बंधा रहा, खान-पान का विच्छेद हुआ; अतः उससे उनके कर्म-बन्ध हुआ और उसके परिणाम-स्वरूप साधु बनने के बाद बारह महीने तक उन्हें आहार-पानी उपलब्ध न हो सका।

अध्ययन व कला-विकास

जीवन की आवश्यकताओं को भरने के निमित्त विविध शिल्प व अग्नि का आविष्कार हुआ। अपराध न बढ़ें और जीवन सुखमय हो, इसके लिए राज्य-व्यवस्था का प्रचलन हुआ। जीवन और अधिक सरस व शिष्ट हो और व्यवहार अधिक सुगमता से चल सके, इसके लिए ऋषभदेव ने कला, लिपि व गणित के विविध अंगों का प्रशिक्षण भी दिया। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाओं[१] का व परमतत्व का ज्ञान दिया। बाहुबली को प्राणी-लक्षण का ज्ञान, ब्राह्मी को अठारह लिपियों[२] का ज्ञान व सुन्दरी को गणित का ज्ञान प्रदान किया। व्यवहार-साधन के लिए मान (माप), उन्मान (तोला, मासा आदि वजन), अवमान (गज, फुट, इंच आदि) व प्रतिमान (छटांक, सेर, मन आदि) बनाये। मणि आदि पिरोने की कला सिखाई।

व्यष्टि से समष्टि की ओर

विसंवाद—कलह उत्पन्न होने पर न्याय-प्राप्ति के लिए राज्याध्यक्ष के

१. देखें, परिशिष्ट संख्या—२

प्रकार आगे का विकास किया। वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए एक प्रकार के व्यापार की व्यवस्था की। सोना, चांदी, मोती, धातु आदि अनेक प्रकार की सुवर्णिका धातुओं, शस्त्रों की सेवा करने के प्रकार, चिकित्सा शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, ज्योतिष का विकास, दाम-धर्म आदि का प्रतिपादन, स्त्रियों की कला, शिल्प व कामकलाओं का प्रशिक्षण, लेखन आदि सब भी ऋषभदेव ने सिखलाई। जहाँ व्यक्ति-व्यवस्था शुरू हो गई और मर्यादित वर्गों व विकसित हो गई। युगल व्यवस्था से व्यक्ति परिवार की ओर प्रवृत्ति का आरम्भ था। इस समय कुल, जातियाँ व समाज भी पृथक्-पृथक् बन गए। इस प्रणाली से जहाँ मनुष्य का जीवन कुछ व्यवस्थित बना, बढ़ते हुए विकार रहे, वहाँ संघर्ष, स्वार्थ व उनमें प्रतिस्पर्धा आदि विकार बढ़ने लगे। पहले मनुष्य के समक्ष सारा प्राणी-जगत् ही अपना बन्धु था, सबके प्रति मैत्री भाव था, वहाँ मनुष्य भी यह कल्पना कर सकने लगे—यह मेरा पिता है, भाई है, पुत्र है, माता है, पत्नी है। इस प्रकार के कौटुम्बिक सम्बन्ध के अनन्तर संकीर्णता व विभिन्नता भी अंकुरित हुई।

दण्ड-व्यवस्थाओं का विकास

समाज की धुरी सुस्थिर रखने के लिए साम, दाम, दण्ड व भेद का क्रम प्रयोग होने लगा। सुख व समृद्धि के स्थायित्व के लिए दण्ड-व्यवस्था का नाना रूपों में विकास होने लगा। औषधि और दण्ड; रोग और अपराध के निरोधक होते हैं; यह उस समय की मान्यता बन गई थी। कड़ी-से-कड़ी दण्ड-नीति के आविर्भाव की अनुभूति होने लगी; क्योंकि हाकार, माकार और धिक्कार नीतियां असफल व शिथिल हो चुकी थीं। क्रमशः १. परिभाष, २. मण्डल बन्ध, ३. चारक और ४. छविच्छेद आदि दण्ड भी चले।[1]

१. परिभाष—सीमित समय के लिए नजरबन्द करना। क्रोधपूर्ण शब्दों से अपराधी को 'यहां से मत जाओ' ऐसा आदेश देना।
२. मण्डल बन्ध—नजरबन्द करना। संकेतित क्षेत्र से बाहर न जाने का आदेश देना।
३. चारक—जेल में डालना।
४. छविच्छेद—हाथ पैर आदि काटना।

ये चार दण्ड-नीतियां कब चली, इसमें थोड़ा-सा मतभेद है। कुछ विचारकों की मान्यता है कि प्रथम दो नीतियां ऋषभदेव के समय में चली और दो भरत के समय में। कुछ विद्वानों की मान्यता है, ये चारों नीतियां भरत के समय चली।

१. परिभासणा उ पढमा, मंडलबंधम्मि होइ बीया तु।
चारग छविछेदावि, भरहस्स चउव्विहा नीई॥ —स्थानांगवृत्ति, ७।३।५५७

थे, अतः वध व बन्धन आदि के रूप में उन्होंने शारीरिक दण्ड की भी व्यवस्था की।

आचार्य मलयगिरि का अभिमत है कि भरत के साम्राज्य काल में चारों ही दण्डनीतियां शासन-संचालन का अंग बन गई थीं, किन्तु परिभाष और मण्डल-बन्ध का प्रारम्भ भगवान् ऋषभदेव के समय में हो गया था तथा शेष दो दण्ड-नीतियों का प्रारम्भ उस समय हुआ, जबकि भरत को दिग्विजय में अयोध्या की ओर लौटते हुए माणवक[1] निधि की उपलब्धि हुई थी।

विभिन्न मतवादों के होते हुए भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह समय काफी नाजुक हो गया था। उस समय तक प्रचलित धिक्कार नीति अन्य दो नीतियों की तरह प्राचीन और सहज हो गई थी और सन्तुलन बिगड़ रहा था। अपराध बढ़ने लगे थे, अतएव राजतन्त्र का उदय हुआ था। उस स्थिति में किसी भी तरह की दण्ड-नीति का प्रारम्भ न हुआ हो, यह सहज ही बुद्धिगम्य नहीं होता।

दण्ड-व्यवस्थाओं की कठोरताओं से स्थितियां सुलझीं और अन्य पद्धतियों से जीवन सुचारु रूप से चलने लगा।

विवाह-सम्बन्ध में नई परम्परा

यौगलिक परम्परा में भाई-बहिन ही पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाया करते थे। ऋषभदेव का सुनन्दा के साथ पाणिग्रहण होने से यह परम्परा टूटी। इस नई परम्परा को सुदृढ़ रूप देने के लिये उन्होंने भरत का विवाह बाहुबली की बहिन सुन्दरी के साथ और भरत की बहिन ब्राह्मी का विवाह बाहुबली के साथ विधिपूर्वक किया। इन विवाहों का अनुसरण कर जनता ने भिन्न गोत्र में उत्पन्न कन्या का उसके माता-पिता द्वारा दारा दान होने पर ही ग्रहण करना, यह नई परम्परा चल पड़ी[2]; ऐसा उपाध्याय विनय

---

१. सेसा उ दण्डनीति, माणवगनिहीउ होइ भरहस्स।
—आवश्यक, मलयगिरि, प्रथम खण्ड
—अभिधान राजेन्द्र, भा० ३, पृ० ५६५-५६६

२. युग्मिधर्मनिषेधाय भरताय ददौ प्रभुः।
सोदर्यां बाहुबलिनः सुन्दरीं गुणसुन्दरीम्॥
भरतस्य च सोदर्यां ददौ ब्राह्मीं जगत्प्रभुः।
नृपाय बाहुबलिने तदादिजनताप्यथ॥

विजयजी का अभिमत है। आचार्यश्री भिक्षु[1] का अभिमत है कि ब्राह्मी और सुन्दरी आजीवन ब्रह्मचारिणी रहीं। जब तक भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, वे गृहस्थावस्था में रहीं और तदनन्तर साध्वी बनीं।

उत्तराधिकार-विधि व सम्पत्ति-विभाजन

ऋषभदेव ने एक दिन भरत व बाहुबली आदि सभी पुत्रों को अपने समीप बुलाया। मन्त्रि-मंडल के सदस्यों, प्रतिनिधि सभा के सदस्यों, सेनापति व अन्य उच्चाधिकारियों को एकत्रित किया। अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहा—मैं अब इस राज-भार से उपरत होना चाहता हूं। सभी प्रकार की व्यवस्थाओं का प्रवर्तन हो चुका है। धर्म चक्र प्रवर्तन अवशिष्ट है। सामाजिक सन्तुलन को सुस्थिर रखने, जीवन को सुखी व समृद्धिशाली बनाने के लिए नाना नये प्रयोग, नई व्यवस्थाएं व नये मानदण्ड स्थापित हो चुके हैं। उनमें मेरी एकमात्र सामाजिक बुद्धि थी। अब मैं चाहता हूं, जीवन का दूसरा पक्ष जो अतीन्द्रियता है, उसका भी प्रवर्तन किया जाये। उससे मेरा और संसार का, दोनों का भला होगा। यदि ऐसा न हुआ तो जीवन एकांगी रह जायेगा और उससे मनुष्य बाह्य संसार में भटक जायेगा। मैंने आज से यह निर्णय किया है कि मैं अब निर्ग्रन्थ बनूं और राज्यतन्त्र के सारे भार को ज्येष्ठ पुत्र भरत वहन करे। इसका अनुशासन सारी जनता शिरोधार्य करे और यह जनता को अपने पुत्र व पुत्री की तरह समझे।

भरत के ऐसा न चाहते हुए भी, उसे पिता के इस आदेश को शिरोधार्य करना पड़ा। अयोध्या का राज्य भरत को सौंपा गया और बहली प्रदेश का बाहुबली को। इसी तरह अन्य अट्ठानवें पुत्रों को भी यथायोग्य राज्य सौंपे गये व अन्य सम्पत्ति का बंटवारा भी किया गया। इसी पद्धति का अवलम्बन प्रत्येक कुल में होने लगा और आगे चलकर भाई-भाई माता-पिता के रहते हुए भी एक दूसरे से अलग होने लगे।

प्रव्रज्या-ग्रहण

राज्य व सम्पत्ति के बंटवारे के पश्चात् भरत का राज्याभिषेक हुआ। ऋषभदेव पूर्णतः अलग हो गये और निर्ग्रन्थ बनने के लिए तैयार होने लगे।

भिन्नगोत्रादिका कन्या दत्ता पित्रादिभिर्मुदा।
विधिनोपायत प्रायः प्रावर्तत तथा ततः॥

—श्रीकालोकप्रकाश, सर्ग ३२, श्लोक ४७-४६

1. भिक्षुग्रन्थरत्नाकर, खण्ड २, रत्न १७, भरत चरित, ढाल १६-१७

उन्होंने एक वर्ष तक दान दिया। चैत्र कृष्णा अष्टमी के चतुर्थ प्रहर व उत्तराषाढा नक्षत्र में दो दिन के उपवास में प्रव्रजित हुए। उन्होंने चारमुष्टि[1] लुंचन किया। कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार राजा व राजकुमारों ने भी अनुगमन करते हुए प्रव्रज्या ग्रहण की।

दीक्षित होते ही उन्होंने अत्यधिक कठिन आचार का अनुष्ठान आरम्भ किया। उसके अनुसार वे प्रतिज्ञाबद्ध हुए कि जब तक चार घनघाती कर्मों का विच्छेद कर केवलज्ञान प्राप्त न कर लूंगा, तब तक किसी को उपदेश नहीं दूंगा। मौन रहूंगा। केवल स्थान की अनुमति ग्रहण करने के निमित्त, आहार-पानी की गवेषणा के निमित्त या मार्ग-पृच्छा के निमित्त वचन-प्रयोग करूंगा। अपने बारे में पूछे जाने पर केवल इतना ही कहूंगा कि मैं श्रमण हूं। रोग उत्पन्न होने पर किसी प्रकार का उपचार नहीं करूंगा। मनुष्य, तिर्यंच या देव-सम्बन्धी अनुकूल व प्रतिकूल उपसर्गों में पूर्णतः सहिष्णुता रखूंगा। भूख, प्यास, शीत, ताप, दंश-मशक, रति-अरति आदि परीषहों से भीत होकर देह-रक्षा के निमित्त किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करूंगा। देहधारी होते हुए भी सदा त्यक्त देह होकर विहरण करूंगा।

दान की अनभिज्ञता

ऋषभदेव परिवार, समाज व देश की भूमिका से सर्वथा ऊपर उठ गये। उन्होंने ही व्यष्टि से समष्टि का आरम्भ किया था और वे ही उससे पृथक् होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के मार्ग पर अग्रसर हो गये। उनका कोई परिवार नहीं रहा, किसी के प्रति ममत्व नहीं रहा। वे अपने अहं का भी विसर्जन कर श्रेय के विस्तीर्ण पथ के पथिक बन गये। उन्होंने अयोध्या से प्रस्थान कर दिया। माता का उनके प्रति प्रगाढ स्नेह था। भरत व बाहुबली आदि की असीम पितृ-भक्ति थी। सभी के नेत्र भक्ति-अश्रुओं से छलछलाये हुए थे। उन्होंने किसी की ओर न देखा और न कुछ सुना। वे निस्पृह व निर्मोह भाव से ग्रामानुग्राम विहरण करने लगे। कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार साधु शिष्य भी उनका अनुगमन करने लगे। जहां वे जाते, वे भी जाते; जो वे करते, वे भी करते। ऋषभदेव उन्हें किसी प्रकार का निर्देश, संकेत व प्रेरणा नहीं करते।

दिन व महीने बीतने लगे। ऋषभदेव अपने ध्यान, स्वाध्याय व कायोत्सर्ग में लीन रहते। तपश्चरण करते। तपस्या में अत्यधिक लीनता के कारण वे बाबा के नाम से भी विश्रुत होगये। कभी-कभी गोचरी (भिक्षा) के लिए भी जाते। किन्तु दान देना कोई नहीं जानते थे। अपने घर ऋषभदेव को पधारे

---

१. चउ मुट्ठीहि लोयं करेइ।

—जम्बूदीवपण्णत्ति, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालाधिकार

देखकर लोग फूले नहीं समाते थे। उन्हें वे अपने भाग्य-विधाता राजा के रूप में ही देखते। उनका शब्दों से स्वागत करते व नाना प्रकार की वस्तुएं भेंट करना चाहते। कोई पवनगति अश्व भेंट करता, कोई सुरूपा कन्या भेंट करता, कोई आभूषण, विभिन्न रंगो के वस्त्र, फूलमालाएं, स्वर्ण, बहुमूल्य रत्न अर्पित करना; पर भोजन व पानी नगण्य वस्तु होने से उसके दान की स्मृति किसी को भी नहीं होती। सारे ही अपने घर मे रही हुई बहुमूल्य व सुन्दर वस्तु उपहृत करना चाहते। भोजन व पानी तो उनके सामने कुछ भी महत्त्व नही रखता था। किन्तु बाबा उनमें से कुछ भी स्वीकार नहीं करते। वे एक घर से दूसरे घर व इसी क्रम से सर्वत्र घूमते। घर पर आकर जब वे खाली हाथों ही लौट जाते, घर वालों को बहुत खटकता, किन्तु अनुनय के अतिरिक्त वे क्या कर सकते थे। बाबा अदीनमना रहते। वे किसी से कुछ भी न बोलते। बहुत बार लोग उन्हें अपनी इच्छा के बारे में पूछते, पर दृढ़प्रतिज्ञ बाबा अपनी मर्यादा मे लेशमात्र भी विचलित नहीं होते।

नाना तापसों व मतवादों की उत्पत्ति

जन-समुदाय आहार-दान विधि से अनभिज्ञ था और बाबा याचनापूर्वक कुछ भी न लेने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे। अनशन मे ही समय बीतने लगा। चार हजार साथी शिष्य भूख-प्यास से घबरा गये। यद्यपि वे भी बाबा के पीछे-पीछे ही घूमते। जैसे बाबा करते उसी तरह करने का प्रयत्न करते, किन्तु उनकी तरह वे बुभुक्षा-विजेता नहीं बने। संयम का विवेक उनमे था नहीं। वे तो उन्हें अपना स्वामी समझकर 'गतानुगतिको लोक.' के अनुसार प्रवृत्त हुए थे। परस्पर सोचने लगे—बाबा तो कड़वे फलों की तरह मधुर फलो को भी नही खाते। खारे पानी की तरह मीठा पानी भी नहीं पीते। शरीर के लिए बिलकुल लापरवाह है। न स्नान करते है, न विलेपन करते हैं और न वस्त्र, अलंकार या फूल ही धारण करते है। रात को न नींद लेते हैं और न बैठते ही है। हम उनके अनुचर बने है, फिर भी न हमें कुछ आदेश करते है, न इंगित करते है और न कभी कुछ पूछते है। ऐसा लगता है, जैसे कि हम इनके अपराधी हों।

एक दिन कुछ मुनि एकत्रित होकर कच्छ, महाकच्छ जो बड़े मुनि थे; उनके पास आये। सवेदना भरी वाणी मे कहने लगे—ये बाबा तो भूख-प्यास के विजेता है, पर हम तो अन्नकीट व मेढक है। बाबा शीत-ताप से नहीं घबराते। ऐसा लगता है, जैसे कि इन्होंने तो शरीर को ही पूर्णत वातानुकूलित बना लिया हो। किन्तु हम तो बन्दर की तरह शीत मे कांपने वाले है। बाबा रात मे एक क्षण भी नींद नहीं लेते, पर हम तो निद्रालु अजगर है। समुद्र को अपने सामर्थ्य से उड़कर पार करने वाले गरुड़ पक्षी का जैसे कोई कौआ

अनुसरण कर लेता है, हमने भी वैसे ही बाबा के पीछे उन्हीं का अनुसरण कर लिया है। भगवान् के दीक्षित होने पर जो हमने और अनुसरण धारण किया था, वह हमारे लिए अब जीवन-मरण का प्रश्न बन गया है। हम तो इस दुर्वह पथ का अनुसरण नहीं कर सकते। हम जानना यह चाहते हैं कि क्या अब हम अपने राज्य में पुनः चले जाना चाहिए? हमारे राज्य भी अब भरत के अधीन हैं। क्या हमें भरत का आश्रय ले लेना चाहिए? बाबा को पूछने पर भी कोई उत्तर नहीं देते। उनका भी पता नहीं लगता है। आप बाबा के अति निकट रहने वाले हैं, अतः उनकी इच्छा और अभिप्राय अच्छी तरह समझते हैं।

कच्छ, महाकच्छ ने उत्तर दिया—बाबा की गहराई तो समुद्र के समान अगम्य है। पहले तो वे बोलते थे, बातचीत करते थे, आदेश-उपदेश भी देते थे; अतः उन्हें समझा जा सकता था, किन्तु आजकल तो वे पूर्णतः मौन हैं। उन्हें समझ पाना हमारे लिए भी उतना ही दुःसाध्य है, जितना कि आप सब के लिए। आप लोगों के समान ही हम भी कठिनाई अनुभव कर रहे हैं। सब की समान ही दशा है, अब जैसा सभी चाहें हम भी वैसा ही करने को प्रस्तुत हैं।

सब की ही सम्मिलित एक सभा हुई और उसमें यह निर्णय किया गया कि अब पुनः राज्य में नहीं जाना चाहिए। गंगा नदी के समीपवर्ती जंगलों में ही हम सब को रहना चाहिए। वहां किसी के लिए भी कोई दुविधा नहीं होगी। इस सर्वसम्मत निर्णय के आधार पर सभी एक ही दिशा में चले। न कोई किसी के अधीन और न कोई किसी का अधिनेता। स्वेच्छया जंगलों में घूमते, कन्द, मूल व फल खाते और गंगा का मीठा पानी पीते। किसी ने जटा रखनी आरम्भ कर दी तो किसी ने रुण्ड रखना भी। कोई एकदण्डी कहलाया तो कोई त्रिदण्डी। कोई कन्दाहारी बना, कोई मूलाहारी तो कोई फलाहारी। इस तरह नाना तापस[1] और नाना वेश बन गये[2] और उनके आधार पर उनके पृथक्-पृथक् विचार बने जो आगे चलकर आग्रह का रूप धारण कर लेने पर विनयवाद, अज्ञानवाद, क्रियावाद व अक्रियावाद आदि तीनसौत्रेसठ[3] दर्शनों व दर्शनाभासों के रूप में प्रसिद्ध हुए।

प्रारम्भ में ये सन्यासी वल्कल का वस्त्र धारण करने से चलते-फिरते वृक्ष जैसे लगते थे। वे गृहस्थों के यहां निष्पन्न आहार को वमित आहार के समान समझते थे और उसे ग्रहण नहीं करते थे। तपस्या में रत रहते थे। कभी

---

१. देखें, परिशिष्ट संख्या—२
२. विस्तार के लिए देखें—पद्मानन्दमहाकाव्यम्, सर्ग १३, श्लोक ११ से ४१
३. देखें, परिशिष्ट संख्या—२

तुर्थ भक्त (एक दिन का उपवास) करते तो कभी षष्ठ भक्त (दो दिन का उपवास) करते। पारणे में भी वृक्षों से स्वतः गिरे हुए पत्तों या फलों का ही आहार करते तथा भगवान् ऋषभदेव का ध्यान करते थे।

त्रिदण्डी तापस

नाना मतवादों को मानने वाले तापसों की उत्पत्ति व विहरण की उपरोक्त आदि घटना बनी। एक परम्परा[१] के अनुसार जब भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान पैदा हुआ, कच्छ और महाकच्छ को छोड़कर अन्य सारे शुद्ध होकर पुनः प्रव्रजित हो गए। मरीचि से त्रिदण्डी तापसों का आरम्भ हुआ और वे धीरे-धीरे नाना मतवादों में विभक्त होकर क्रमशः तीनसौत्रेसठ की संख्या तक पहुँच गए।

मरीचि भरत का पुत्र था। सुर-असुरों द्वारा की गई भगवान् ऋषभदेव के केवलज्ञान की महिमा को देखकर वह भी अपने पाँचसौ भाइयों के साथ निर्ग्रन्थ बना था। वह ग्यारह ही अंगों का ज्ञाता था और प्रतिदिन भगवान् ऋषभदेव के साथ उनकी छाया की तरह विहरण करता था। एक बार भयंकर गर्मी से वह परिक्लान्त हो गया। सारा शरीर पसीने में तर-बतर हो गया। पसीने व मलिन वस्त्रों के कारण उसके शरीर में दुर्गन्ध उछलने लगी। प्यास के मारे प्राण निकलने लगे। गर्मी व तत्सम्बन्धी अन्य परीषहों में वह इतना पराभूत हुआ कि श्रामण्य की सामान्य पर्याय से भी नीचे खिसक गया तथा अन्य नाना संकल्प-विकल्पों का शिकार बन गया। उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ : "प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का मैं पौत्र हूँ। अखण्ड छः खण्ड के विजेता प्रथम चक्रवर्ती का मैं पुत्र हूँ। चतुर्विध तीर्थ के समक्ष वैराग्य के साथ मैंने प्रव्रज्या ग्रहण की है। संयम को छोड़कर घर चले जाना मेरे लिए लज्जास्पद है, किन्तु चरित्र के इतने बड़े भार को अपने इन दुर्बल कन्धों पर उठाये रखने में भी मैं सक्षम नहीं हूँ। महाव्रतों का पालन अशक्य अनुष्ठान है और इन्हें छोड़कर घर चले जाने में मेरा उत्तम कुल मलिन होगा। 'इतो व्याघ्रः इतस्तटी' एक ओर व्याघ्र है और दूसरी ओर गहरी नदी। किन्तु जिस प्रकार पर्वत पर चढ़ने के लिए सकरी पगडण्डी होती है, उसी प्रकार इस कठिन मार्ग के पास एक सुगम मार्ग भी है।"

अपने ही विचारों में खोया हुआ मरीचि आगे और सोचने लगा—भगवान् ऋषभदेव के साधु मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड को जीतने वाले हैं और मैं इनसे जीता गया हूँ ; अतः त्रिदण्डी बनूंगा। इन्द्रिय-विजयी ये श्रमण केशों

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ६

का लुंचन कर मुण्डित होकर विचरते हैं। मैं मुण्डन कराऊंगा और शि
रखूंगा। वे सूक्ष्म व स्थूल दोनों प्रकार के प्राणियों के वध से विरक्त
और मैं केवल स्थूल प्राणियों के वध से ही उपरत रहूंगा। मैं अकिञ्चन
नहीं रहूंगा और मुद्रा का प्रयोग भी करूंगा। चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्
का विलेपन करूंगा। मस्तक पर छत्र धारण करूंगा। कषाय-रहित होने से
मुनि श्वेत वस्त्र पहनते हैं और मैं कषाय-कलुष से युक्त हूं; अतः इस
स्मृति में काषायिक वस्त्र पहनूंगा। वे सचित्त जल के परित्यागी हैं, पर
मैं परिमित जल से स्नान भी करूंगा तथा पीऊंगा भी।

अपनी बुद्धि से वेश की इस तरह परिकल्पना कर तथा उसे धारण कर
वह भगवान् ऋषभदेव के साथ ही विहरण करने लगा। जैसे खच्चर गधा या
घोड़ा नहीं कहलाता, किन्तु दोनों के मेल से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार
मरीचि भी न मुनि था और न गृहस्थ। दोनों के मध्य वाला वह एक नया
वेशधारी ही बन गया। साधुओं की टोली में उस विचित्र साधु को देखकर
कौतूहलवश बहुत सारे व्यक्ति उससे धर्म पूछते। उत्तर में वह मूल तथा उत्तर
गुण-सम्पन्न साधु-धर्म का ही उपदेश करता। जब उसे जनता यह पूछती कि तुम
उसके अनुसार आचरण क्यों नहीं करते तो वह अपनी असमर्थता स्वीकार करता।
उसके उपदेश से प्रेरित होकर यदि कोई भव्य दीक्षित होना चाहता तो वह उसे
भगवान् के समवसरण में भेज देता और भगवान् उसे दीक्षा-प्रदान कर देते।

सांख्य दर्शन का आविर्भाव

भगवान् ऋषभदेव की सेवा में विहरण करते हुए मरीचि का काफी समय
बीत चुका। एक बार वह रोगाक्रान्त हुआ। परिचर्या के अभाव में वह अत्यन्त
पीड़ित हुआ। उसकी परिचर्या करने वाला कोई व्यक्ति नहीं था, अतः वेदना
से पराभूत होकर उसने अपने साथियों को बढ़ाने का सोचा। संयोग की बात
थी, एक बार भगवान् ऋषभदेव देशना (प्रवचन) दे रहे थे। कपिल नामक
एक राजकुमार भी परिषद् में उपस्थित था। उसे वह रुचिकर प्रतीत नहीं
हुआ। उसने इधर-उधर अन्य साधुओं की ओर भी दृष्टि दौड़ाई। सभी साधुओं
के बीच विचित्र वेश वाले उस त्रिदण्डी मरीचि को भी उसने देखा। वह वहां
से उठकर उसके पास आया। धर्म का मार्ग पूछा तो मरीचि ने स्पष्ट उत्तर
दिया : "मेरे पास धर्म नहीं है। यदि तू धर्म चाहता है तो प्रभु का ही शरण
ग्रहण कर।" वह पुन: भगवान् ऋषभदेव के पास आया और धर्म-श्रवण करने
लगा। किन्तु अपने दूषित विचारों से प्रेरित होकर वह वहां से पुनः उठा
और मरीचि के पास आकर बोला—क्या तुम्हारे पास जैसा-तैसा भी धर्म नहीं
है? यदि नहीं है तो फिर यह संन्यास का चोगा कैसे?

'[illegible] में [illegible] भी [illegible] ऐसा ही मालूम होता है। [illegible] में गहरा [illegible] हुआ है। [illegible] का यह [illegible] हो।'' इन [illegible] निकट कपिल के उत्कृष्ट प्रश्नोत्तर करते हुए कहा — 'वहाँ भी धर्म है और यहाँ भी।' इस मिथ्यात्वपूर्ण सम्भाषण से उसने उत्कट संसार बढ़ाया। [illegible] कपिल को उसने अपना शिष्य बनाया और उसे पच्चीस तत्त्वों का उपदेश देकर प्रकृत मत की स्थापना की। आगे चलकर कपिल का शिष्य आसुरी व आसुरी का शिष्य सांख्य बना। कपिल व सांख्य ने मरीचि द्वारा [illegible] उन पच्चीस तत्त्वों की विशेष व्याख्या की जो एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप में प्रसिद्ध हुआ। कपिल और सांख्य उस दर्शन के विशिष्ट व्याख्याकार हुए हैं, इस कारण वह दर्शन भी कापिल दर्शन या सांख्य दर्शन के नाम से विश्रुत हुआ। मरीचि तो केवल प्रस्तावक के रूप में ही रहा।

जिनसेनाचार्य का अभिमत है कि जब भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षा-ग्रहण की थी तब उनके पारिवारिक मरीचि ने कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार राजा व राजकुमारों के साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली थी और जब वे सारे साधना से भ्रष्ट हुए, वह भी भ्रष्ट हो गया और असत् प्ररूपणा करने लगा[1]। भगवान् ऋषभदेव को जब केवलज्ञान प्राप्त हुआ, तब मरीचि को छोड़कर कच्छ, महाकच्छ आदि अन्य सभी ने पुनः दीक्षा ग्रहण कर ली[2]।

नमि व विनमि द्वारा राज्य-याचना

नमि व विनमि कच्छ व महाकच्छ के पुत्र थे और ऋषभदेव को इतने प्रिय थे कि वे इन्हें दत्तक पुत्र की तरह समझते थे। जब ऋषभदेव के साथ कच्छ व महाकच्छ ने दीक्षा-ग्रहण की थी, ये कहीं अन्यत्र गये हुए थे। वहां से लौटते हुए उन दोनों ने अपने-अपने पिता को गंगा नदी के समीपवर्ती वन में सन्यासी के वेश में घूमते हुए देखा। उन्हें उन दोनों की वह स्थिति देख कर बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा, यह क्यों हुआ और कैसे हुआ? एक दिन था, जबकि इनके शरीर पर महीन वस्त्र रहते थे और आज वल्कल के वस्त्र है। एक दिन था, जबकि इनके शरीर पर विभिन्न सुगन्धित तैलों का मर्दन व नाना उत्तम द्रव्यों

---

१. मरीचिश्च गुरोर्नप्ता परिव्राड्भूयमास्थितः।
मिथ्यात्ववृद्धिमकरोद् अपसिद्धान्तभाषितैः॥
—आदिपुराण, पर्व १८, श्लोक ६१

२. मरीचिवर्ज्याः सर्वेऽपि तापसास्तपसि स्थिताः।
भट्टारकान्ते सम्बुद्ध्य महाप्राव्राज्यमास्थिताः॥
—आदिपुराण, पर्व २४, श्लोक १८२

का विभाजन होता था और राज्य के भूप बन गये हैं। एक दिन था, जबकि इनके केवल पुत्रों से परिचित रहते थे और आज पर-सामन्तों की तरह जुड़ा बन्धन है। एक दिन वे हाथियों पर सवारी करते थे और आज स्वयं सारथी हैं। वे इस तरह विचारों में डूबे-डूबे चलते-चलते पिता के पास गये और आश्चर्य के साथ अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की।

कच्छ व महाकच्छ ने दोनों पुत्रों को भरत के राज्य-ग्रहण व बाबा के प्रव्रजित होने और उनके साथ स्वयं के प्रव्रजित होने की सारी घटना सुनाई। बाबा के अद्भुत धैर्य और साहस की बातें भी सुनाईं। अपने विषय में सुनाते हुए उन्होंने कहा—भूख-प्यास, शीत-ताप आदि कष्टों से हम तो घबरा गये। हमारे से यह दुष्कर साधना न हो सकी। फिर भी पुनः गृहस्थ बनना हमें स्वीकार नहीं था, अतः हम इस तपोवन में रहने लगे।

नमि व विनमि बोल पड़े—बाबा ने जब सबको समान रूप से राज्य का वितरण कर अधिकार दे दिया तो केवल हमें ही कोरा क्यों छोड़ा गया? हम अभी जाते हैं और उनसे राज्य का प्रसाद प्राप्त करते हैं। वे दोनों, जहां बाबा ध्यानस्थ खड़े कायोत्सर्ग कर रहे थे, आये। दोनों ने ही उनकी निःसंग व सौम्य आकृति को देखा। वे बोल पड़े—"वाह! बाबा तुमने खूब किया। हम दोनों को तो कहीं दूर भेज दिया और पीछे से भरत आदि को सारा राज्य बांट दिया। हमारे लिए भी तो कुछ व्यवस्था कर आये हैं या नहीं? लगता है, गौ के खुर के बराबर भी भूमि हमें नहीं दी गई। दी भी कैसे जाती? हम कोई तुम्हारे जन्मजात पुत्र थोड़े ही थे। इतर पुत्रों के साथ तो ऐसा ही व्यवहार हुआ करता है। हम तो उधर से (पिता की सम्पत्ति से) भी गये और इधर से (आपकी सम्पत्ति से) भी गये। बताइये, अब हमारे जीवन का क्या आधार होगा? किन्तु चिन्ता की कोई बात नहीं, बाबा! अब भी कृपा कर दो और बचा-खुचा जो कुछ भी हो, हमें दे दो। हम तो उसे भी आपका प्रसाद समझ कर स्वीकार कर लेंगे।"

बाबा नहीं बोले। उन्होंने अपना ध्यान नहीं तोड़ा। किन्तु नमि व विनमि दोनों ही वहां आसन लगा कर बैठ गये। सोचने लगे, हमारी भक्ति से बाबा अवश्य प्रसन्न होंगे। हमारा कर्तव्य तो इनकी सेवा बजाना है। जब समय आयेगा, परिपाक होगा और फल मिलेगा। जहां बाबा खड़े ध्यान कर रहे थे, वहां धूलि न उड़े, इसलिए वे कमल-पत्तों के दोनों में सरोवर का पानी लाते और वहां छिड़कते। प्रातःकाल सुगन्धित पुष्प लाते और बाबा के चरणों में उपहृत करते। हाथ में तलवार लेकर बाबा के दोनों ओर दोनों खड़े रहते। प्रातः, मध्याह्न, सायं व रात को प्रणाम कर अपनी भावना को उच्च स्वर से बोलकर दुहराते।

नमाज का आरम्भ

कुछ विद्वानों का ऐसा अभिमत है कि नमाज के आरम्भ की यही आदि घटना बनी है। उनका कहना है कि इस्लाम धर्म के अनुसार सृष्टि की आदि में एक ही मनुष्य जाति थी और उसे सन्मार्ग पर चलाने के लिए बाबा आदम ने धर्मोपदेश दिया। यह आदम नबी का बेटा रसूल ही था, जिसको खुदा ने अपना उपदेश जनता तक पहुंचाने के लिए पैदा किया था। नबी नाभि का तथा रसूल ऋषभ का अपभ्रंश है। सामाजिक, न्यायिक व धार्मिक नाना परम्पराओं के प्रवर्तक होने के कारण भगवान् ऋषभदेव को आदिनाथ या आदम बाबा भी कहा जाता है। उक्त अभिमत की पुष्टि मेराजुलनवूत नामक मुसलमानी पुस्तक से भी हो जाती है, जिसमें स्पष्ट लिखा है कि "बाबा आदम हिन्दुस्तान में पैदा हुए थे।" भारतवर्ष में आदम बाबा के नाम से भगवान् ऋषभदेव विशेषत: विश्रुत है, अत विद्वानों की कल्पना भी सहज ही इस निश्चय तक पहुंच जाती है। नमि व विनमि द्वारा प्रणाम करने का समय तथा याचना दुहराने का साष्टांग प्रकार भी लगभग वही था, जो आजकल नमाज पढ़ने वालों का है। नाम-साम्य तथा प्रकार-साम्य कल्पना को निश्चय के कगार तक पहुंचाने के लिए विवश कर देते है।

एक दिन नागकुमारों का अधिपति धरणेन्द्र भी बाबा को नमस्कार करने आया। उसने सरलाशय दोनों ही कुमारों को वहां याचना करते हुए देखा। धरणेन्द्र द्वारा अपना परिचय व उद्देश्य पूछे जाने पर उन्होंने अपनी सारी घटना बताई। धरणेन्द्र ने कहा—जब बाबा ने बारह महीने तक यथेच्छित दान दिया था, तब तुम कहां चले गये थे? अब तो बाबा नि.संग, निष्परिग्रही व हर्ष-शोक-विप्रमुक्त हो गये है। न तो इनका कोई परिवार रहा है और न इनके पास भौतिक परिग्रह भी। ये आत्मस्थ हो गये है, अत: तपश्चरण, कायोत्सर्ग व अध्यात्म-चिन्तन ही इनका मुख्य विषय बन गया है।

नमि व विनमि ने कहा—ये हमारे स्वामी है और हम इनके सेवक है। हम तो इनकी सेवा करते रहेंगे व अपनी माग दुहराते रहेंगे। सेवक को कभी यह चिन्ता नहीं होनी चाहिए कि स्वामी के पास कुछ है या नहीं?

धरणेन्द्र ने कहा—अब तो भरत के पास जाओ। वह अवश्य तुम्हें राज्य देगा, सत्कृत करेगा और भावी जीवन का कुछ प्रबन्ध करेगा। वह भी बाबा का पुत्र होने से बाबा के समान ही पूज्य हो जाता है।

नमि व विनमि ने इस चर्चा को समाप्त करने के अभिप्राय से कहा—बाबा का शरण छोड़कर भरत के समक्ष जाना वैसा ही है, जैसे कि कल्पवृक्ष को छोड़कर करील की छाया में जाना। बाबा हमें कुछ देंगे या नहीं, इसकी

हिस्सा प्राप्त छोड़ दीजिए। हमारी भक्ति में यदि आकर्षण होगा तो बाबा भी पसीजेंगे और हमें वरदान देंगे।

धरणेन्द्र दोनों की सेवा-भावना से बहुत प्रभावित हुआ। बोला—बाबा का आशीर्वाद तो कोई विरला भाग्यवान् ही प्राप्त कर सकता है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि तुम्हारी भक्ति सच्ची है। मैं भी बाबा का सेवक हूं, अतः हम दोनों का निकट-सम्बन्ध हो जाता है। मैं तुम्हें विद्याधरों का ऐश्वर्य देना चाहता हूं। इसे बाबा ने ही दिया है, यही समझकर तुम स्वीकार करो। वैताढ्य पर्वत पर जाओ, वहां दोनों ओर नगर बसाओ और सुखपूर्वक राज्य करो। धरणेन्द्र ने उन दोनोंको गौरी, प्रज्ञप्ति आदि अड़तालीस हजार[1] विद्याएं भी सिखाईं, जो स्मरण मात्र से ही अभिसिद्धियां प्रदान करती थीं। नमि और विनमि ने बाबा को नमस्कार किया और पन्नगपति के साथ ही पुष्पक विमान पर सवार होकर अपने पिता कच्छ व महाकच्छ से मिलकर अयोध्या आये। भरत से मिले। पारिवारिकों को साथ लेकर वैताढ्य पर्वत की ओर चल दिये।

नमि ने धरणेन्द्र के सहयोग से बाहुकेतु, पुण्डरीक, हरिकेतु, चित्रकूट, त्रिकूट आदि पचास[2] नगर बसाये व श्रीरथनुपुर चक्रवाल को राजधानी बनाया। विनमि ने वैताढ्य के उत्तर विभाग में अर्जुनी, वारुणी, रत्नपुर आदि साठ[3] नगर बसाये और गगनवल्लभ नामक राजधानी भी। इनके अतिरिक्त दोनों ही कुमारों ने अनेक ग्राम, कस्बे व उपनगर भी बसाये। विद्याधरों के लिये नाना सामाजिक नियम भी बनाये गये। जिनमें कुछ नियम इस प्रकार हैं: १. कोई भी विद्याधर अपनी विद्या का मद कर तीर्थंकर, चरम शरीरी, प्रतिमाधर, कायोत्सर्ग में लीन मुनि का अपमान न करे तथा अपना विमान उनके ऊपर से न ले जाये। २. किसी पति-पत्नी को न मारे। ३. किसी स्त्री के साथ बलात्कार न करे। जो इन नियमों का उल्लंघन करेगा, उसके पास विद्या नहीं रहेगी[4]। विद्याओं के नाम से विद्याधरों की गौरेय, गाधार, मानव, भूमितुण्डक, मूलवीर्यक, श्वपाकक, मातंग आदि सोलह[5] जातियां भी हुईं। आठ जातियों के विद्याधर नमि

---

१. इत्युक्त्वा गौरी-प्रज्ञप्ति-प्रमुखाः पाठसिद्धिदाः।
सोऽष्टचत्वारिंशत् सहस्राणि विद्यास्तयोर्ददौ॥
—पद्मानन्दमहाकाव्यम्, सर्ग १३, श्लो० १३२

२. देखें, परिशिष्ट संख्या—२

३. देखें, परिशिष्ट संख्या—२

४. पद्मानन्द महाकाव्यम्, सर्ग १३, श्लो० १६० से १६३

५. देखें परिशिष्ट संख्या—२

के राज्य मे रहे और आठ जातियो के विद्याधर विनमि के राज्य मे। दोनो ही कुमार चतुर्विध पुरुषार्थ के द्वारा वहा सुखपूर्वक राज्य करने लगे।

प्रथम दानी

भगवान् ऋषभदेव को प्रव्रजित हुए एक वर्ष पूरा होने लगा। ध्यान, स्वाध्याय व तपश्चरण से उनका शरीर कृश हो गया। अनवरत धर्मी तप से उनके शरीर का रक्त सूखने लगा, मास-पेशिया नही के बराबर हो गई व चमडी काली पडने लगी; फिर भी शरीर-बल के समक्ष आत्म-बल ने हार नही मानी। उनकी साधना का वेग प्रतिदिन बढता ही गया। ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए वे हस्तिनापुर पधारे। बाहुबली के पौत्र व सोमप्रभ के पुत्र श्रेयान्सकुमार ने उसी पश्चिम रात मे अर्धनिद्रित अवस्था मे एक स्वप्न मे देखा कि श्यामल बने हुए स्वर्ण गिरि को मैं दूध से भरे हुए घट से अभिषिक्त कर उज्ज्वल बना रहा हूं। इसी रात मे सुबुद्धि नामक सेठ ने भी स्वप्न मे देखा कि श्रेयान्सकुमार ने सूर्य से निकली हुई सहस्र किरणों को पुनः सूर्य मे प्रतिष्ठित किया, जिससे वह अत्यधिक प्रकाशित होने लगा। सोमप्रभ राजा ने भी अपने स्वप्न मे देखा कि श्रेयान्सकुमार के सहयोग से अनेक शत्रुओ द्वारा सर्वत घिरे हुए राजा ने विजय प्राप्त की। तीनो ने ही स्वप्न-फल के सम्बन्ध से परस्पर विमर्षण किया, किन्तु किसी निर्णय पर नही पहुच सके।

श्रेयान्सकुमार अपने आवास के ऊपरी गवाक्ष में बैठा स्वप्न का चिन्तन कर रहा था। उसे इस बात की प्रसन्नता थी कि तीनो ही स्वप्नो का मुख्य आधार वह था। उसके द्वारा कोई महान् कार्य होगा; रह-रह कर ये विचार उसके मस्तिष्क मे उभर रहे थे। राजपथ की ओर अनायास ही उसकी नजर पड़ी। भगवान् ऋषभदेव का भी उसी समय उस मार्ग मे शुभागमन हुआ। श्रेयान्सकुमार ने उन्हे देखा। वह भक्ति-विभोर हो गया। उसके सुषुप्त प्राचीन सस्कार जाग उठे। नाना विकल्प उठे, ऊहापोह हुआ और उसके परिणाम स्वरूप उसे जाति-स्मरणज्ञान प्राप्त हुआ। गतजीवन की स्मृति हुई और उसने भगवान् ऋषभदेव के साथ कई गत भवो मे रहे अपने सम्बन्धो के बारे मे विशेष रूप से जाना। धार्मिक सस्कार, उपासना के प्रकार और उनके साथ-साथ साधुओं की आचार-विधि भी जानी। श्रेयान्सकुमार ने यह भी जाना, बाबा के तो वर्षी तप है। किसी प्रकार के आहार का दाता इन्हे नहीं मिला। जहां बाबा जाते है, जनता अन्य वस्तुएं ही उपहृत करती है, जोकि इनके लिए उपयोगी नहीं है। आहार जैसी वस्तु

बाबा के समीप आया और उसने प्रणाम कर भिक्षा-ग्रहण करने के लि निवेदन किया।

बाबा ने अदीनमना श्रेयान्स की प्रार्थना को स्वीकार किया और उस राजप्रासाद में पधारे। श्रेयान्स के यहां उस दिन उपहार में ईक्षुरस आया हु था। वह पूर्णतः कल्पनीय स्थिति में था; अतः श्रेयान्स ने अपने हाथों में र भृत घट लिया और बाबा ने अपनी अंजली ओष्ठ युग्म पर रखी। श्रेयान्स रस उंडेला। बाबा ने वर्षी तप का पारणा किया। श्रेयान्सकुमार पहला दा बना। वातावरण बहुत ही सुखद हो गया। आकाश अहोदानं, अहोदानं के ध्वनि से अभिगुंजित होने लगा। रत्नों, पचरंगे पुष्पों, गन्धोदक व उज्ज्व वस्त्रों की वर्षा के रूप में पांच दिव्य प्रकट हुए।

वह दिन वैशाख शुक्ला तृतीया का था। वह दान अक्षय दान बना, अत उस दिन से वैशाख शुक्ला तृतीया अक्षय तृतीया की संज्ञा से विश्रुत हुई।

अड़ोस-पड़ोस की जनता, राजा व अन्य सामन्तों ने श्रेयान्सकुमार के दा की महिमा सुनी तो बड़े आश्चर्यान्वित हुए। सभी दौड़े-दौड़े वहां आये। अप अज्ञान के प्रति उनके मन में ग्लानि हुई। सब के मुह से एक ही ध्वनि निक रही थी—हमें क्या पता था कि बाबा भोजन के लिए ही घर-घर घूम रहे हैं।

पुत्र-विरह की व्याकुलता

भगवान् ऋषभदेव को उग्रतम तप तपते हुए व घोर साधना करते हुए वर्ष ही बीत गये। अरण्य या सुनसान स्थान ही उनकी तपोभूमि था। गिरि-गुफाओं व शून्यागारों के एकान्त निर्जन वातावरण में वे ध्यान लगाते। समाधि में अपनी आत्मा को भावित रखते। एक स्थान पर अधिक दिन नहीं ठहरते। शहरों में या बस्ती में जब कभी महीनों बाद भिक्षा ग्रहण करनी होती, वे आते। वे माता के मोह से उपरत थे। पुत्रों के प्रति उनका प्यार अपनी भूमिका से बहुत ऊपर उठ चुका था। राज्य-चिन्ता उन्हें अभिभूत नहीं करती थी। वे एक निर्मोह, निस्पृह व निःसंग का जीवन जी रहे थे। उनके प्राण शरीर में टिके हुये थे, पर उनकी आत्मा उस बन्धन को पार कर चुकी थी। अनुराग विराग में परिणत हो चुका था और विराग उनका सहज धर्म बन चुका था। वे सतत विहरण-शील थे। कभी वे अयोध्या के समीपवर्ती सरयू को अपना समाधिस्थल बनाते तो कभी भारत की उत्तरी सीमा के प्रहरी हिमालय (कैलाश) की तराई में रही तक्षशिला के वन-खण्डों को। आदिवासी बस्तियां, देहात, द्रोण, पत्तन आदि सभी उनकी पावन साधना के स्थल बन चुके थे। सब की ही उनके प्रति अगाध श्रद्धा थी।

गगनचुम्बी राजप्रासाद में एक दिन महामाता मरुदेवा आनन्द मग्न बैठी

थी। आस-पास की वृद्ध सवयस्क वृद्धाओं के साथ बातें कर रही थीं। छोटी गोष्ठी-सी हो गई। सभी एक दूसरी को अपने सुख-दुःख की बातें कह रही थीं और आत्मीयता के साथ सुन भी रही थीं। उनका पारस्परिक सहज स्नेह वार्तालाप मे रस उण्डेल रहा था। बच्चो के भरण-पोषण, उनके स्वभाव व सहज चापल्य का प्रकरण चल पड़ा। सभी वृद्धायें हर्षातिरेक मे अपने अपने लाड़लो के गुन बखानने लगी। इस श्रुति ने महामाता के मन मे आकस्मिक विषाद उत्पन्न कर दिया। उनकी आखें डबडबा आईं और बोलते-बोलते गला रुंध गया। उन्हे अपने प्रिय पुत्र ऋषभदेव का स्मरण हो आया। वे अपनी सहेलियों को सम्बोधित करती हुई बोल पड़ी—तुम तो अपने पुत्रों व पोतों को अपने आगन में देखकर खिल रही हो व उनकी तुतली वाणी को सुनकर आह्लादित हो रही हो, पर मेरा पुत्र जो कि सबका भाग्य विधाता था, आज कहा है, क्या कर रहा है, किस स्थिति मे है, कोई नहीं जानता। वे माताए धन्य है, जो अपने पुत्रो को, लता जैसे किसलय-कोमल पुष्पों से अपने को पल्लवित करती है; अपने नयनो से निहारती हैं और उनके क्रिया-कलाप का प्रत्यक्ष अनुभव कर पाती हैं। मैं तो इस सुख से वंचित हो गई हू। प्रतिक्षण ऋषभ के कार्य-कलाप याद आते है, जो मेरे सम्मुख हुआ करते थे। उसके वर्तमान जीवन के रेखाचित्र भी सामने आते है तो छाती भर जाती है और दिल अकुलाने लगता है। एक दिन था जब कि मैं प्रतिदिन मनुहारें कर-कर उसे भव्य भोजन खिलाती थी। आज वह अभोजन के समान भिक्षा भोजन करता होगा। मैं हमेशा यह ध्यान रखती थी, उस ने क्या खाया है, क्या खाना है, कौन-सा भोजन उसके अनुकूल है व कौन-सा प्रतिकूल; पर अब तो उसके खाने-पीने का कोई ठिकाना ही नही। मैं उसे सर्दी-गर्मी से सदा सावधान करती थी, पर अब उसकी सार-सभाल करने वाला कौन है? उसके मस्तक पर चाद की चादनी जैसा उज्ज्वल व मनोहारी छत्र रहता था, वारागनाएं चंवर डुलाती रहती थी, पर अब तो सूर्य का आतप उसका छत्र व डंस-मंस आदि ही उसके चवर हैं। वह मस्त हाथियो पर सवारी करता था, नगर-रक्षक व अंग-रक्षको से आवेष्टित शहर मे रहता था और अब वह बटोही की तरह पैदल घूमता है और सिंह, श्वा-पदो से भरे वन मे घूमता है। मैंने तो उसकी प्रतीक्षा में पलके बिछा रखी हैं, पर उसे मेरी सुध ही नहीं है। इतने वर्षों मे कभी आया भी नही और मैं सुख मे हूं या दुःख मे इसकी जानकारी तक भी उसने नही ली। उसके विरह मे अकुलाती हुई मैं तो अतिशय वृद्धा हो गई हू और यह शरीर कंकाल हो गया है। मेरी वह जानकारी न ले, इस दुःख को मैं भूल भी सकती हू; किन्तु उसके कुशल-सवाद मुझे न मिले, मेरे लिए यह अत्यन्त असह्य है।

महामाता की टीस भरी बातो ने सभी वृद्धाओं को रुला दिया। ऋषभ जैसा पुत्र और वह अपनी माता से इतना दूर हो, किसको नही खटकता। वातावरण मे स्तब्धता छा गई। कौन किसकी ओर निहारे व कौन किसको सान्त्वना दे। उष्ण निःश्वासो से वायु मण्डल भी अतिशय उष्ण हो रहा था। भरत महामाता को प्रणाम करने के लिए उसी समय वहां आ गये। एक बार छाई हुई मायूसी को देखा तो चिन्तित हुए। उन्होने विनय पूर्वक महामाता के चरण छूए और कुशल पूछा। महामाता भरत की आवाज सुनकर सहसा चौंक पडी। उन्होंने तत्काल ही ललकार की भाषा मे भरत से कहा—बेटे ! तू किसके पीछे दीवाना बना घूम रहा है ! राज्य के नशे मे चूर होकर इतना उन्मत्त तू कैसे बन गया ?

भरत यह सब कुछ सुनकर सन्न रह गये। महामाता बोलती ही जाती थी और भरत अज्ञात से खडे सुन रहे थे। महामाता बोली—"तुझे अपने पिता की कभी याद तक नही आई ? क्या तू ने कभी यह समाचार भी मगाया कि ऋषभ कहा रह रहा है ? उसकी क्या व्यवस्था है ? वह सुख मे है या कष्ट मे ?" भरत के द्वारा कुछ भी निवेदन न किये जाने पर भी महामाता ने अपने कथन की शृखला तोडी नही। वे कहती ही जा रही थी—बेटे ! ऋषभ अब तेरे क्या लगता है। मा तो मैं हू। कष्ट होगा तो मुझे होगा। तुझे तो राज्य चाहिए था, वह मिल गया। तेरे तो अब आनन्द ही आनन्द है। मैं रो-रो कर रातें काट रही हू, पर बुढिया की बातें कौन सुने ? ज्यो-ज्यों मुह मे बातें निकलती जा रही थी, महामाता की आंखो से आसुओ की धार बहती जा रही थी, हृदय की धडकन बढ रही थी और गला रुंध रहा था भरत ने महामाता के चरण पकड लिए। उन्हे अपनी भूल का विशेष अनुभव हुआ और शान्त, विनीत व हृदयस्पर्शी शब्दो में निवेदन किया—"माताजी ! क्षमा करो। छद्मस्थ की भूल हो जाया करती है। आप कुछ अन्यथा न सोचें। मैं अभी जाता हूं और आपके आदेश को क्रियान्वित करता हू।"

हर्ष-संवाद

कुछ उलझन मे भरत महामाता के महल से उतर आये। उनके चेहरे पर स्पष्टत: विषाद झलक रहा था। वे अपने सभा-भवन मे पहुचे। विचार-मग्न सवाद-प्राप्ति का उपाय सोच ही रहे थे; द्वारपाल ने यमक और शमक के आगमन से भरत को सूचित किया। वे दोनो ही अत्यन्त प्रसन्न थे और अपने स्वामी को हर्ष-संवाद सुनाने आये थे। यमक ने कहा—महाराज ! पुरीमताल नगर के

शकटानन उद्यान में केवलज्ञान[1] प्राप्त होने के अनन्तर भगवान् ऋषभदेव अपनी कुसुम वाटिका में पधार गये हैं। यमक ने निवेदन किया—स्वामिन्! आयुध-शाला में चक्ररत्न[2] उत्पन्न हुआ है।

आचार्य भिक्षु का निरूपण है कि भरत को उक्त दो हर्ष-संवादों के साथ पौत्र-प्राप्ति[3] का हर्ष-संवाद भी प्राप्त हुआ था। आचार्य जिनसेन[4] का अभिमत है कि भरत को उस समय तीन ही हर्ष-संवाद प्राप्त हुए थे, किन्तु तीसरा संवाद पौत्र-प्राप्ति का न होकर पुत्र-प्राप्ति का था। इन संवादों की मत-भिन्नता का सम्बन्ध तीर्थ-स्थापना की घटना से जुड़ता है। प्रश्न यह पैदा होता है कि यदि इसी दिन पुत्र या पौत्र की प्राप्ति हुई हो तो प्रथम देशना के समय दीक्षा-ग्रहण करने वाले प्रथम गणधर ऋषभसेन कौन थे? हेमचन्द्राचार्य ने इन्हें भरत का पुत्र[5] मानते हुए दो हर्ष-संवादों का ही उल्लेख किया है। आचार्य भिक्षु ने भरत चरित में इस प्रकरण का कोई उल्लेख नहीं किया है। जिनसेनाचार्य ने ऋषभसेन (वृषभसेन) को भरत का अनुज[6] माना है। उन्हें भरत का पुत्र मानने पर सहज ही यह निष्कर्ष हस्तगत होता है कि उस दिन जन्मने वाला उसी दिन दीक्षा-ग्रहण कैसे कर सकता है? उस दिन दीक्षित होने वालों में भरत के सातसौ पुत्र भी थे, अतः प्रथम पौत्र-उपलब्धि की बात भी इतनी संगत कैसे हो सकती है और प्रथम पौत्र-प्राप्ति के अतिरिक्त इतना हर्षातिरेक भी कैसे हो सकता था? भगवान् ऋषभदेव एक हजार[7] वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहे। उस समय तक भरत के पुत्र या पौत्र-प्राप्ति न हुई हो, यह भी सहसा बुद्धिगम्य कैसे हो सकता है?

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ३, श्लो० ५१२

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ३, श्लो० ५१३

३. भिक्षुग्रन्थरत्नाकर, खण्ड २, रत्न १७, भरत चरित, ढाल १८, गा० १६ से १९

४. श्रीमान् भरतराजर्षिः बुबुधे युगपत्त्रयम्।
गुरोः कैवल्यसम्भूतिं सूतिञ्च सुतचक्रयोः॥

—महापुराण, पर्व २४, श्लो० २

५. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ३, श्लो० ६४४

६. पौत्री वृषभसेनोऽभूत् श्रीमान् भरतेश्वरात्।

—महापुराण, पर्व १६, श्लो० २

७. जम्बूद्वीपपण्णत्ति, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालाधिकार

आचार्य श्री भिक्षु ने भरत चरित की रचना में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और जनश्रुति में प्रसिद्ध घटना; दोनों को ही अपना आधार बनाया है। गीतिका ८ तक उनकी रचना सूत्रानुगामिनी रही है और गीतिका ६ से ७४ तक कथानुगामिनी। यह उल्लेख उन्होंने अपनी रचना में स्पष्ट रूप से कर दिया है।[1]

भरत हर्ष से ओतप्रोत उसी समय महामाता के चरणों में उपस्थित हुए। उन्होंने उत्साह व उल्लास भरे सवाद महामाता को निवेदित किये। विनोद के स्वर में उन्होंने यह भी कहा—महामाता जी! पिताजी दुःख में हैं या सुख में, आप स्वयं चल कर देख लें। इतने दिन आपने आदेश नहीं किया; अतः कार्य भी नहीं बना। आज आदेश किया तो काम भी बन गया है। आप तैयार हों। हम सभी उन्हें नमस्कार करने व उनका उपदेश सुनने के लिए चलते हैं।

सारा अन्तःपुर, सभी राजकुमार, चारों ही प्रकार की सेना व हजारों अन्य नागरिकों के साथ भरत महामाता के पीछे-पीछे भगवान् ऋषभदेव के समवसरण के सन्निकट पहुंचे। महामाता ने अपने लडाले को दूर से ही निहारा तो आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा। वे तो कल्पना कर रही थी, जब मैं वहां पहुंचूंगी; मेरा स्वागत होगा, दुःख-सुख की बातें होंगी। किन्तु बाबा ने तो पलक उठाकर भी नहीं देखा। उनकी सारी कल्पनाएं विलीन व दूसरे ही संकल्प-विकल्पों में परिणत हो गई। उनके मन में आया, ऋषभ! तुझे माता की ममता को इस प्रकार ठुकराना तो नहीं चाहिए था। कम-से-कम एक बार भी उसकी गहराई को अवश्य आंकना चाहिए था। मेरे मन में तो बड़ी उमंगें थी और उनसे प्रेरित होकर ही तो मैं तेरे पास आई थी। तेरी इस निस्पृहता का कारण तो मेरी समझ से बाहर का विषय बन रहा है।

प्रथम सिद्ध

ज्यों-ज्यों महामाता निकट पहुंचती जा रही थी; उनके विचारों में ज्वार आता जा रहा था। किन्तु अचानक उसमें नया मोड़ आया। उन् अपने आपको सम्बोधित करते हुए ही कहा—री! तू क्या सोच रही ऋषभ तो अब बहुत ऊंचा उठ चुका है। ममता से समता में और राग आत्मत्व में स्थित हो चुका है। माता, पुत्र, कलत्र, परिवार आदि के बन उपरत है। तू तो इस अपरिमेय को इस प्रकार परिमिति में सीमित कर

1. भिक्षुग्रन्थरत्नाकर, खण्ड २, रत्न १७, भरत चरित, ढाल ६, दोहा

तेरे मन में बन्धन है; अतः इसको भी इसमें समेट रही है, पर यह सर्वथा भूल है।

परिणामों की उज्ज्वलता बढ़ी। आत्मा की सहज ऋजुता ने उसमें सहयोग किया। सत्य, शिव, सुन्दरम् के चिन्तन का द्वार खुला। अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क का क्षय हुआ। प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ गुणस्थान में प्रवेश हुआ। क्षायक सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। प्रत्यख्यानावरणी व अप्रत्याख्यानावरणी कषाय-चतुष्क की समाप्ति हुई तो सप्तम गुणस्थान तक पहुच गईं। सामायिक चारित्र का उदय हुआ। अष्टम गुणस्थान से क्षपक श्रेणी का अवलम्बन किया और क्रमशः वेद समाप्त किये। सूक्ष्मसंपराय चारित्र प्राप्त किया व बारहवें गुणस्थान में पहुचकर मोह कर्म को समाप्त किया। अपूर्व करण के क्रम से यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति हुई और घाती त्रिक की समाप्ति से तेरम गुणस्थान में केवलज्ञान की उपलब्धि हुई। भावों की उज्ज्वलता बढ़ती जा रही थी और आयु की परिसमाप्ति भी हो रही थी। शैलेशी अवस्था में पहुची और योगों के निरोध से अन्तकृत् केवली के रूप में सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बनी। हाथी पर सवार थी। गृहस्थ का वेश था। पुत्र को कड़े-कड़े उपालम्भ देने की मन में आकांक्षा थी। किन्तु विचारों के परिवर्तन ने जीवन को नूतन परिवर्तन प्रदान किया और उसके फलस्वरूप महामाता मरुदेवा इस अवसर्पिणी काल-चक्र में प्रथम सिद्ध हुईं। इस सारी प्रक्रिया में इतना अल्प समय लगा कि जितने या कहने में उससे बहुत समय की अपेक्षा होती है।

मृतक का सत्कार

एक ओर महामाता विचारों से क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर मुक्त बन रही थी और दूसरी ओर भगवान् ऋषभदेव समागत जनता को धर्मोपदेश दे रहे थे। प्रवचन के बीच महामाता के लिए बाबा का वाक्य निकला 'मरुदेवा भगवई सिद्धा' भगवती मरुदेवा सिद्ध हो गई है। जनता यह सुनकर स्तब्ध रह गई। सबकी दृष्टि पीछे मुड़ी और उन्होंने गजारूढ़ के रूप में महामाता के अन्तिम दर्शन किये। भरत को उनकी मृत्यु से हार्दिक दुःख हुआ, पर जब उन्हें यह पता चला कि वह सिद्ध हुई है, सान्त्वना भी मिली। देवों ने उनके मृत शरीर का सत्कार[1] किया, अर्चा की और उसे क्षीर सागर में विसर्जित कर दिया।

---

१. एतस्यामवसर्पिण्यां सिद्धोऽसौ प्रथमस्ततः ।
सत्कृत्य तद्वपुः क्षीरनीरधौ निदधेऽमराः ॥ ५३१
ततः प्रभृति लोकेऽत्र मृतकपूजनम् ।
यत्कृतं महात्मभिः हि तदाचाराय कल्पते ॥ ५३२
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ३

मृत-शरीर की सत्कारपूर्वक संस्कार-क्रिया की वह आदि घटना थी। इससे पूर्व यौगलिक व्यवस्था मे ऐसा नही होता था। क्योंकि उस समय केवल एक युगल की ही समष्टि हुआ करती थी। न परिवार था, न समाज और न मिलना-जुलना। अतः एक युगल की समाप्ति पर उसका संसार ही समाप्त हो जाया करता था। मृतक का सत्कार या उसके अन्य प्रकार तब तक व्यवहृत नही हुए थे।

वायु मण्डल की अत्यन्त स्निग्धता के कारण तब तक अग्नि का आविर्भाव भी नही था। यौगलिकों के मृत शरीर को समीपवर्ती वन मे रहने वाले भारण्ड[1] पक्षी उठाकर ले जाते थे और किसी समुद्र मे या गगा आदि किसी बडी नदी मे उसे विसर्जित कर दिया करते थे।

शव-दहन

शव के विधिवत् दहन की क्रिया का आरम्भ भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के अनन्तर हुआ। अष्टापद पर्वत पर पादोपगमन अनशन मे भगवान् ने जब शरीर-त्याग किया तो शक्रेन्द्र व ईशानेन्द्र आदि के द्वारा चक्रवर्ती भरत की उपस्थिति मे भगवान् को क्षीरोदक से स्नान कराया गया, गोशीर्ष चन्दन का अनुलेप किया गया, हंस-चित्रित सुन्दर वस्त्र पहनाये गये और उनके शरीर को सभी प्रकार के अलंकारो से विभूषित किया गया। तदनन्तर शव को शिविका मे रखकर गोशीर्ष चन्दन से निर्मित चिता तक ले गये। अगुरु, तुरुष्क, मधु, घृत डालकर चिता को प्रज्ज्वलित किया गया। दाह-क्रिया सम्पन्न होने पर क्षीरोदधि के निर्मल जल से चिता को शान्त किया गया। इसी प्रकार गणधरों व अन्य मुनियों का भी शव-संस्कार किया गया। शक्रेन्द्र व ईशानेन्द्र द्वारा वहां तीन चैत्य स्तूप भी बनाये गये।[2]

तीर्थ-स्थापना

महामाता के निर्वाण से भरत अत्यन्त खिन्न हुए। उन्मन हो वे समवसरण में आये, भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार किया और उपदेश सुनने के लिए

---

१ क—पुरा हि मृतमिथुनशरीराणि महाखगाः।
नीडकाष्ठमिवोत्पाट्य सद्यस्विक्षिपुरम्बुधौ ॥
अम्बुधेरसमरणत्वात्पयोधौ गंगाप्रभृतिनदीष्वपि इति ज्ञेयम्।
—श्रीऋषभचरित्र

ख—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग २, श्लोक ७३७

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति तथा आवश्यक चूर्णि पृ० २२२

.... उनके भरत होकर भरत

पुत्र ऋषभसेन ने अपने पांचसौ भाइयों व सातसौ भतीजों के साथ दीक्षा ग्रहण की। भरत के पुत्र मरीचि ने भी निर्ग्रन्थ धर्म स्वीकार किया। ब्राह्मी सुन्दरी साध्वी बनीं। श्रेयान्स प्रभृति श्रावक बने और सुभद्रा प्रभृति श्राविकाएं बनीं। हेमचन्द्राचार्य का मत है कि ब्राह्मी भी साध्वी बनना चाहती थी, पर भरत ने उसे अनुज्ञा प्रदान नहीं की, अतः वह प्रथम श्राविका बनी।

कच्छ, महाकच्छ आदि साधना-भ्रष्ट चार हजार तापस भी उस समय समवसरण में उपदेश सुनने के लिए आये हुए थे। कच्छ, महाकच्छ आदि को छोड़ कर शेष सभी तापसों ने भगवान् के पास पुनः प्रव्रज्या ग्रहण की।

ऋषभसेन (पुण्डरीक) प्रथम गणधर हुए और उन्होंने अन्य तिरासी गणधरों के साथ गणिपिटक की रचना की।

साम्राज्यवादी लिप्सा का विस्तार

कुलकर-व्यवस्था के आरम्भ से यौगलिक व्यवस्था (व्यष्टि) क्रमशः टूटती ई और समष्टि के अंकुर फूटने लगे, जिनका कि पूर्णतः विस्तार भरत के समय क हो चुका था। ग्राम-नगरों का व्यवस्थित निर्माण, वापी, कूप, सरोवर व थानों का निर्माण भी मनुष्य की अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति व सुख-साधनों की पलब्धि के लिए हो चुका था। समष्टि-व्यवस्था ने ग्रह और अधिकार-प्राप्ति भी मनुष्य को व्यग्र बना दिया था। छोटे-छोटे राज्य भी बन गये थे और नके संरक्षण के लिये सैनिक बल व अस्त्र-शस्त्रों का भी काफी विकास हो ता था। संघर्ष का आरम्भ और दमन का चक्र चलने लगा था। जब तक गवान् ऋषभदेव गृहस्थाश्रम में रहे, संघर्ष व दमन-नीति को खुलकर पनपने अवसर प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि वे सबके श्रद्धेय थे। उनके आदेश का लंघन करना व उनकी इच्छा के विरुद्ध आचरण करना कोई भी नहीं हते थे। मनुष्य भी स्वभावतः सरल थे। फलतः सब व्यवस्थाओं के होते हुए और सब के पास न्यूनाधिक मात्रा में अधिकार होने पर भी साम्राज्यदी लिप्सा का विस्तार नहीं के बराबर था।

भरत के पास अन्य भाईयों और राजाओं के राज्यों से बड़ा राज्य था। ... उत्तराधिकारी के रूप में उन्हें अयोध्या राजधानी व सुदूर तक शासन ... का अधिकार मिला था। उन्हें शुभ पद भी था। जब से आयुधशाला में ... की प्राप्ति हुई, उनका मद मद और उद्दीप्त हो गया। सारे भरत ... का शासन-सूत्र सम्भालने के वे स्वप्न देखने लगे। भगवान् ऋषभदेव के ... ज्ञान प्राप्ति के संवाद के साथ ही उन्हें चक्र-उपलब्धि का संवाद भी ... था, किन्तु भौतिक की अपेक्षा में लोकोत्तर की महत्ता अधिक होती है;

अतः चक्र-पूजा के पूर्व भरत बाबा के समवसरण में अपनी महामाता के साथ गये थे और उपदेश-श्रवण कर लौटते समय आयुधशाला में गये। भरत ने चक्र को देखते ही नमस्कार किया, क्योंकि क्षत्रिय[1] शस्त्र को ही देव मानते हैं। उसकी विधिपूर्वक प्रकार से पूजा की और आठ दिन तक उसका उत्सव मनाया।

क्षेत्र-मान का प्रारम्भ

चक्र की प्राप्ति से भरत फूले नहीं समा रहे थे; क्योंकि अब उनका कोई शत्रु या उनके आदेश की अवहेलना करने वाला मनुष्य इस पृथ्वी पर जीवित रह नहीं सकता था। चक्र जिधर से चल पड़ा, उधर भरत की निश्चित विजय की ओर बढ़ने जाने का निशान। भरत ने दिग्विजय के उद्देश्य से अपनी सेना को सुसज्जित किया और एक दिन मंगल बेला में पूर्व दिशा की ओर प्रयाण कर दिया। आगे-आगे चक्र और उसके पीछे दण्ड-रत्न को धारण कर सेनापति सुषेण सेना का नेतृत्व करते हुए चलने लगा। गज, अश्व, रथ और पदातियों की अपार सेना चलते-चलते मार्गों से [illegible] होकर बड़े उत्साह के साथ चल पड़ी। भरत भी गजारूढ होकर बड़ी उमंग के साथ निकल पड़े। चक्र [illegible] दिन एक निश्चित क्षेत्र को पार कर आगे चलता हुआ रुक गया। सेना ने भी वहीं पड़ाव डाला। उस समय तक क्षेत्र का कोई माप प्रचलित नहीं था। सेना के प्रस्थान-स्थान और विश्राम-स्थान के बीच के क्षेत्र को उस दिन से एक योजन[2] का माप दिया गया तथा यह [illegible] होकर व्यवहार में प्रयुक्त होने लगा। भरत उसी माप से प्रतिदिन एक-एक योजन आगे प्रयाण करते और फिर विश्राम।

आदिवासी सभ्यता

[illegible]

१ [illegible]

—[illegible]

२ [illegible]

[illegible]

—[illegible]

हुए भरत क्षेत्र के उत्तरार्ध में पहुचे। "उस क्षेत्र में आपात जाति के उन्मत्त भील रहते थे। वे दानवों की तरह भयावह थे। धनवान्, बलवान् और तेजस्वी थे। उनके पास आवास के लिए बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएं, शयनागार, आसन व नाना प्रकार के वाहन थे। उनके पास सोने और चांदी की अपार सम्पत्ति थी; अतः वे कुबेर के वंशज जैसे लगते थे। उनके कुटुम्ब बड़े-बड़े थे और उनके अनेक दास-दासी भी थे। वे बहुत दुर्जेय थे। युद्ध करने के लिए उनकी भुजाएं प्रतिदिन फड़का करती थीं।[1]"

"युद्ध में कछुवे की पीठ की हड्डियों से बने हों, ऐसे अभेद्य कवच, भालू के केशों के शिरस्त्राण व सींग के बने हुए धनुष व्यवहृत करते थे। इनके अतिरिक्त तलवार, दण्ड, भाले, त्रिशूल, लोहे की शलाका व मुद्गर आदि उनके प्रमुख हथियार थे[2]।" भरत ने उन पर भी चढ़ाई कर दी और दोनों सेनाओं में भीषण संग्राम ठना। किरातों की सेना ने चक्रवर्ती की सेना का अच्छी तरह से मर्दन किया और बहादुरी के साथ उसे पीछे ढकेल दिया।

ब्रह्माण्ड की कल्पना का आधार

सेनापति सुषेण ने जब अपनी सेना को पीछे खिसकते देखा तो किरातों पर गुस्से में भर आया। घोड़े पर सवार होकर अपनी चमचमाती हुई तलवार को घुमाते हुए वह अपनी सेना के आगे आकर डट गया। सैनिकों का टूटा हुआ साहस फिर से जागृत हुआ और अपने पौरुष को संभालते हुए शत्रु की सेना के साथ जूझने लगे। थोड़ी ही देर में भरत की सेना गरजने लगी और किरातों के छक्के छूट गये। अपने-अपने प्राण बचाने के लिए वे दशों दिशाओं में दौड़ गये।

---

1. किरातास्तत्र निवसन्त्यापाता दुर्मदा:।
   आढ्या महौजसो दीप्ता भूमिष्ठा इव दानवा: ॥३३६॥
   तेऽविच्छिन्न महाहर्म्यशयनासनवाहना:।
   अनल्पस्वर्णरजता: कुबेरस्येव गोत्रिण: ॥३३७॥
   बहुजीवधनास्ते च बहुदास परिच्छदा:।
   अजाताभिभवा: प्राय: सुरोद्यानद्रुमा इव ॥३३८॥
   अनेक सम्परायेषु निर्व्यूढ बलशक्तय:।
   महाशकटभारेषु महोक्षा इव ते सदा ॥३३९॥

   —त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ४
2. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व १, सर्ग ४, श्लोक ३५८ से ३६७ के आधार पर

अपनी पराजय से उद्वेलित होकर कुछ प्रमुख किरात एकत्रित हुए और युद्ध के भावी कार्यक्रम के बारे में अपनी-अपनी योजनाएं प्रस्तुत करने लगे। पराधीनता स्वीकार नहीं थी और भरत की सेना के समक्ष उनका सामर्थ्य व साधन अल्प थे; अतः किसी दैविक सामर्थ्य की खोज में लगे। उन्होंने तीन दिन का उपवास कर मेघमुख कुलदेव का ध्यान किया। भक्ति से प्रेरित होकर देव प्रकट हुआ, किरातों की विजय लिप्सा को जाना तो उसने उन्हें स्पष्ट रूप से सूचित किया कि भरत भावी चक्रवर्ती है। उसे कोई भी शक्ति पराजित नहीं कर सकती; अतः इस संकल्प को त्याग देना चाहिए। किरात नहीं माने। उन्होंने देव से कहा—पराजित न भी हो तो पीड़ित तो अवश्य होना चाहिए। देव को वैसा करने के लिए बाधित होना पड़ा।

क्षण भर में आकाश काले-काले बादलों से भर गया और चक्रवर्ती की सेना पर मूसलाधार बरसने लगा। भूमि जलमग्न हो गई और सेना दुःसाध्य कष्ट में पड़ गई। विकट समस्या उपस्थित हो गई। भरत ने चर्म रत्न को हाथ में उठाया। संकल्प मात्र से ही वह फैला और सारी सेना जैसे घन समुद्र के ऊपर पृथ्वी ठहरती है, वैसे उस पर सुखपूर्वक आसीन हो गई। वह भूमि पानी में तैरते हुए काष्ठ-खण्ड की तरह प्रतीत होने लगी। भरत ने अपना छत्र रत्न उठाया तो सारी सेना मूसलाधार वृष्टि से भी रहित हो गई। जितने स्थान में सेना थी, उतने स्थान के उन्नत हो जाने से नीचे के पानी से और उस पर छत्र हो जाने से वर्षा के पानी से उसकी सुरक्षा हो गई। समस्या अंधेरे की रह गई। भरत ने अपना मणि रत्न उठाया और उसे छत्र के ऊपर स्थापित कर दिया। जैसे सूर्य ही उदित हो गया हो। सेना का पानी व अन्धकार से बचाव हो गया। छत्र व चर्म का वह सम्पुट पानी में तैरते हुए अण्डे की आकृति बना रहा था। ब्रह्माण्ड की कल्पना का भी आधार यह सम्पुट बना और उसके बाद कुछ एक दार्शनिकों ने उस आकार के रूप में ब्रह्माण्ड की कल्पना को प्रमाणित भी किया।

सात दिन के बाद वर्षा शान्त हुई और अन्ततः किरातों को भरत की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। भरत वहां से भी आगे बढ़े। ऋषभकूट से लौटते हुए नमि और विनमि के राज्य की ओर भी प्रयाण किए। बारह वर्ष तक दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ और अन्त में नमि और विनमि ने भी भरत की अधीनता स्वीकार कर ली। विनमि ने अपनी सुभद्रा नामक कन्या और नमि

ने बहुमूल्य रत्न भरत को भेंट किये। सुभद्रा भरत के चौदह रत्नों में स्त्री-रत्न बनी।

खण्ड प्रपाता गुफा में से सेना आगे बढ़ी। गंगा के पश्चिम तट पर छावनी डाली गई। वहां भरत को नैसर्प, पाण्डुक, पिंगल, सर्वरत्नक, महापद्म, काल, महाकाल, माणवक और शंख, ये नौ निधियां प्राप्त हुईं।

दिग्विजय का उल्लास

सर्वत्र विजयश्री प्राप्त कर साठ हजार वर्षों के बाद भरत पुन अयोध्या लौटे। नागरिकों में अपार हर्ष था। भरत का अपूर्व स्वागत किया गया। बारह वर्ष तक विजय-उल्लास मनाया जाता रहा। सभी अधीन राजा आये और भरत का चक्रवर्ती के रूप में अभिषेक किया गया।

भरत और उसके अट्ठानवे भाई

विजयोत्सव के उपलक्ष में चक्रवर्ती भरत एक दिन सभा में बैठे थे। हजारों मण्डलपति राजा और सम्भ्रान्त नागरिक उपस्थित थे। भरत ने सरसरी नजर से सबको निहारा। उसे अपने छोटे अट्ठानवे भाइयों में से एक भी उस परिषद् में दृष्टिगत नहीं हुआ। सरोष आश्चर्य हुआ। ऐसे उल्लास के समय उनकी अनुपस्थिति भरत को बहुत अखरी। रोष ने प्रतिशोध का रूप धारण किया तो आंखें आग उगलने लगी और होठ फड़कने लगे। उसी समय भरत ने सबके पास दूत भेजे और नहीं आने के लिए 'कारण बताओ' का नोटिस दे दिया।

सभी भाइयों के पास एक साथ अलग-अलग दूत पहुंचे और भरत के इंगित से उन्हें पूर्णत. अवगत किया। भरत का जब यह संकेत उन्होंने सुना कि विजयोत्सव में सम्मिलित होने के लिए अयोध्या आओ और अपना सर्वस्व न्यौछावर कर मेरे समक्ष झुको तो उनके स्वाभिमान को गहरी चोट लगी। कोई भी ऐसा करने को तैयार न हुआ। दूतों के साथ सभी ने अपनी मनो-भावनाएं स्पष्टतया व्यक्त कर दी और अयोध्या आकर विजय-उत्सव में भाग लेने के लिए इन्कार कर दिया। सभी का एक ही उत्तर था कि सारे ही भाई बराबर हैं। छोटे-बड़े का भाव किसी के लिए भी शोभास्पद नहीं। भरत यदि अपनी बहुमान्यता के आधार पर हमें पुण्य हीन समझकर अपना गौरव बढ़ाना चाहता है तो यह उसके लिए उचित नहीं। उसका यदि भ्रातृत्व की पृष्ठभूमि पर वात्सल्य होगा तो हमारे हृदय में भी सहज स्नेह के साथ श्रद्धा उमड़ेगी। किन्तु वह बड़ा है, इसलिए यदि हठपूर्वक हमें शासित करना चाहे तो यह कभी भी स्वीकार नहीं होगा। हमको राज्य पिताजी ने प्रदान किये है, भरत ने नहीं। वह

हमारे राज्य किस आधार पर छीनना चाहता है। यदि वह बल-प्रयोग करेगा तो हम भी उसी पिता के पुत्र हैं। पीछे नहीं रहेंगे।

भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में

सभी भाई एकत्रित हुए और भरत की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति की भर्त्सना की। सर्वसम्मति से यह निर्णय हुआ कि आज चाहे युद्ध न हो, किन्तु यह मानसिक विभेद बढ़ता जायेगा और एक दिन युद्ध की परिस्थिति पैदा हो जायेगी; इसलिए सुन्दर होगा कि पिताजी से वस्तुस्थिति निवेदित करदी जाये और उनसे ही मार्ग-दर्शन प्राप्त किया जाये।

बातों ही बातों मे अष्टापद पर्वत पर जहां भगवान् ऋषभदेव का समवसरण लगा हुआ था; सभी भाई पहुंच गये। नमस्कार किया और विषाद के स्वर में निवेदन किया—प्रभो ! भरत को और हम सबको आपने यथायोग्य अलग-अलग राज्य प्रदान किये थे। हम अपने राज्य से सन्तुष्ट हैं। राज्य के विस्तार की आकांक्षा को हम हेय समझते है। अपने पास जो है, वह पूर्ण है, अच्छा है; अतः हम उसमे सन्तुष्ट है और हम उसमे अधिक पाने की लालसा को त्याज्य मानते हैं। आपके द्वारा बनाई गई मर्यादा हमारे लिए अनुलंघ्य है। किन्तु भरत की आकांक्षा इसके सर्वथा प्रतिकूल है। वह आप द्वारा दिये गये राज्य से सन्तुष्ट नहीं हुआ, अतः दूसरों के राज्य हड़पने के लिए भी निकला और उसमे वह सफल भी हुआ। किन्तु अभी तक वह तृप्त नही हुआ है। उसके दूत हमारे पास भी आये और उन्होंने कहा—सेवा करो या राज्य-त्याग करो। वह राज्य के गर्व में है; अतः भ्रातृत्व का सम्बन्ध भी भूल गया है और अपने विचार हम सब पर लादना चाहता है। वह अन्याय पर उतर आया है। यद्यपि वह बड़ा भाई है; पर उसके कथन मात्र से ही हम उसकी अधीनता कैसे स्वीकार कर लें ? हम उसके इस तरह के अन्याय को कैसे सहन कर सकते हैं ? वह राज्य छीनने पर ऊतारू है और हम अपने स्वाभिमान व स्वाधीनता की सुरक्षा के लिए कृतसंकल्प हैं। हम युद्ध करना नहीं चाहते, किन्तु किसी भी समय युद्ध छिड़ जाये तो आप हमें उलाहना मत देना। हमने अपनी स्थिति आपके समक्ष इसलिए स्पष्ट कर दी है।

भगवान् ऋषभदेव का पुत्रों को उपदेश

भगवान् ऋषभदेव ने अपने अट्ठानवे ही पुत्रों को आश्वस्त करते हुए कहा—पुत्रों ! मिट्टी (भूमि) के लिए युद्ध करना नादानी है। युद्ध को टालने का तुम्हारा प्रयत्न प्रशस्य है। भाई से तो कभी भी नहीं लड़ना चाहिए। उसमें तो अपयश ही हाथ लगता है, चाहे कोई भी पक्ष हारे व जीते। वैभव व

साम्राज्य के प्रसार में कितने व्यक्ति मृत्युकाल में उतरे, इसकी कोई गणना नहीं है। इनमें जो हार गये, उनका तो नशा चूर-चूर हुआ ही, किन्तु जो जीते वे भी हारे हुए व्यक्तियों से कम नहीं रहे। अधिकारों की मादकता में व्यक्ति अन्धा हो जाता है और फिर वह आगे-पीछे कुछ भी नहीं देख सकता। तुम सबने सघर्ष टाल दिया, यह बहुत सुन्दर किया। इसमें तुम्हारा और तुम्हारे इक्ष्वाकुवश का आदर्श अक्षुण्ण रहा है।

पुत्रों के मन में वैराग्य भावना अकुरित करने के उद्देश्य से भगवान् ऋषभदेव ने आगे कहा—सम्पत्ति और राज्य के छीने जाने का भय हर समय बना रहता है। ये तो दोनों ही नश्वर है। आज किसी के पास है और कल किसी के पास। इनसे कभी तुम्हारा त्राण होने का नहीं। तुम्हारे त्राण के लिए, सुख, समृद्धि व वैभव के लिए एक राज्य और है, जिसे कोई भी शक्तिशाली छीन नहीं सकता और न वहा किसी प्रकार का आघात ही पहुचाया जा सकता है। न उसका बटवारा हो सकता है और न वहा विद्रोह की आग ही भभक सकती है। उसकी सुरक्षा के लिए किसी प्रकार की सेना की आवश्यकता नहीं है। वहा के विधान भण्डारों मे अक्षय धन है, जिसमें से यथेच्छ उपभोग करने पर भी किसी प्रकार की रिक्तता नहीं होती। यदि चाहो तो मैं तुम्हें वह राज्य दे सकता हू। फिर भरत के आतंक से तनिक भी चिन्तित होने की तुम्हें कोई व्यग्रता नहीं होगी।

सारे ही भाई एक स्वर में बोल पड़े—यदि हमें ऐसा राज्य मिल जाता है तो हम यह राज्य प्रसन्नतापूर्वक भरत के लिए पुण्यार्पण कर देंगे। हमें तो ऐसा ही राज्य चाहिए।

भगवान् ऋषभदेव की वाणी से अमृतोपम उपदेश धार निकली। उन्होंने कहा—पुत्रो! पूर्व जन्म में स्वर्ग-सुखों से भी तुम्हारा मन नहीं भरा। प्रत्युत उससे तृष्णा भड़कती ही रही। इस मानव के जीवन में जहा सुख के साधन सीमित व क्षणक्षयी हैं, तुम उनसे शाश्वत सुख की कल्पना करते हो; यह व्यर्थ है। कोयलों की खान में काम करने वाले उस व्यक्ति का स्मरण करो, जो एक मशक पानी से भर कर निर्जल जंगल में निकल पड़ा था और बहुत दूर चला गया था। दुपहरी की कड़कड़ाती धूप ने उसे क्षत-विक्षत कर दिया था। प्यास से वह अत्यन्त अकुलाने लगा था। उसने मशक का सारा पानी एक सास में ही पी डाला था, पर प्यास शान्त नहीं हुई थी। वह वहीं कहीं वृक्ष की छाया में लेट गया। नींद में उसने स्वप्न देखा कि वह घर पहुच गया। पूरे मटके का पानी पी गया, पर प्यास शान्त नहीं हुई। कुआ, वापी और सरोवर का भी सारा पानी पी गया, फिर भी प्यासा ही रहा। समुद्र के तट पर गया और उसे भी अपने उदर में समा गया; फिर भी प्यास से अकुलाता ही रहा।

ऐसा कोई भी नाम स्मृति में नहीं आया, जो सम्राट् भरत की अधीनता का अपवाद हो।

महामात्य ने सम्राट् भरत तथा अन्य सभासदों का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा—"हमने सारे भूमण्डल पर विजय प्राप्त की है; किन्तु लगता है, हमारे समस्त विजय का बड़ा टेढ़ा प्रश्न अभी तक खड़ा है। हमने दूर-दूर तक के राजाओं को नमाया है, पर दिये तले अंधेरा रह गया है। हमें अन्यत्र दृष्टि न दौड़ाकर अपने घर को ही सभालना चाहिए। यद्यपि आपके अट्ठानवे अनुज निर्ग्रन्थ हो गये हैं, किन्तु एक अनुज बाहुबली अभी अवशिष्ट हैं। वे विजयोल्लास में भी सम्मिलित नहीं हुए है। बड़े स्वाभिमानी हैं और सहसा अधीनता स्वीकार भी नहीं करेंगे। चक्र का अपने स्थान पर न पहुंचना स्पष्टत यही परिलक्षित कर रहा है।"

थोड़े से वाद-विवाद के अनन्तर यह विचार सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया। समय रहते ही भाई को सावधान करने के लिए भरत ने सुवेग दूत को तक्षशिला भेजा। राजा बाहुबली ने दूत का केवल औपचारिक स्वागत किया और व्यवहार निभाने के निमित्त ही भरत के कुशल-सवाद पूछे। सुवेग द्वारा अपने स्वामी के पक्ष को उपस्थित किये जाने के अनन्तर बाहुबली की आखे लाल हो गई, भुजाए फड़कने लगी और सारी ही धमनियो में खून खौलने लगा बाहुबली ने व्यग-प्रहार करते हुए स्पष्ट कह दिया—भरत को केवल मेरी यही अपेक्षा है कि मैं उसे नमस्कार कर उसका चक्र आयुधशाला मे पहुचा दू। वह अपने को चक्रवर्ती प्रमाणित करने के लिये मुझे बुला रहा है, भ्रातृत्व के नाते नही। यदि वह भ्रातृत्व-शून्य है तो मुझे भी उसकी इतनी अपेक्षा नही है। उसने अन्य राजाओ को झुकाकर विजय का गर्व किया, पर मैं उसके सामने कभी भी झुककर नहीं चलूगा। आक्रन्ता होकर मैं नही आऊगा, पर यदि वह अपनी लालसाओ के वश आक्रामक होकर आयेगा तो मैं उससे टलने वाला भी नही हूं। साठ हजार वर्षों तक नाना युद्ध कर उसने जो विजयश्री प्राप्त की है, मेरे लिए अच्छा अवसर है कि वह मुझे सौपने के लिए यहा चला आये।

सभासदों व नागरिकों पर प्रतिक्रिया

दोनो ही ओर भ्रातृत्व के आधार पर कुछ भी नही सोचा जा रहा था। भरत को अपने अपार सैन्य बल पर गर्व था तो बाहुबली को अपने अपरिमित भुजा-बल का गर्व था। बाहुबली ने सुवेग दूत को और भी बहुत सारी कड़वी-मीठी बातें सुनाई। दूत का वहा कोई सत्कार नहीं किया गया, बल्कि उसे अपमानित करते हुए सभा से बहिष्कृत किया गया। दूत-आगमन का जब सभासदों व नागरिको को पता चला तो उस पर तीखे व्यग-प्रहार करते

हुए वे कहने लगे :

"राज-सभा से यह अजनबी कौन निकला ?"

"राजा भरत का दूत ज्ञात होता है।"

"इस भूमण्डल पर बाहुबली के अतिरिक्त दूसरा भी कोई शासक है क्या ?"

"हाँ, बाहुबली के बड़े भाई भरत अयोध्या के राजा हैं।"

"इस दूत को उन्होंने यहां क्यों भेजा है ?"

"अपने भाई और हमारे कुशल प्रशासक बाहुबली को बुलाने के लिए।"

"अरे ! हमारे राजा के भाई इतने दिन तक कहां गये थे ?"

"भरतक्षेत्र के छः खण्ड जीतने के लिए।"

"अपने भाई को बुलाने की अभी उन्हें इच्छा क्यों हुई ?"

"दूसरे सामान्य राजाओं की तरह सेवा कराने के लिए।"

"सारे राजाओं को जीतकर अब वह इस शूली पर चढ़ना क्यों चाहता है ?"

"अखण्ड चक्रवर्तित्व का अभिमान है।"

"छोटे भाई से हारा हुआ, वह अपना मुंह कहां छुपायेगा ?"

"सर्वत्र विजयी होने वाला व्यक्ति भावी की हार को नहीं पहचान सकता।"

"भरत के मंत्रियों में क्या कोई बूढ़े के समान भी नहीं है ?"

"कुलक्रम से बने हुए अनेकों बुद्धिमान् मंत्री हैं।"

"तब उन्होंने भरत को सर्प का मस्तक खुजलाने के इस उपक्रम से क्यों नहीं रोका ?"

"उन्होंने उसे रोका तो नहीं, प्रत्युत प्रोत्साहित किया है।"

"होनहार ही ऐसी है।"

सुवेग दूत अतिशीघ्र अयोध्या पहुंचा और उसने बाहुबली के स्वाभिमान, नागरिकों के विचार तथा युद्ध के लिए समुत्सुक राजा और सैनिकों की गतिविधियों से सम्राट् भरत को परिचित किया। बातों ही बातों में रण-भेरी बज उठी और अपार टिड्डी दल की तरह भरत की सेना ने बहली देश की सीमा पर पड़ाव डाल दिया। बाहुबली के खुखार योद्धा भी अपने स्वामी के साथ रण-रेखा पर आकर डट गये। बारह वर्ष तक घमासान युद्ध हुआ और विजय किसी के भी हाथ नहीं लगी। हजारों योद्धा, सैंकड़ों सेनापति तथा अनेकों मुख्य-मुख्य राजा व राजकुमार मौत के घाट उतार दिये गये। रक्त-रंजित भूमि बड़ा ही बीभत्स दृश्य उपस्थित कर रही थी।

सन्धि-प्रस्ताव

हिंसा की कल्पना को देखकर उपस्थित देव भी सिहर उठे। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के पुत्र आपस में ही राज्य के लिए इस प्रकार युद्ध को ठानेंगे, यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता था। दोनों दलों में समझौता कराने के लिए देवों ने मध्यस्थता की और सन्धि-प्रस्ताव लेकर भरत और बाहुबली के पास गए। दोनों ही पक्षों ने हिंसा की बर्बरता को स्वीकार किया और अपनी विवशता व्यक्त की।

भरत ने कहा—मैं चक्रवर्ती हूँ। यदि ऐसा नहीं करता हूँ तो चक्र आयुधशाला में प्रविष्ट नहीं होता है। बाहुबली एक बार नतमस्तक होकर इस बाधा को दूर कर दें। मुझे उनका राज्य नहीं चाहिए।

बाहुबली ने कहा—देवो! इसमें मेरा क्या दोष है? राज्य लिप्सा के लिए तो मैं युद्ध कर नहीं रहा हूँ। मैं तो पिताजी के द्वारा प्रदत्त अपने राज्य की सुरक्षा कर रहा हूँ। आक्रान्ता को शिक्षा देना मेरा धर्म है। भरत जैसे आया है, यदि वैसे ही लौट जाये तो मैं युद्ध नहीं करूँगा, यह विश्वास दे सकता हूँ।

दोनों ही पक्ष अपने-अपने आग्रह पर अटल थे, अतः समझौता नहीं हो सका। हिंसा को रोकने के लिए देवों द्वारा एक दूसरा प्रस्ताव और रखा गया। उन्होंने दोनों ही से कहा—हार और जीत का निर्णय तो आप दोनों के बीच होने का है, अतः सैनिकों को युद्ध में क्यों होमा जा रहा है? दोनों भाई परस्पर लड़ें और अपने पराक्रम से एक दूसरे को परास्त करें। दोनों ही पक्षों को यह प्रस्ताव मान्य हो गया।

भरत द्वारा शक्ति-परीक्षण

बाहुबली का शारीरिक बल अपरिमित था। भरत चक्रवर्ती थे, पर कोमल भी बहुत थे। अपनी दिग्विजय में कभी उन्होंने शस्त्र उठाकर युद्ध नहीं लड़ा था। भरत की विजय सुयोग्य सेनापति व वीर सैनिकों के बल पर ही विशेषतः हुई थी। इस प्रस्ताव को स्वीकृत किये जाने से बहली के सैनिकों में जहां हर्ष था; वहां भरत के सैनिकों में नाना आशंकाएं भी उत्पन्न हो रही थीं। स्थान-स्थान पर होने वाली फुस-फुस ने चक्रवर्ती का ध्यान उस ओर खींच लिया। अपने बल से अपने ही सैनिकों को प्रभावित करने के लिए चक्रवर्ती ने एक विशेष प्रयत्न किया। अपने सैनिकों को आदेश देकर उन्होंने एक बहुत बड़ा खड्डा खुदवाया। स्वयं उसके किनारे पर जाकर बैठे। अपने बायें हाथ पर, वट वृक्ष की लटकती हुई लम्बी-लम्बी जटाओं की तरह, एक पर एक मजबूत एक हजार जंजीरें बंधवाईं। एक हजार सैनिकों को अपने पूरे बल और अपने-

चक्र का प्रयोग

भरत को अपने चक्रवर्तित्व में सन्देह होने लगा। उन्मन होकर वे भूमि कुरेद रहे थे कि सहसा उनके हाथ में चक्र आ गया। सत्ता के मद और प्रतिशोध की भावना ने उन्हें लक्ष्य-च्युत कर दिया। चक्र घुमाया और बाहुबली के शिरच्छेद के लिये चला दिया। भरत का यह अन्तिम और अचूक अस्त्र था। उसे देखते ही सारे अवाक् रह गये। दर्शकों को ऐसा प्रतीत हो रहा था कि इस बार बाहुबली नहीं बच सकेंगे। बाहुबली ने भी उसे अपनी ओर आते देखा। उनके मन में रोष का उभरना सहज था, पर वे शान्त ही बैठे रहे। चक्र ने आकर बाहुबली के सम्मुख तीन प्रदक्षिणा दी और वह पुनः भरत के पास लौट गया। चक्र अचूक होता है, पर वह सगोत्री और चरम शरीरी व्यक्तियों पर आघात नहीं करता। बाहुबली दोनों ही थे। भरत इस अप्रत्याशित क्रम को देखकर सन्न रह गये। प्रतिशोध की भावना से वे उबल रहे थे, अतः कृत्याकृत्य में चूक रहे थे। उन्होंने दूसरी बार चक्र को और चलाया।

अनल-प्रयोग से जिस प्रकार शीतल जल उबल पड़ता है, उसी प्रकार भरत के अन्याय को देखकर बाहुबली खौलने लगे। उन्होंने अपनी मुट्ठी तानी और चक्र तथा अग्रज को प्रेत्यधाम पहुचाने के लिए चल पड़े। धरा थर्राने लगी। बाहुबली के सरोष नेत्रों को कोई देख नहीं सका। प्रलय पवन की तरह वे चले। सहसा देवों की दृष्टि उस ओर केन्द्रित हुई तथा उन्होंने बाहुबली को उस कार्य से उपरत करते हुए प्रतिबोध दिया। समय की अग्नि चूकने से उनका रोष कुछ शान्त हुआ और वह क्रमशः निर्वेद में परिणत हो गया। भाई को प्रेत्यधाम पहुचाने वाले बाहुबली ने प्रतिबुद्ध होकर उसी मुट्ठी से अपने सिर के केशों का लुंचन कर लिया। वीर रस का वैराग्य में इस तरह का परिवर्तन एक महान् आश्चर्यकारी था। दर्शकों को अपने नेत्रों पर विश्वास नहीं हो रहा था। उन्हें वह एक स्वप्न जैसा प्रतीत हो रहा था।

विजिगिषु सम्राट् भरत की इस घटना ने आखें खोल दी। हिंसा प्रतिहिंसा को जागृत करती है, प्रतिशोध वैमनस्य का उद्भावक होता है तो निर्वेद शान्तरस का जनक होता है। बाहुबली ने 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' उक्ति को चरितार्थ किया तो भरत का दिल पसीजा, अपने द्वारा विहित कार्यों के प्रति ग्लानि हुई और वे बिना किसी शर्त के बाहुबली के चरणों में झुक गये। जो बटोरना चाहता है, वह कोरा रहता है और जो उत्सर्ग करता है, श्रेय उसके पीछे दौड़ता है। बाहुबली जब तक अपने राज्य के संरक्षण में प्रवृत्त रहे; भरत भाई नहीं, शत्रु प्रतीत हो रहे थे और जब वे निस्संग होकर राज्य से उपरत हो गये तो भरत स्वतः ही उनके सम्मुख झुक गये और अपने सारे राज्य को

उनके चरणों में न्योछावर करने को प्रस्तुत हो गये। किन्तु राज्य की सुनहरी चमक बाहुबली को कैसे लुभा सकती थी ? भरत ने ज्येष्ठ बन्धु के नाते शतशः आग्रह किया, पर अनुराग विराग को दबाने में सक्षम नहीं हुआ।

बाहुबली द्वारा प्रव्रज्या-ग्रहण

बाहुबली ने मुकुट उतारा, राजकीय परिधान छोड़ा और तपस्वी साधक की मन्थर गति से चल पड़े। मन में विचार आया, भगवान् ऋषभदेव के चरणों में पहुंचना चाहिए; किन्तु दूसरे ही क्षण उन्हें याद आया—वहां तो मेरे पूर्व दीक्षित अट्ठानवे छोटे भाई हैं। यदि वहां जाऊंगा तो मुझे उन्हें नमस्कार करना होगा। यह सिर बड़े भाई भरत के समक्ष भी यदि नहीं झुका तो छोटे भाईयों के आगे कैसे झुकेगा ? साधना आत्म-सापेक्ष होती है। तपश्चरण में दूसरा व्यक्ति तो केवल निमित्त होता है और उसकी सबको आवश्यकता भी नहीं होती। यदि परावलम्बन को छोड़कर स्वावलम्बन के आधार पर निर्जन कानन में एकाकी ध्यानस्थ रहूं तो भी मैं अपने लक्ष्य तक सहजता से पहुंच सकूंगा। इसी भावना से प्रेरित होकर बीहड़ जंगलों की ओर चल दिये। एकान्त स्थान देख कर कायोत्सर्ग में लीन हो गये। ग्रीष्म, वर्षा व शीत ऋतुएं क्रमशः आई और चली गईं। वन्य-जन्तुओं ने उन्हें नाना प्रकार से त्रास दिया; पक्षियों और चींटियों ने भी उन्हें क्लान्त करने का प्रयत्न किया; पर वे व्युत्सृष्टकाय होकर अपने एकाग्र चिन्तन में अटल रहे। वे किसी भी तरह से विचलित नहीं हुए। एक वर्ष का पूरा समय बीत चुका।

ब्राह्मी-सुन्दरी का आह्वान

भगवान् ऋषभदेव ने एक दिन ब्राह्मी और सुन्दरी से बाहुबली की उत्कट तपस्या का उल्लेख करते हुए कहा—बाहुबली अपने बहुत सारे कर्मों को खपाकर शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी की तरह निर्मल बन रहा है। किन्तु पर्दे के पीछे रहे हुए पदार्थ जैसे दिखाई नहीं देते हैं; अभिमान के कारण उसे भी उसी तरह केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो रहा है। तुम दोनों उसके पास जाओ। तुम्हारे कथन से प्रेरित होकर वह अभिमान छोड़ देगा और अनुत्तर केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त करेगा।

ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों साध्वियां भगवान् के द्वारा प्रेरित होकर उस भयानक जंगल में गईं। बहुत कुछ छान-बीन के अनन्तर उन्होंने ध्यानस्थ मुनि बाहुबली को पहचाना। तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया तथा संगीत के स्वर में बोलीं : "अब तो बन्धव ! करिवर से उतरो।" बारह महीने से चलने वाला एकाग्र चिन्तन बहिनों के शब्दों से सहसा टूटा। वे शब्द उनके हृदय को

वे यह सदा सोचने लगे : "मेरी बहिनें इस घोर कानन में क्यों आई ? वे [illegible] है और यथातथ्यभाषिणी है। मुझे सब प्रकार के सावद्य योगों का प्रत्याख्यान किये एक वर्ष की अवधि समाप्त हो रही है। भूमि पर खड़ा कायोत्सर्ग कर रहा हूं। गज की असवारी मैंने कौनसी कर रखी है ? इसी चिन्तन ने उनके भावी चिन्तन का द्वार खोल दिया। बाहुबली के ऊर्ध्वमुखी चिन्तन ने करवट ली और वह वास्तविकता तक पहुंच गया। रत्नाधिक साधुओं को छोटा मानकर भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में न जाना, इससे बढ़कर दूसरा [illegible] कौन होगा ? उसी समय पूर्व दीक्षित साधुओं को नमस्कार करने के निमित्त उन्होंने चरण बढ़ाये, मोहनीय कर्म का मल—अभिमान समाप्त हुआ और वे सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी बने।

भरत द्वारा साम्राज्य का संचालन

भरत अपनी सेना के साथ अयोध्या लौट आये। चक्र स्वतः ही आयुधशाला में प्रविष्ट हो गया। विजयोल्लास की अपूर्णता नहीं रही। शासन-व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए अपने अधिशास्ता मण्डल को आमन्त्रित किया। नया विधान बनाया, परम्पराएं स्थापित की तथा नाना दण्ड-व्यवस्थाओं का प्रवर्तन भी किया। राजनीति के अंग के रूप में चले आ रहे साम, दान, दण्ड और भेद को और व्यवस्थित किया। मृत्यु-दण्ड की परम्परा भी आरम्भ की। चवदह रत्न[1] व नौ निधियों[2] को यथास्थान स्थापित किया गया। अठारह श्रेणियों[3] को विधिवत् व्यवस्थित किया गया। बत्तीस हजार मण्डलपति अनुचारी राजाओं को अपने-अपने प्रदेश का प्रमुख घोषित कर व्यवस्था-संचालन का भार उन्हें सौंपा गया। ऐश्वर्य और विलास के प्रचुर साधन सबके लिए उपलब्ध किये गये।

श्रावकों का सम्मान

एक बार भगवान् ऋषभदेव ग्रामों और शहरों में विहरण करते हुए अष्टापद (कैलाश) पर्वत पर पधारे। सम्राट् भरत को जब यह ज्ञात हुआ तो अपने परिकर के साथ वे भी प्रभु के दर्शनार्थ आये। प्रवचन सुना। अपने छोटे भाइयों के भी वहां दर्शन किये। उन्हें देखते ही बाल्य जीवन, राज्य-अधिग्रहण व उनके अकल्पित ही दीक्षा-ग्रहण आदि की प्राचीन घटनाएं एक-एक कर भरत के मानस पर उभर आई। पश्चात्ताप के साथ उष्ण निःश्वास निकलने लगे। अपने द्वारा

१. देखें, परिशिष्ट सख्या—२
२. देखें, परिशिष्ट सख्या—२
३. देखें, परिशिष्ट सख्या—२

विजित भाइयों के प्रति घृणा प्रकट करते हुए वे सोचने लगे—मैं वमन की तरह परित्यक्त मानता हूँ। मैंने अपने ही छोटे बन्धुओं से राज्य छीन लिए। क्या मैं यह राज्य और ऐश्वर्य किसी दूसरे को दे दूँ ? नहीं, यह उचित नहीं होगा। एक मास की तपस्या के अनन्तर योग्य तपस्वी जैसे आहार-ग्रहण करते हैं, वैसे ही यदि मैं उन्हें भोग सामग्री व राज्य के लिए निमन्त्रित करूं तो क्या वे मेरे पुण्य से उसे ग्रहण करेंगे ?

भरत ने प्रभु से अपना आशय निवेदित किया तो उन्होंने कहा—हे सरलाशय सम्राट् ! तेरे बन्धु महासत्त्वी हैं। वे वमन किये हुए अन्न की तरह भोगों को स्वीकार नहीं करेंगे।

निराश होकर भरत ने अपने मन में फिर सोचा—यद्यपि मेरे ये विरक्त बन्धु भोगों की ओर तो उन्मुख नहीं होंगे पर प्राण धारण के लिए आहार-ग्रहण तो करेंगे ही। उन्होंने आहार-पानी से पांच सौ बड़े-बड़े शकट भराकर मंगवा लिये और अपने सभी बन्धुओं से उसे ग्रहण करने का अनुरोध किया। आधाकर्म दूषित होने से प्रभु ने उस आहार का भी निषेध कर दिया। भरत ने अपने लिए निष्पन्न भोजन के लिए निवेदन किया तो उसे राजपिण्ड बतला कर प्रभु ने निषेध कर दिया। भरत अत्यन्त निराश हुए। निर्ग्रन्थ बन्धुओं ने उस भोजन को ग्रहण नहीं किया और वापिस ले जाना भरत नहीं चाहते थे। असमंजस में तैरते-डूबते वे कभी भगवान् ऋषभदेव की ओर देख रहे थे तथा कभी समागत इन्द्र की ओर। भगवान् तो इस विषय में मौन थे। इन्द्र ने भरत के मनोगत विचारों को भांपते हुए कहा—आप इस भोजन को विशिष्ट गुण-सम्पन्न पुरुषों को दे दें। भरत को इच्छित मार्ग मिल गया। उन्होंने उस भोजन को निरपेक्ष (विरक्त) श्रावकों में मुक्त हस्त से वितरित कर दिया। उस दिन से श्रावकों का सम्मान भी प्रारम्भ हुआ।

इन्द्र-महोत्सव का प्रारम्भ

भरत ने साश्चर्य इन्द्र से जिज्ञासा की—क्या आप स्वर्ग में इसी रूप में रहते हैं ?

इन्द्र ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—राजन् ! हमारा स्वर्गीय रूप ऐसा नहीं होता। वहां के रूप को मनुष्य अपने नेत्रों से देख भी नहीं सकते।

भरत ने नम्रता के साथ कहा—आपके उस स्वरूप को देखने के लिए मैं उत्कण्ठित तो हूं।

इन्द्र ने कहा—राजन् ! तुम श्लाघ्यपुरुष हो। तुम्हारी प्रार्थना व्यर्थ नहीं होनी चाहिए; अतः मैं तुम्हें अपना एक अंग अवश्य दिखाऊंगा।

इन्द्र ने उचित अलंकारों से सुशोभित होकर एक अनामिका अंगुलि दिखाई

आवाज सुनते हुए व उक्त प्रकार से चिन्तन करते हुए लम्वा समय वीत गया
और वह विशेष उपक्रम भी सहज हो गया। क्रमशः उस ध्वनि-श्रवण से किसी
विशेष भावना की जागृति भी अवरुद्ध हो गई। चक्रवर्ती भरत ने अपने
विचारों मे निस्सग भावना का वल भरने के लिए एक विशेष प्रयत्न और
किया। जव वे राज्य सिंहासन पर आरूढ होते तो दो विशेष नियुक्त व्यक्ति
उच्च स्वर से उद्घोषणा करते 'चेत चेत हो चेत भरत राजान'। इससे भरत की
अनासक्त भावना को उत्तेजन मिलता।

भरत के इस प्रकार नैरन्तरिक ऊर्ध्वमुखी चिन्तन ने क्रमशः उन्हे अनासक्ति
की ओर प्रेरित कर दिया। साम्राज्य-सम्बन्धी कार्यों से निवृत्त होकर वे तत्त्व
चिन्तन व धर्म-कार्यों मे विशेषतः भाग लेने लगे। उस समय श्रावकों
स्वाध्याय के लिए चक्रवर्ती ने अर्हन्तोकी स्तुति, मुनि तथा श्रावकों की समाचा
से पवित्र चार[1] वेद बनाये। कुछ विद्वानों का मत[2] है कि उनके नाम—१. संर
दर्शन वेद, २ सस्थान परामर्शन वेद, ३. तत्त्व बोध वेद और ४. विद्या प्र
वेद थे। "ये वेद नवें तीर्थंकर सुविधिनाथ के समय तक चलते रहे।
और दशवें तीर्थंकर भ० शीतलनाथ का मध्यवर्ती समय काफी लम्वा था,
उस समय जैन साधुओं का विच्छेद हो गया। साधुओं के अभाव में ब्र
वर्ग पूजा जाने लगा और उस वर्ग ने अपनी लोकप्रियता वढाने के निमि
समाज मे अगुआ का पद पाने के लिए निवृत्ति धर्म को गौण कर प्रवृ
की ओर विशेष कदम वढाने आरम्भ कर दिये। अनगार धर्म का विरो
से आरम्भ हुआ और सुलस तथा याज्ञवल्क ऋषि के द्वारा उस समय अ...
की रचना की गई।[3] कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि उन मौलिक वेदों के
मन्त्र कर्णाटक मे जैन ब्राह्मणों को अव तक भी याद हैं।

वेद जैन सस्कृति मे मान्य रहे हैं, इसका प्रमाण आचारांग सूत्र से भी
मिलता है। वहां स्थान-स्थान पर व्यवहृत होने वाला 'वेदवी'[4] शब्द प्रत्येक
अनुसंधाता को इस तथ्य की ओर आकर्षित कर ही लेता है कि जैन संस्कृति

---

१. अर्हत्स्तुति मुनि श्राद्ध सामाचारी पवित्रितान् ।
आर्यान् वेदान् व्यधाच्चक्री, तेषां स्वाध्यायहेतवे ॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १ सर्ग ६ श्लोक २४७
२. पार्श्वनाथ परम्परा का इतिहास
३. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १ सर्ग ६ श्लोक २५६
४. क—एवं से अप्पमाएणं विवेगं कोट्टति वेदवी
—आचारांग सूत्र, श्रुत० १ अ० ५ उ० ४
ख—एस्य विरमेउज वेदवी—आचारांग सूत्र, श्रु० १ अ० ५ उ० ६

मे यदि वेदो का कोई स्थान नही होता या वेद दूसरी संस्कृति के ही होते तो वहा यह शब्द-प्रयोग बहुलता से नही होता।

वेदो की परम्परा जैन और वैदिक दोनो ही धर्मों मे रही और उनके निर्माण, सरक्षण व लोप की विविध घटनाए भी प्रचलित है। वेदो का लोप जैन परम्परा भी मानती है और वैदिक परम्परा भी। पर अन्तर यह है कि जैन परम्परा के अनुसार उन वेदो का उद्धार नही हो सका, जब कि वैदिक परम्परा के अनुसार ब्रह्मा के निकट से मधु और कैटभ दैत्यो द्वारा वेदों का अपहरण हो चुकने पर भगवान् हयग्रीवावतार ने रसातल से पुन: लाकर ब्रह्मा को दे दिये थे। महाभारत[1] मे बताया गया है: "भगवान् ब्रह्मा ने सहस्रदल कमल पर विराजमान होकर जब इधर-उधर दृष्टि दौडाई तो उन्हे जल के अतिरिक्त कुछ भी दृष्टिगोचर नही हुआ। सत्व गुण मे स्थित होकर वे सृष्टि-रचना मे प्रवृत्त हुए। जिस भास्वर कमल पर बैठे थे, उस पर भगवान् नारायण की प्रेरणा से रजोगुण और तमोगुण की प्रतीक जल की दो बूदें पहले से ही अवस्थित थी। ब्रह्मा के दृष्टिपात से एक बूद तमोमय मधु नामक दैत्य के आकार मे परिणित हो गई। उस दैत्य का रग मधु के समान था और उसकी कान्ति बड़ी सुन्दर थी। जल की दूसरी बूद जो कुछ कडी थी, नारायण की आज्ञा से रजोगुण से उत्पन्न कैटभ नामक दैत्य के रूप मे प्रकट हो गई।

तमोगुण और रजोगुण से युक्त मधु और कैटभ, दोनो श्रेष्ठ दैत्य बड़े बलवान् थे। वे अपने हाथो मे गदा लिए कमल नाल का अनुसरण करते हुए आगे बढे। उन दोनो ने ही कमल पुष्प के आसन पर बैठकर सृष्टि-रचना मे प्रवृत्त अमित तेजस्वी ब्रह्मा को देखा एव उनके पास ही मनोहर रूप धारण किये हुए चारों वेदो को देखा। क्षण मात्र मे ही ब्रह्मा को देखते-देखते विशालकाय श्रेष्ठ दानवो ने वेदो का अपहरण कर लिया तथा वे दोनो उत्तर-पूर्ववर्ती महासागर मे घुस गये और शीघ्र ही रसातल मे आ पहुचे।

वेदो के अपहृत हो जाने पर ब्रह्मा बड़े खिन्न हुए। उन पर मोह छा गया। वेदो से रिक्त होकर मन ही मन वे परमात्मा से कहने लगे "वेद ही मेरे उत्तम नेत्र है। वेद ही मेरे परम बल है। वेद ही मेरा परम आश्रय तथा वेद ही मेरे सर्वोत्तम उपास्य है। मेरे वे सभी वेद आज दो दानवो ने बलपूर्वक यहा से छीन लिए है। वेदो के बिना अब मेरे लिये सारा लोक अन्धकार मय हो गया है। वेदो के बिना मै ससार की उत्तम सृष्टि कैसे कर सकता हू ? वेदो के नष्ट हो जाने से मेरे पर बहुत बड़ा दु:ख आ पड़ा, जो मेरे शोक-मग्न हृदय को दु:सह पीड़ा दे रहा है। शोक-समुद्र मे डूबते हुए मुझ असहाय का उद्धार कौन करेगा ? अपहृत वेदो को

---

१. अध्याय ३४७ श्लोक २२ से ७२ के आधार पर

अब कौन लायेगा ? मैं किसको इतना प्रिय हूं, जो मेरी ऐसी सहायता करेगा ?

ब्रह्मा ने इस प्रकार अनुतप्त होते हुए श्रीहरि की तन्मयता में स्तुति करते हुए कहा—स्वयम्भो ! मैं आपकी कृपा से समय-समय पर उत्पन्न होता रहता हूं। मन, नेत्र, वचन, कर्ण, नासिका, ब्रह्माण्ड और कमल से क्रमशः मेरे सात जन्म हुए हैं और मैं प्रत्येक कल्प में आपका पुत्र होकर प्रकट हुआ हूं। आपने मुझे वेद रूपी नेत्रों से युक्त बनाया था। किन्तु मेरे वे नेत्ररूपी वेद दानवों द्वारा हर लिए गये हैं; अतः मैं अन्धा-सा हो गया हूं। प्रभो ! निद्रा-त्याग करें और वे नेत्र पुनः प्रदान करें। मैं आपका प्रिय भक्त हूं और आप मेरे प्रियतम स्वामी हैं।

ब्रह्मा की स्तुति से भगवान् प्रसन्न हुए और अपनी निद्रा-त्याग कर वेदों की रक्षा में उद्यत हो गये। उन्होंने अपने ऐश्वर्य के योग से दूसरा शरीर धारण किया, जो चन्द्रमा के समान कान्तिमान् था। सुन्दर नासिका वाले शरीर से युक्त हो वे घोडे के समान गर्दन और मुख धारण कर प्रकट हुए। उनका वह शुद्ध मुख सम्पूर्ण वेदों का आलय था। हयग्रीव का रूप धारण कर वे श्रीहरि वहां से अन्तर्धान हो गये और रसातल में जा पहुंचे। परम योग का आश्रय लेकर शिक्षा के नियमानुसार उदात्त आदि स्वरों से युक्त उच्च स्वर से सामवेद का गान करने लगे। नाद और स्वर से विशिष्ट सामगान की वह सर्वथा स्निग्ध एवं मधुर ध्वनि रसातल में सब ओर फैल गई, जो समस्त प्राणियों के लिए गुणकारक थी। दोनों ही असुरों ने उस ध्वनि को सुना। वेदों को कालपाश से आबद्ध कर रसातल में फेंक दिया और स्वयं उस ओर ही दौड़ पड़े। हयग्रीव रूप धारक भगवान् श्रीहरि ने इसी बीच मौका पाकर रसातल में पड़े उन सम्पूर्ण वेदों को वहां से उठाया तथा पुनः ब्रह्मा को लाकर सौंप दिया। भगवान् ने महासागर के पूर्वोत्तर भाग में वेदों के आश्रय भूत अपने हयग्रीव रूप की स्थापना कर पुनः पूर्व रूप धारण कर लिया और तब से वे वहीं रहने लगे।

वेद-ध्वनि के स्थान पर आकर मधु और कैटभ; दोनों दानवों ने जब वहां पर कुछ भी नहीं पाया तो बड़े वेग से फिर वहीं लौट आये, जहां उन वेदों को डाला गया था। पर वहां तो खाली जगह पड़ी थी। दोनों बलवान् दानव पुनः उत्तम वेग का आश्रय ले रसातल से ऊँचे उठे। ऊपर आकर उन्होंने आदिकर्ता भगवान् पुरुषोत्तम को देखा, जो चन्द्र के समान विशुद्ध उज्ज्वल प्रभा से विभूषित गौर वर्ण के थे। वे उस समय अनिरुद्ध विग्रह में स्थित थे और योग निद्रा का आश्रय लेकर सो रहे थे। उन्हें लेटे देखकर दोनों दानवराज ठहाका मार कर जोर-जोर से हंसने लगे।

भगवान् की निद्रा भंग नहीं हुई तो रजोगुण व तमोगुण से आविष्ट वे दोनों असुर परस्पर कहने लगे : "यह जो गौर वर्ण पुरुष निद्रा में निमग्न लेटा

[illegible]

[illegible]

ब्राह्मणों की र[illegible]

[illegible]

ब्राह्मण वर्ग की स्थापना की। एक बार भरत चक्रवर्ती ने भगवान ऋषभदेव से उक्त वर्ग के [illegible] के बारे में पूछा था। भगवान् ने कहा—यद्यपि तू ने यह व्यवस्था सदभिप्राय से की है, किन्तु समय अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहता। आगे चलकर यही वर्ग अहंकार से उन्मत्त होकर गुणों से भ्रष्ट हो जायगा और प्रजा के लिए हितकर नहीं होगा।

समय और परिस्थितियों के थपेड़े ऐसे होते हैं कि जिनके आघात से किसी भी वर्ग, परिवार या व्यक्ति का बच पाना कठिन हो जाता है। इनकी अनुकूलता उत्कर्ष की जनयित्री होती है तो प्रतिकूलता अपकर्ष की। सदाशय से आरम्भ की गई प्रवृत्ति भी सुदूर भविष्य के आंचल में सिमटकर निन्द्य भी हो जाया करती है। ब्राह्मण वर्ग की पूजनीयता में भी यही हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। जैन-आगम और वैदिक शास्त्रों में उत्तम ब्राह्मणों के लक्षण[1] एक हैं और उनसे युक्त उनकी पूजनीयता भी समान है। दोनों ही धारायें उनके उत्थान और पतन के कारण स्वीकार करती हैं। पूर्व समय से ऐसा भी ज्ञात होता है कि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जैसे किसी एक ही परम्परा विशेष के वाहक नहीं रहे, वैसे ब्राह्मण भी एक ही परम्परा के अधीन नहीं रहे हों। हर धर्म के

---

१. देखें, उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २५ तथा महाभारत, शान्ति पर्व, अ० १८९

उन्नत वर्ग को ब्राह्मण की संज्ञा दी गई थी। दिगम्बर परम्परा में ब्राह्मण वर्ग के पतन का केवल संकेत मिलता है, किन्तु वैदिक परम्परा में इसकी सुविस्तृत घटना भी मिलती है जो चिन्तन के लिए बहुत कुछ नये तथ्य प्रस्तुत कर देती है। देवी भागवत[1] में कहा गया है — एक बार इन्द्र ने पन्द्रह वर्षों तक वर्षा को रोक दिया। उस अनावृष्टि के कारण घोर दुर्भिक्ष पड़ा। घर-घर में इतनी मौतें एकत्र हो गई कि उनकी अन्त्येष्टि करने वाले नहीं रहे। सभी मानव क्षुधा से पीड़ित होकर एक-दूसरे को खाने के लिए दौड़ते थे। ऐसी दारुण स्थिति में बहुत सारे ब्राह्मणों ने एकत्रित होकर चिन्तन किया कि गौतम ऋषि तपस्या के धनी हैं। इस प्रकार पर वे ही हमारे दुःख-मोचक हो सकते हैं। अतः हम सबको मिलकर उनके आश्रम चलना चाहिए। सुना है, इस समय भी उनके यहां सुभिक्ष ही है। बहुत से प्राणी वहां पहुंच भी चुके हैं।

सर्वसम्मति से सभी ब्राह्मण अपने अग्निहोत्र के सामान, कौटुम्बिक, गोधन तथा दास-दासियों को साथ लेकर गौतम ऋषि के आश्रम पहुंच गये। कुछ व्यक्ति पूर्व दिशा के द्वार से, कुछ दक्षिण दिशा के द्वार से तथा कुछ पश्चिम दिशा के द्वार से तथा कुछ उत्तर दिशा के द्वार से आश्रम में प्रविष्ट हुए। ब्राह्मणों के इतने बड़े समाज को अपने यहां उपस्थित देखकर ऋषिवर ने उन्हें नमस्कार किया। आसन आदि उपचारों से उनकी पूजा की। कुशल-प्रश्न के अनन्तर उनके आगमन का कारण पूछा तो सभी ब्राह्मणों ने अपना-अपना दुःख उनसे निवेदित किया।

वस्तुतः ही ब्राह्मण समाज बहुत दुःखित था। मुनि ने उन सब को अभय प्रदान किया तथा उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा—विप्रो! यह आश्रम आपका ही है। मैं भी आपका ही दास हूं। मेरे रहते हुए आप तनिक भी चिन्तित न हों। इस समय आपके शुभागमन से मैं कृतकृत्य हो गया हूं। जिनके दर्शन-मात्र से दुष्कृत सुकृत में परिणत हो जाते हैं, वे सभी ब्राह्मण अपनी चरण-रज से मेरे इस घर को पवित्र कर रहे हैं। आपके अनुग्रह से मैं धन्य हो गया हूं। मेरे अतिरिक्त अन्य किसको यह सौभाग्य प्राप्त हो सकता है! सन्ध्या और जप में परायण रहने वाले आप सभी द्विजगण सुखपूर्वक मेरे यहां रहने की कृपा करें।

महर्षि गौतम ने सभी ब्राह्मणों को आश्रय देकर भक्ति-विनत हो तन्मयता से भगवती गायत्री की प्रार्थना की। गायत्री प्रसन्न होकर प्रगट हुई और उन्होंने ऋषि को एक ऐसा पूर्ण पात्र दिया, जिससे सबके भरण-पोषण की व्यवस्था हो सकती थी। साथ ही गायत्री ने यह भी कहा कि तुम्हें जिस-किसी वस्तु की इच्छा होगी, यह पात्र उसे पूर्ण कर देगा।

---

१. स्कन्ध १२ अ० ६; कल्याण, देवी भागवत अंक, पृ० ६५८ से ६६ के आधार से

पूर्ण पात्र पाकर गौतम मुनि ने सभी प्रकार के अन्न के इतने ऊंचे ढेर लगा दिये, मानो पर्वत ही हो। छः प्रकार के विविध रस, भांति-भांति के तृण, दिव्य भूषण, रेशमी वस्त्र, यज्ञों की सामग्रियां तथा अनेक प्रकार के पात्र भी सुलभ हो गये। मुनि ने ब्राह्मणों को आमन्त्रित कर उन्हें प्रसन्नतापूर्वक धन-धान्य, वस्त्र-भूषण, गाय, भैंस आदि पशु समर्पित किये। स्वर्ग की समानता रखने वाला वह आश्रम उस समय एक महान् आश्रय-स्थल हो गया था। नित्य उत्सव मनाये जाते थे। न किसी को रोग का भय था और न किसी को दैत्य आदि का भय। उस समय वह आश्रम चारों ओर से सौ-सौ योजन के विस्तार में था। अन्य भी बहुत सारे प्राणी वहां आये और आत्म-ज्ञानी मुनि ने उन सब को अभय प्रदान कर उनके भरण-पोषण की व्यवस्था की। इस प्रकार बारह वर्षों तक गौतम ऋषि श्रेष्ठ ब्राह्मणों व अन्य व्यक्तियों की व्यवस्था में संलग्न रहे।

एक बार घूमते-फिरते नारद ऋषि उस आश्रम में पहुंच गये। गौतम ऋषि आदि ने उनका विधिवत् स्वागत किया। गौतम मुनि का यशोगान करते हुए नारदजी ने कहा—मैं देव-सभा में गया था। वहां इन्द्र ने कहा—सब का भरण-पोषण कर गौतम ऋषि ने विशाल निर्मल यश अर्जित किया है। इन्द्र की यह बात सुनकर ऋषिवर ! मैं आपका आश्रम देखने के लिए यहां चला आया।

उपस्थित कुछ एक कृतघ्न ब्राह्मण ऋषि के उस उत्कर्ष से ईर्ष्या करने लगे। उन्होंने द्वेषवश यह निश्चय किया कि हमें ऐसा प्रयत्न भी करना चाहिए, जिससे इनकी ख्याति बढ़ न सके।

धीरे-धीरे पन्द्रह वर्षों का वह समय व्यतीत हुआ। धरातल पर वृष्टि भी होने लगी। सारे देश में सुभिक्ष की बातें सुनाई पड़ने लगीं। कृतघ्न ब्राह्मणों ने मुनि को शाप देने की बुद्धि से माया की एक गौ बनाई। उसका शरीर पूर्णतः जीर्ण-शीर्ण था। ऐसा लगता था कि किसी भी समय इसका प्राणान्त हो जाये। गौतम मुनि यज्ञशाला में हवन कर रहे थे। वह गौ भी वहां पहुंच गई। ऋषिवर ने 'हुं हुं' शब्द से वारण किया और उसी समय गौ ने प्राण-त्याग कर दिया। उन ब्राह्मणों ने यह हल्ला मचा दिया कि दुष्ट गौतम ने इस गौ की हत्या की है। हवन-समाप्ति के बाद जब ऋषि ने यह सब कुछ सुना तो अत्यन्त आश्चर्यान्वित हुए। वे आंखें मूंद कर समाधि में स्थित हुए तो उन्हें यह जानने में समय नहीं लगा कि यह काली करतूत किनकी है। वे इतने गुस्से में भर आये जैसे कि प्रलयकालीन रुद्र ही हों। आंखें लाल हो गईं और अपने से द्वेष रखने वाले उन सभी ब्राह्मणों को बार-बार दुहराकर यह शाप दिया, "अरे अधम ब्राह्मणो! आज से तुम वेद माता गायत्री के ध्यान और उसके मन्त्र-जप के सर्वथा अनधिकारी हो जाओ। वेद, वेदोक्त यज्ञ तथा वेद की वार्ताओं में;

शिव की उपासना, शिव मन्त्र का जप तथा शिव-सम्बन्धी शास्त्राध्ययन मे भी
अनधिकारी हो जाओ। देवी के मन्त्र, देवी के स्थान और उनके अनुष्ठान कर्म
मे तुम्हारा अनधिकार होगा, अत तुम सदा अधम ही समझे जाओगे। देवी का
उत्सव देखने और उनके नामो का कीर्तन करने मे विमुख होने के कारण तुम
-सदा अधम बने रहोगे। देवी भक्त के समीप रहने और देवी भक्तों की अर्चना
-करने के लिए अनधिकारी होकर तुम लोग सदा नीच ब्राह्मण की श्रेणी मे
रहोगे। भगवान् शिव का उत्सव देखने और शिव भक्त का सम्मान करने में
-तुम्हारा अधिकार नही होगा, जिससे तुम सदा अधम ब्राह्मण गिने जाओगे।
रुद्राक्ष, बिल्वपत्र और शुद्ध भस्म धारण करने से वंचित होकर तुम सदा अधम
-ब्राह्मण होकर जीवन व्यतीत करोगे। श्रौत-स्मार्त-सम्बन्धी सदाचार तथा ज्ञान-
मार्ग में तुम्हारी गति नही होगी, अतः तुम सदा अधम ब्राह्मण समझे जाओगे।
अद्वैत ज्ञाननिष्टा तथा शम-दम आदि साधन से तुम सदा उन्मुख होकर अधम
ब्राह्मण बन जाओ। नित्यकर्म आदि के अनुष्ठान तथा अग्निहोत्र आदि साधन
मे भी तुम्हारा अनधिकार हो और तुम सदा के लिए अधम बन जाओ। स्वाध्या-
याध्यन तथा प्रवचन से उन्मुख होकर सर्वदा अधम जीवन व्यतीत करो। गौ
आदि दान और पितरों के श्राद्ध से तुम विमुख हो जाओ। कृच्छ्र, चान्द्रायण
तथा प्रायश्चित्त व्रत मे तुम्हारा सदा के लिए अनधिकार हो जाओ। पिता, माता,
पुत्र, भ्राता, कन्या और भार्या का विक्रय करने वाले व्यक्ति के समान होकर
तुम्हे नीच ब्राह्मण होने का अवसर मिल जाये। अधम ब्राह्मणो! वेद का विक्रय
करने वाले तथा तीर्थ एवं धर्म बेचने मे लगे हुए नीच व्यक्तियो को जो गति
मिलती है, वही तुम्हे प्राप्त हो। तुम्हारे वश मे उत्पन्न स्त्री तथा पुरुष मेरे
दिये हुए शाप से दग्ध होकर तुम्हारे ही समान होंगे।"

ब्राह्मणों को इस प्रकार वचन-दण्ड देने के अनन्तर गौतम ऋषि ने जल से
-आचमन किया। भगवती गायत्री के दर्शनार्थ वे देवालय मे गये। चरणो मे
मस्तक झुकाया तो वे कहने लगी—महाभाग। सर्प का दुग्ध-पान उसके विष
की अभिवृद्धि का हेतु बनता है। तुम धैर्य धारण करो। कर्म की ऐसी ही विपरीत
-गति है।

शाप से दग्ध होने के कारण उन ब्राह्मणों ने जितना वेदाध्ययन किया था,
वह सारा विस्मृत हो गया। गायत्री मन्त्र भी उनके लिए अनभ्यस्त हो गया।
एक अत्यन्त भयानक दृश्य उपस्थित हो गया। सारे एकत्रित होकर अत्यन्त
पश्चात्ताप करने लगे। दण्ड की भांति पृथ्वी पर गिरकर उन्होने गौतम मुनि
को प्रणाम किया। लज्जा के कारण उनके शिर झुके हुए थे और वे कुछ भी
कहने में असमर्थ थे। उनके मुंह से बार-बार यही ध्वनि निकल रही थी—
मुनिवर! प्रसन्न हों, मुनिवर! प्रसन्न हों। चारों ओर मे घेर कर जब वे

...[illegible] को प्राप्त करने ... भी उनका [illegible] हृदय [illegible] से भर [illegible]। [illegible] भगवान् [illegible] का जन्म [illegible], तुम कुम्भीपाक नरक में उत्पन्न ही करना होगा, क्योंकि मेरा वचन मिथ्या हो नहीं सकता। इसके बाद तुम लोगों का कलियुग में इस भूमण्डल पर जन्म होगा। ऐसा कहते हुए वे [illegible] अन्यथा नहीं हो सकती। यदि तुम्हें पाप से मुक्त होना है तो तुम सब ब्राह्मणों के लिए यह परम आवश्यक है कि भगवती गायत्री के चरण कमल की सदा उपासना करो।

महर्षि गौतम ने उन सब ब्राह्मणों को सभा से विदा किया और उन्हें प्रारब्ध का प्रभाव समझकर अपना दिन का [illegible] किया।

जब कलियुग आया, तब कुम्भीपाक नरक से निकलकर वे ब्राह्मण भूमण्डल पर आये। पूर्वकाल में जितने ब्राह्मण शापित हो चुके थे, वे ही त्रिकाल सन्ध्या से हीन तथा गायत्री की भक्ति से विमुख होकर यहां उत्पन्न हुए। उस शाप के प्रभाव से ही वेदों में उनकी श्रद्धा नहीं रही और वे पाखण्ड का प्रचार करने लगे। वे अग्निहोत्र आदि सत्कर्म नहीं करते और उनके मुख से स्वधा और स्वाहा का उच्चारण भी नहीं होता। उन सबके दण्डित होने पर भी उनके द्वारा दुराचार का ही प्रचार होता है। बहुत सारे सम्भ्रान्त लोग हैं, जो अत्यन्त दुराचारी होकर परस्त्रियों के साथ कुत्सित व्यवहार करने के कारण अपने घृणित कर्म के प्रभाव से पुनः कुम्भीपाक नरक में ही जायेंगे।

यज्ञोपवीत

चक्रवर्ती को प्रतिबोध देने वाले श्रावकों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती गई। सच्चे श्रावकों के साथ अकर्मण्य व काम से जी चुराने वाले भी चक्रवर्ती के आवास पर पहुंचने लगे और श्रावकों के साथ उनके लिए भी ससम्मान भोजन व जीवनोपयोगी अन्य साधन सहजतया उपलब्ध होने लगे। रसोइये ने एक दिन सम्राट् से सारी वस्तुस्थिति निवेदित करते हुए कहा—बेकारों की फौज बढ़ती जा रही है। बहुत सारे ऐसे भी है जो नवकार मन्त्र भी नहीं जानते, पर सम्राट् को प्रतिबोधित करने के लिए शुक की भांति रटा-रटाया पाठ दुहराकर मुफ्त में खाना पाते रहते है।

सम्राट् भरत के मन में इस अकर्मण्यता के प्रति सात्त्विक रोष उभर आया। उन्होंने रसोइये को आज्ञा दी—तुम श्रावक हो। धर्म को भली-भांति जानते हो, अत: जो भी तुम्हारे पास आये, पहले तुम उसकी परीक्षा करो और फिर मेरे पास लेकर आओ।

रसोइये ने भोजन के लिए आने वाले सज्जनों की परीक्षा आरम्भ की। वह प्रत्येक व्यक्ति से नवकार मन्त्र सुनता, श्रावक के लक्षण पूछता तथा पांच

गुव्रतों व सात शिक्षाव्रतों के बारे में नाना प्रश्न पूछता। उसे जिन पर पूर्णतः विश्वास हो जाता, उन्हे चक्रवर्ती के समक्ष उपस्थित करता तथा जो निठल्ले होते, उन्हे वही से निकाल देता। भरत अपनें काकिणी रत्न से प्रत्येक श्रावक के वक्षःस्थल पर ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्रतीक यज्ञोपवीत की तरह तीन रेखायें खींच देते। हर छठे महीने उन श्रावकों की परीक्षा होती और उत्तीर्ण व्यक्तियों के वक्षःस्थल पर पुनः उसी रत्न से तीन रेखाएं खीची जातीं। रसोइये को पहचानने मे सुविधा हो गई और बेकारो की बढ़ती हुई फौज रुक गई।

श्रावकों की यह श्रेणी सर्वथा ही नई हुई थी। वे अपना सारा समय तप, जप, स्वाध्याय, ध्यान आदि कार्यों में ही लगाने लगे। संसार से सर्वथा दूर नही हुए, पर लगभग अपना सम्बन्ध तोड लिया। उनके पुत्र-पौत्रादिक साधुओं के पास प्रव्रजित होने लगे। दीक्षित होने मे जो असमर्थ होते व परीषहादिक असहिष्णु होते वे श्रावको की इस पंक्ति मे आ जाते और इस श्रमणभूत पर्याय मे अपना जीवन निर्वाह करते। भरत द्वारा संस्थापित इस परम्परा का सूर्ययशा, महायशा, अतिबल, बलभद्र, बलवीर्य, कीर्तिवीर्य, जलवीर्य और दण्डवीर्य आदि उनके आठ उत्तराधिकारियों ने भी निर्वाह किया। काकिणी रत्न द्वारा लांछित तीन रेखाओं का भरत के निर्वाण के साथ ही लोप हो गया। सूर्ययशा ने उसके स्थान पर सोने की जंजीर का प्रचलन किया। महायशा के समय यज्ञोपवीत चांदी का बना और फिर क्रमशः रेशम के धागों का व रुई के धागों का प्रयुक्त होने लगा। आठों ही राजाओ ने अर्ध भरत में अपना साम्राज्य चलाया और इन्द्र द्वारा सम्राट् भरत को प्रदत्त मुकुट को भी धारण किया, पर उसके बाद बहुत भारी होने से उसका उपयोग नही किया जा सका।

भावी तीर्थंकर व चक्रवर्ती कौन ?

शासन-सूत्र का सम्यक् संचालन व अनासक्त भावना में अपना जीवन व्यतीत करते हुए भरत एक अनूठा ही उदाहरण उपस्थित कर रहे थे। कमल की भाति साम्राज्य से निर्लेप रह कर धर्म-जागरण करते हुए अपनी आत्मा को भावित कर रहे थे। एक बार भगवान् ऋषभदेव जनपद को पावन करते हुए अयोध्या पधारे। चक्रवर्ती भरत उनके दर्शनार्थ वहा आये। भगवान् ने अपने प्रवचन में मानव-जीवन की अमूल्यता पर प्रकाश डाला। परिषद् के बीच ही सम्राट् भरत ने एक जिज्ञासा उपस्थित की : "प्रभो ! इस भरत क्षेत्र में आपके सदृश कितने धर्म-चक्री होंगे और चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव व प्रतिवासुदेव कितने होंगे ?"

भगवान् ऋषभदेव ने इस प्रश्न को सविस्तार समाहित करते हुए आगामी तेबीस तीर्थंकर व ग्यारह चक्रवर्ती, नौ-नौ वासुदेव, बलदेव और प्रतिवासुदेव

के गोत्र, नगर, माता-पिता, नाम, आयु, वर्ण, शरीर का मान, पारस्परिक अन्तर, दीक्षा-पर्याय तथा गति आदि के सम्बन्ध में प्रकाश डाला।

भरत ने दूसरा प्रश्न पूछा : "विभो ! आज की इस परिषद् में ऐसी भी कोई आत्मा है; जो आपकी तरह तीर्थ की स्थापना कर इस भरत क्षेत्र को पवित्र करेगी ?"

भगवान् ने उत्तर दिया—अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। तेरा पुत्र मरीचि प्रथम त्रिदण्डी परिव्राजक है। आर्त-रौद्र ध्यान से रहित, सम्यक्त्व से सुशोभित व धर्म ध्यान का एकान्त में अवलम्बन करता है। इसकी आत्मा अब तक कर्म-मल से मलिन है। शुक्ल ध्यान के अवलम्बन से क्रमशः वह शुद्ध होगी। इस भरत क्षेत्र के पोतनपुर नगर में इसी अवसर्पिणी काल में वह त्रिपृष्ट नामक पहला वसुदेव होगा। क्रमशः परिभ्रमण करता हुआ, वह पश्चिम महा-विदेह में धनजय और धारणी दम्पति का पुत्र होकर प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती होगा। अपने ससार-परिभ्रमण को समाप्त करता हुआ वह इसी चौबीसी में महावीर नामक चौबीसवां तीर्थंकर होकर तीर्थ की स्थापना करेगा तथा स्वयं सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बनेगा।

अपने प्रश्न का उत्तर सुनकर भरत बहुत आह्लादित हुए। उन्हें इस बात से भी अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि उनका पुत्र पहला वासुदेव, चक्रवर्ती व अन्तिम तीर्थंकर होगा। परिव्राजक मरीचि को सूचना व बधाई देने के निमित्त भगवान् के पास से वे उसके पास आये। भगवान् से हुए अपने वार्तालाप से उसे परिचित किया और अयोध्या लौट आये। मरीचि को इससे अपार प्रसन्नता हुई। वह तीन ताल देकर आकाश में उछला और अपने भाग्य को बार-बार सराहने लगा। उच्च स्वर से बोलने लगा—मेरा कुल कितना श्रेष्ठ है। मेरे दादा प्रथम तीर्थंकर है। मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती है। मैं पहला वासुदेव होऊगा व चक्रवर्ती होकर अन्तिम तीर्थंकर होऊगा। मेरे सभी मनोरथ पूर्ण हुए। सब कुलों में मेरा ही कुल सर्वश्रेष्ठ है।

व्यक्ति अपने मानसिक स्पन्दन, वाचिक स्फुरणा व कायिक प्रवृत्तियों से कर्म-पुद्गलों को आकृष्ट करता रहता है। मद, दम्भ व लालसा आदि व्यक्ति के कार्यों को मलिन करने के साथ-ही-साथ आत्म-भावों को भी अपवित्र करते है। कुल का मद मरीचि के पवित्र जीवन को दूषित करने वाला बना।

अल्पारम्भी या बहु-आरम्भी

भरत की जिज्ञासा पूर्ण होने के अनन्तर श्री ऋषभसेन गणधर ने भगवान् से पूछा : "भन्ते ! षट्खण्डाधिप चक्रवर्ती भरत अल्पारम्भी है या बहु आरम्भी ? इसकी गति कौनसी है ?"

अणुव्रतों व सात शिक्षाव्रतों के बारे में नाना प्रश्न पूछता । उसे जिन पर पूर्णतः विश्वास हो जाता, उन्हें चक्रवर्ती के समक्ष उपस्थित करता तथा जो निठल्ले होते, उन्हें वहीं से निकाल देता । भरत अपनें काकिणी रत्न से प्रत्येक श्रावक के वक्षःस्थल पर ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्रतीक यज्ञोपवीत की तरह तीन रेखायें खींच देते । हर छठे महीने उन श्रावकों की परीक्षा होती और उत्तीर्ण व्यक्तियों के वक्षःस्थल पर पुनः उसी रत्न से तीन रेखाएं खींची जाती । रसोइये को पहचानने मे सुविधा हो गई और बेकारों की बढती हुई फौज रुक गई ।

श्रावको की यह श्रेणी सर्वथा ही नई हुई थी । वे अपना सारा समय तप, जप, स्वाध्याय, ध्यान आदि कार्यों में ही लगाने लगे । ससार से सर्वथा दूर नही हुए, पर लगभग अपना सम्बन्ध तोड़ लिया । उनके पुत्र-पौत्रादिक साधुओं के पास प्रव्रजित होने लगे । दीक्षित होने में जो असमर्थ होते व परीपहादिक मे असहिष्णु होते वे श्रावको की इस पंक्ति में आ जाते और इस श्रमणभूत पर्याय में अपना जीवन निर्वाह करते । भरत द्वारा संस्थापित इस परम्परा का सूर्ययश, महायश, अतिबल, बलभद्र, बलवीर्य, कीर्तिवीर्य, जलवीर्य और दण्डवीर्य आदि उनके आठ उत्तराधिकारियों ने भी निर्वाह किया । काकिणी रत्न द्वारा लाछित तीन रेखाओं का भरत के निर्वाण के साथ ही लोप हो गया । सूर्ययश ने उसके स्थान पर सोने की जंजीर का प्रचलन किया । महायश के समय यज्ञोपवीत चांदी का बना और फिर क्रमशः रेशम के धागों का व रुई के धागों का प्रयुक्त होने लगा । आठों ही राजाओं ने अर्ध भरत में अपना साम्राज्य चलाया और इन्द्र द्वारा सम्राट् भरत को प्रदत्त मुकुट को भी धारण किया, पर उसके बाद बहुत भारी होने से उसका उपयोग नही किया जा सका ।

भावी तीर्थंकर व चक्रवर्ती कौन ?

शासन-सूत्र का सम्यग् सचालन व अनासक्त भावना में अपना जीवन व्यतीत करते हुए भरत एक अनूठा ही उदाहरण उपस्थित कर रहे थे । कमल की भाति साम्राज्य से निर्लेप रह कर धर्म-जागरण करते हुए अपनी आत्मा को भावित कर रहे थे । एक बार भगवान् ऋषभदेव जनपद को पावन करते हुए अयोध्या पधारे । चक्रवर्ती भरत उनके दर्शनार्थ वहा आये । भगवान् ने अपने प्रवचन में मानव-जीवन की अमूल्यता पर प्रकाश डाला । परिषद् के बीच ही सम्राट् भरत ने एक जिज्ञासा उपस्थित की : "प्रभो ! इस भरत क्षेत्र में आपके सदृश कितने धर्म-चक्री होंगे और चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव व प्रतिवासुदेव कितने होंगे ?"

भगवान् ऋषभदेव ने इस प्रश्न को सविस्तार समाहित करते हुए आगामी तेवीस तीर्थंकर व ग्यारह चक्रवर्ती, नौ-नौ वासुदेव, बलदेव और प्रतिवासुदे

के गोत्र, नगर, माता-पिता, नाम, आयु, वर्ण, शरीर का मान, पारस्परिक अन्तर, दीक्षा-पर्याय तथा गति आदि के सम्बन्ध में प्रकाश डाला।

भरत ने दूसरा प्रश्न पूछा : "प्रभो ! आज की इस परिषद् में ऐसी भी कोई आत्मा है ; जो आपकी तरह तीर्थ की स्थापना कर इस भरत क्षेत्र को पवित्र करेगी ?"

भगवान् ने उत्तर दिया—अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। तेरा पुत्र मरीचि प्रथम त्रिदण्डी परिव्राजक है। आर्त्त-रौद्र ध्यान से रहित, सम्यक्त्व से सुशोभित व धर्म ध्यान का एकान्त में अवलम्बन करता है। इसकी आत्मा अब तक कर्म-मल से मलिन है। शुक्ल ध्यान के अवलम्बन से क्रमशः वह शुद्ध होगी। इस भरत क्षेत्र के पोतनपुर नगर में इसी अवसर्पिणी काल में वह त्रिपृष्ट नामक पहला वासुदेव होगा। क्रमशः परिभ्रमण करता हुआ, वह पश्चिम महाविदेह में धनंजय और धारणी दम्पति का पुत्र होकर प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती होगा। अपने संसार-परिभ्रमण को समाप्त करता हुआ वह इसी चौबीसी में महावीर नामक चौबीसवां तीर्थंकर होकर तीर्थ की स्थापना करेगा तथा स्वयं सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बनेगा।

अपने प्रश्न का उत्तर सुनकर भरत बहुत आह्लादित हुए। उन्हें इस बात से भी अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि उनका पुत्र पहला वासुदेव, चक्रवर्ती व अन्तिम तीर्थंकर होगा। परिव्राजक मरीचि को सूचना व बधाई देने के निमित्त भगवान् के पास से वे उसके पास आये। भगवान् से हुए अपने वार्तालाप से उसे परिचित किया और अयोध्या लौट आये। मरीचि को इससे अपार प्रसन्नता हुई। वह तीन ताल देकर आकाश में उछला और अपने भाग्य को बार-बार सराहने लगा। उच्च स्वर से बोलने लगा—मेरा कुल कितना श्रेष्ठ है। मेरे दादा प्रथम तीर्थंकर हैं। मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती हैं। मैं पहला वासुदेव होऊंगा व चक्रवर्ती होकर अन्तिम तीर्थंकर होऊंगा। मेरे सभी मनोरथ पूर्ण हुए। सब कुलों में मेरा ही कुल सर्वश्रेष्ठ है।

व्यक्ति अपने मानसिक स्पन्दन, वाचिक स्फुरणा व कायिक प्रवृत्तियों से कर्म-पुद्गलों को आकृष्ट करता रहता है। मद, छद्म व लालसा आदि व्यक्ति के कार्यों को मलिन करने के साथ-ही-साथ आत्म-भावों को भी अपवित्र करते हैं। कुल का मद मरीचि के पवित्र जीवन को दूषित करने वाला बना।

अल्पारम्भी या बहु-आरम्भी

भरत की जिज्ञासा पूर्ण होने के अनन्तर श्री ऋषभसेन गणधर ने भगवान् से पूछा : "भन्ते ! षट्खण्डाधिप चक्रवर्ती भरत अल्पारम्भी हैं या बहु-आरम्भी ? इनकी गति कौनसी है ?"

अणुव्रतों व सात शिक्षाव्रतों के बारे में नाना प्रश्न पूछता। उसे जिन पर पूर्णतः विश्वास हो जाता, उन्हें चक्रवर्ती के समक्ष उपस्थित करता तथा जो निठल्ले होते, उन्हे वहीं से निकाल देता। भरत अपनें काकिणी रत्न से प्रत्येक श्रावक के वक्षःस्थल पर ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्रतीक यज्ञोपवीत की तरह तीन रेखायें खींच देते। हर छठे महीने उन श्रावकों की परीक्षा होती और उत्तीर्ण व्यक्तियों के वक्षःस्थल पर पुनः उसी रत्न से तीन रेखाएं खींची जाती। रसोइये को पहचानने में सुविधा हो गई और बेकारों की बढती हुई फौज रुक गई।

श्रावको की यह श्रेणी सर्वथा ही नई हुई थी। वे अपना सारा समय तप, जप, स्वाध्याय, ध्यान आदि कार्यों मे ही लगाने लगे। ससार से सर्वथा दूर नही हुए, पर लगभग अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। उनके पुत्र-पौत्रादिक साधुओं के पास प्रव्रजित होने लगे। दीक्षित होने मे जो असमर्थ होते व परीषहादिक मे असहिष्णु होते वे श्रावकों की इस पंक्ति में आ जाते और इस श्रमणभूत पर्याय में अपना जीवन निर्वाह करते। भरत द्वारा संस्थापित इस परम्परा का सूर्ययशा, महायशा, अतिबल, बलभद्र, बलवीर्य, कीर्तिवीर्य, जलवीर्य और दण्डवीर्य आदि उनके आठ उत्तराधिकारियों ने भी निर्वाह किया। काकिणी रत्न द्वारा लांछित तीन रेखाओं का भरत के निर्वाण के साथ ही लोप हो गया। सूर्ययशा ने उसके स्थान पर सोने की जंजीर का प्रचलन किया। महायशा के समय यज्ञोपवीत चांदी का बना और फिर क्रमशः रेशम के धागो का व रुई के धागों का प्रयुक्त होने लगा। आठो ही राजाओं ने अर्ध भरत मे अपना साम्राज्य चलाया और इन्द्र द्वारा सम्राट् भरत को प्रदत्त मुकुट को भी धारण किया, पर उसके बाद बहुत भारी होने से उसका उपयोग नही किया जा सका।

भावी तीर्थंकर व चक्रवर्ती कौन ?

शासन-सूत्र का सम्यक् संचालन व अनासक्त भावना में अपना जीवन व्यतीत करते हुए भरत एक अनूठा ही उदाहरण उपस्थित कर रहे थे। कमल की भांति साम्राज्य से निर्लेप रह कर धर्म-जागरण करते हुए अपनी आत्मा को भावित कर रहे थे। एक बार भगवान् ऋषभदेव जनपद को पावन करते हुए अयोध्या पधारे। चक्रवर्ती भरत उनके दर्शनार्थ वहा आये। भगवान् ने अपने प्रवचन में मानव-जीवन की अमूल्यता पर प्रकाश डाला। परिषद् के बीच ही सम्राट् भरत ने एक जिज्ञासा उपस्थित की: "प्रभो! इस भरत क्षेत्र में आपके सदृश कितने धर्म-चक्री होंगे और चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव व प्रतिवासुदेव होंगे ?"

[भ]गवान् ऋषभदेव ने इस प्रश्न को सविस्तार समाहित करते हुए आगामी [...] तीर्थंकर व ग्यारह चक्रवर्ती, नौ-नौ वासुदेव, बलदेव और प्रतिवासुदेव

के क्षेत्र, नगर, माता-पिता, नाम, आयु, वर्ण, शरीर का मान, पारस्परिक अन्तर, दीक्षा-पर्याय तथा गति आदि के सम्बन्ध में प्रकाश डाला।

भरत ने दूसरा प्रश्न पूछा : "विभो ! आज की इस परिषद् में ऐसी भी कोई आत्मा है ; जो आपकी तरह तीर्थ की स्थापना कर इस भरत क्षेत्र को पवित्र करेगी ?"

भगवान् ने उत्तर दिया—अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। तेरा पुत्र मरीचि प्रथम त्रिदण्डी परिव्राजक है। आर्त-रौद्र ध्यान से रहित, सम्यक्त्व से सुशोभित व धर्म ध्यान का एकान्त में अवलम्बन करता है। इसकी आत्मा अब तक कर्म-मल से मलिन है। शुक्ल ध्यान के अवलम्बन से क्रमशः वह शुद्ध होगी। इस भरत क्षेत्र के पोतनपुर नगर में इसी अवसर्पिणी काल में वह त्रिपृष्ट नामक पहला वासुदेव होगा। क्रमशः परिभ्रमण करता हुआ, वह पश्चिम महाविदेह में धनञ्जय और धारणी दम्पत्ति का पुत्र होकर प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती होगा। अपने संसार-परिभ्रमण को समाप्त करता हुआ वह इसी चौबीसी में महावीर नामक चौबीसवां तीर्थंकर होकर तीर्थ की स्थापना करेगा तथा स्वयं सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बनेगा।

अपने प्रश्न का उत्तर सुनकर भरत बहुत आह्लादित हुए। उन्हें इस बात से भी अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि उनका पुत्र पहला वासुदेव, चक्रवर्ती व अन्तिम तीर्थंकर होगा। परिव्राजक मरीचि को सूचना व बधाई देने के निमित्त भगवान् के पास से वे उसके पास आये। भगवान् से हुए अपने वार्तालाप से उसे परिचित किया और अयोध्या लौट आये। मरीचि को इससे अपार प्रसन्नता हुई। वह तीन ताल देकर आकाश में उछला और अपने भाग्य की बार-बार सराहने लगा। उच्च स्वर से बोलने लगा—मेरा कुल कितना श्रेष्ठ है। मेरे दादा प्रथम तीर्थंकर है। मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती हैं। मैं पहला वासुदेव होऊंगा व चक्रवर्ती होकर अन्तिम तीर्थंकर होऊंगा। मेरे सभी मनोरथ पूर्ण हुए। सब कुलों में मेरा ही कुल सर्वश्रेष्ठ है।

व्यक्ति अपने मानसिक स्पन्दन, वाचिक स्फुरणा व कायिक प्रवृत्तियों से कर्म-पुद्गलों को आकृष्ट करता रहता है। मद, छद्म व लालसा आदि व्यक्ति के कार्यों को मलिन करने के साथ-ही-साथ आत्म-भावों को भी अपवित्र करते है। कुल का मद मरीचि के पवित्र जीवन को दूषित करने वाला बना।

अल्पारम्भी या बहु-आरम्भी

भरत की जिज्ञासा पूर्ण होने के अनन्तर श्री ऋषभसेन गणधर ने भगवान् से पूछा : "भन्ते ! षट्खण्डाधिप चक्रवर्ती भरत अल्पारम्भी हैं या बहु-आरम्भी ? इनकी गति कौनसी है ?"

अभियुक्त—हां, महाराज !

भरत—नगर में आज तू ने क्या-क्या देखा ?

अभियुक्त—कुछ भी नहीं देखा महाराज !

भरत—स्थान-स्थान पर होने वाले नाटक तो देखे होंगे ?

अभियुक्त—महाराज ! आज तो मुझे मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ भी दिखलाई नहीं देता था।

भरत—कहीं संगीत तो सुना होगा ?

अभियुक्त—आपकी साक्षी से कहता हूं, मौत की गुनगुनाहट के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सुना। नाटक या संगीत हो रहे होंगे, पर मेरे लिए तो प्राणों का प्रश्न था। इधर-उधर देखकर आनन्द लूटूं या प्राण बचाकर जिन्दगी का सुख लूटूं ?

भरत—मौत का इतना डर ?

अभियुक्त—सम्राट् ! आप इसे क्या जानें ? यह तो वही जान सकता है, जिसके ऊपर बीतती है।

भरत—तो क्या मैं अमर रहूंगा ? तू तो एक जीवन की मौत से डर गया। न कहीं तू ने नाटक देखा, न कहीं संगीत सुना और न कहीं ऊंची नजर ही उठाई। मैं तो मौत की लम्बी परम्परा से परिचित हूं, अतः क्या यह साम्राज्य मुझे लुभा सकता है ?

अभियुक्त का सिर शर्म से झुक गया। उसे अपनी उद्दण्डता पर घृणा हुई। उसने क्षमा मांगी और अपराध मुक्त होकर अपने घर चला गया।

भरत के सोलह स्वप्न

श्वेताम्बर परम्परा में सम्राट् चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्न प्रसिद्ध हैं, किन्तु दिगम्बर परम्परा में चक्रवर्ती भरत और सम्राट् चन्द्रगुप्त, दोनों के सोलह-सोलह स्वप्न विश्रुत हैं। दोनों ही प्रकार के स्वप्नों का परिणाम पंचम आरे से सम्बन्धित है।

चक्रवर्ती भरत ने एक ही रात में सोलह स्वप्न देखे। वे उस स्वप्न-दर्शन से नितान्त चिन्तित हुए। बहुत कुछ विमर्श के अनन्तर भी वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके। वे प्रातःकाल कैलाश पर्वत पर विराजमान भगवान् श्री ऋषभदेव के समवसरण में पहुंचे। वन्दना और स्तुति के अनन्तर उन्होंने अपने एक-एक कर सारे स्वप्न निवेदित किये और भगवान् से उनका फलादेश जानना चाहा। भगवान् श्री ऋषभदेव उन स्वप्नों को सुनकर गम्भीर हो गये। भरत सहमे और उन्होंने पूछा—क्यों, महाप्रभु ! ये स्वप्न कैसे हैं ? भगवान् ने उत्तर दिया—इन स्वप्नों में भावी पंचम आरे का निदर्शन है, जो बड़ा ही वीभत्स

भगवान् ने उत्तर दिया—भरत अल्पारम्भी है और चरमशरीरी है; अतः इसी जन्म में मोक्षगामी है।

भगवान् द्वारा प्रदत्त यह उत्तर पानी में तेल बिन्दु की तरह अतिशीघ्र ही सारे शहर में फैल गया। कुछ एक उसे सुनकर हर्षित हुए और कुछ एक ने उसका उपहास भी किया। एक बार सम्राट् के समक्ष नगर-रक्षक ने एक चोर को उपस्थित किया। उसका अपराध प्रमाणित हो चुका था; अतः उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। चोर गिड़गिड़ाने लगा और चक्रवर्ती से अपने अपराध की क्षमा मांगने लगा। उसने आग्रहपूर्वक दूसरी बार अपराध न करने का विश्वास दिलाया। करुणाशील चक्रवर्ती ने यह कहते हुए कि चोरी छोड़ देने से चोर तो स्वतः ही समाप्त हो जाता है, अपराधी को मुक्त कर दिया।

दण्ड-मुक्त हो जाने से चोर ने सुख की सांस ली; पर चोरी नहीं छोड़ी। एक बार वह फिर उसी अपराध में पकड़ा गया। नगर-रक्षक उसे लेकर चक्रवर्ती के पास आया। अपराध की पुनरावृत्ति को देखकर सम्राट् क्रुद्ध हो गये और उन्होंने इस बार उसे मृत्यु-दण्ड सुना दिया। यह घटना भी शहर में फैल गई। आतंक फैलाने वालों को शिक्षा मिली, पर कुछ विद्वेषी व्यक्तियों ने उसे दूसरे ही रंग में रंग दिया। घटना को अतिरञ्जित कर सर्वत्र इस रूप में प्रसारित किया गया कि वीतराग प्रभु के घर में भी साक्षात् पक्षपात है। चक्रवर्ती भरत ने बड़े-बड़े युद्ध लड़े हैं। लाखों व्यक्तियों का संहार करवाया है। छः खण्डों के राज्य में, तज्जनित ऐश्वर्य व विलास में आसक्त हैं। प्राणियों की हत्या करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते। चोर का मृत्यु-दण्ड इसका प्रमाण है। सम्राट् अल्पारम्भी कैसे हो सकते हैं और कैसे मोक्षगामी हो सकते हैं?

एक व्यक्ति ने खुले रूप में यह आलोचना की। चक्रवर्ती भरत को सारी वस्तुस्थिति निवेदित की गई। सार्वजनिक आलोचना के अभियोग में उसे बन्दी बनाकर मृत्यु-दण्ड सुना दिया गया। वह बहुत घबराया तथा सम्राट् के पैरों में गिर पड़ा। अपने अपराध के लिए पुनः-पुनः क्षमा मांगने लगा। बहुत कुछ अनुनय-विनय के पश्चात् भरत ने कहा—यदि तू तेल से लबालब भरा हुआ कटोरा हाथ में लेकर शहर के प्रमुख-प्रमुख मार्गों से घूमकर यहां आ जाये और तेल की एक बूंद भी नीचे न गिरने दे तो इस सजा से बच सकता है। अभियुक्त ने सब कुछ स्वीकार कर लिया।

दूसरे ही दिन सम्राट् के आदेश से शहर के प्रमुख-प्रमुख मार्गों में विशेष रूप से कहीं नाटक होने लगे, कहीं संगीत होने लगा तो कहीं और कुछ उत्सव होने लगे। अभियुक्त [illegible] उस कटोरे को लेकर [illegible] के मार्गों को पार कर [illegible]। कहीं [illegible] नाटक, संगीत व [illegible] वह भरत के पास पहुंच गया। भरत ने पूछा—क्या कुछ देखा?

अभियुक्त—हां, महाराज !

भरत—नगर में आज तू ने क्या-क्या देखा ?

अभियुक्त—कुछ भी नहीं देखा महाराज !

भरत—स्थान-स्थान पर होने वाले नाटक तो देखे होंगे ?

अभियुक्त—महाराज ! आज तो मुझे मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ भी दिखलाई नहीं देता था।

भरत—कहीं संगीत तो सुना होगा ?

अभियुक्त—आपकी साक्षी से कहता हूं, मौत की गुनगुनाहट के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सुना। नाटक या संगीत हो रहे होंगे, पर मेरे लिए तो प्राणों का प्रश्न था। इधर-उधर देखकर आनन्द लूटूं या प्राण बचाकर जिन्दगी का सुख लूटूं ?

भरत—मौत का इतना डर ?

अभियुक्त—सम्राट् ! आप इसे क्या जानें ? यह तो वही जान सकता है, जिसके ऊपर बीतती है।

भरत—तो क्या मैं अमर रहूंगा ? तू तो एक जीवन की मौत से डर गया। न कहीं तू ने नाटक देखा, न कहीं संगीत सुना और न कहीं ऊंची नजर ही उठाई। मैं तो मौत की लम्बी परम्परा से परिचित हूं; अतः क्या यह साम्राज्य मुझे लुभा सकता है ?

अभियुक्त का शिर शर्म से झुक गया। उसे अपनी उद्दण्डता पर घृणा हुई। उसने क्षमा मांगी और अपराध मुक्त होकर अपने घर चला गया।

भरत के सोलह स्वप्न

श्वेताम्बर परम्परा में सम्राट् चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्न प्रसिद्ध हैं, किन्तु दिगम्बर परम्परा में चक्रवर्ती भरत और सम्राट् चन्द्रगुप्त; दोनों के सोलह-सोलह स्वप्न विश्रुत हैं। दोनों ही प्रकार के स्वप्नों का परिणाम पंचम आरे से सम्बन्धित है।

चक्रवर्ती भरत ने एक ही रात में सोलह स्वप्न देखे। वे उस स्वप्न-दर्शन से नितान्त चिन्तित हुए। बहुत कुछ विमर्षण के अनन्तर भी वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके। वे प्रातःकाल कैलाश पर्वत पर विराजमान भगवान् श्री ऋषभदेव के समवसरण में पहुंचे। वन्दना और स्तुति के अनन्तर उन्होंने अपने एक-एक कर सारे स्वप्न निवेदित किये और भगवान् से उनका फलादेश जानना चाहा। भगवान् श्री ऋषभदेव उन स्वप्नों को सुनकर गम्भीर हो गये। भरत सहमे और उन्होंने पूछा—क्यों, महाप्राण ! ये स्वप्न कैसे हैं ? भगवान् ने उत्तर दिया—इन स्वप्नों में भावी पंचम आरे का निदर्शन है, जो बड़ा ही बीभत्स

होने के साथ-साथ प्रवर्तमान परम्पराओं के महान् ह्रास का द्योतक है । तुम अपने स्वप्न सुनाओ और मैं तुम्हें उनका फल बताऊंगा ।

१. भरत—भगवन् ! एक घने और सुविस्तृत कानन में स्वेच्छया सिंह विचर रहे थे । मैंने उनको गिना, वे तेवीस थे । वे कानन से निकलकर पर्वत पर चढ़ते गये और पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर उस पार चले गये । वे आंखों से ओझिल हो गये, फिर भी उनकी गूंज सुनाई देती रही।

भगवान् ऋषभदेव—तेवीस सिंह भावी तेवीस तीर्थंकरों के प्रतीक हैं। तेवीस तीर्थंकरों के समय तक जैन साधु अपने धर्म में दृढ़ रहेंगे । इन तीर्थंकरों के निर्वाण-पद प्राप्त कर चुकने पर भी उनके उपदेशों की गूंज सुनाई देती रहेगी ।

२. भरत—एक सिंह के पीछे बहुत सारे हिरण चले जा रहे थे ।

भगवान् ऋषभदेव—सिंह चौबीसवें तीर्थंकर का द्योतक है । हिरण उनके धर्मानुयायी हैं, जिनमें उस सिंह जैसी न तो शक्ति है और न धर्म-परायणता । वे लोग तीर्थंकर के पद-चिह्नों का अनुसरण करना तो चाहेंगे, किन्तु कर नहीं पायेंगे । ऐसा भी होगा कि वे भटक कर पथ-भ्रष्ट हो जायें और मिथ्या प्ररूपणायें करें ।

३. भरत—एक अश्व गज से भाराक्रान्त हो रहा था ।

भगवान् ऋषभदेव—अश्व मुनि का प्रतीक है । पंचम काल में मुनिजन अपने पर ऐसी सत्ताओं का आरोप मान बैठेंगे जो उन्हें दबा देगी । उस युग में साधु लोग शक्ति-प्राप्त करने के इच्छुक हो जायेंगे और वही शक्ति उनकी आत्मा को घर दबोचेगी ।

४. भरत—अजा-समूह सूखी पत्तियां चर रहा था ।

भगवान् ऋषभदेव—इसके दो अर्थ हैं । पंचम काल में अतिवृष्टि और अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष होंगे । अन्न की अत्यन्त अल्पता हो जायेगी, जिससे जन साधारण अभक्ष्य और अनुपसेव्य पदार्थों का भक्षण करेंगे। स्वास्थ्य के लिए हानिकारक पदार्थों के प्रयोग से भावी सन्तति अजा-समूह की तरह निर्बल हो जायेगी ।

५. भरत—हाथी की पीठ पर एक मर्कट बैठा था ।

भगवान् ऋषभदेव—हाथी सत्ता का प्रतीक है। पंचम काल में सत्ता निम्नस्तरीय (पाशविक) व्यक्तियों के हाथ में चली जायेगी । राज-सत्ता क्षत्रियों का साथ छोड़ देगी । धर्म-सत्ता मानवता से शून्य हो जायेगी । पाशविक वृत्तियां बढ़ेंगी और सत्ता की बन्दर-बांट होगी । राजनीति, समाज और धर्म में छल, दम्भ, चोरी, सीनाजोरी, स्वार्थ और वैमनस्य आदि अतिशय बढ़ जायेंगे । सत्ताधिकारियों में चरित्रवान् व नीतिज्ञ व्यक्तियों की अल्पता हो जायेगी ।

६. भरत—एक हस भनगिन कौवो द्वारा मारा जा रहा था।

भगवान् ऋषभदेव—उस युग मे ज्ञानी और विवेकी सज्जनों पर धूर्त शासन करेंगे, उन्हे पीटेंगे और नाना प्रकार से त्रास देंगे। जैन साधुओं को अन्य मतानुयायी अनेक प्रकार की यातनायें भी देंगे।

७. भरत—प्रेत नृत्य कर रहा था।

भगवान् ऋषभदेव—भविष्य मे प्रेत-आत्माओ की पूजा बढ़ेगी। जनता राक्षसी-सत्ता की उपासक हो जायेगी।

८. भरत—तालाब का मध्य भाग तो सूखा पड़ा था, किन्तु उसके आस-पास पानी भरा था।

भगवान् ऋषभदेव—तालाब ससार है। जिसका मध्य भाग संस्कृति और ज्ञान का केन्द्र आर्यावर्त है। एक समय ऐसा आयेगा जब कि यहां ज्ञान और सस्कृति नही रहेगी। आस-पास के अन्य देश सस्कृति और ज्ञान से समृद्ध हो जायेंगे।

९. भरत—रत्नो का ढेर मिट्टी से आवृत्त था।

भगवान् ऋषभदेव—ज्ञान और भक्ति रूपी रत्न अज्ञान और अश्रद्धा की मिट्टी के नीचे दब जायेगा। साधुजन शुक्ल ध्यान को प्राप्त नही कर पायेंगे।

१०. भरत—एक कुत्ता मौज से मिठाइया उड़ा रहा था और लोग उसकी पूजा कर रहे थे।

भगवान् ऋषभदेव—उस युग मे नीच व्यक्ति मजे मे रहेगे, पूज्य माने जायेंगे और वे ही दर्शनीय होगे।

११-१२. भरत—एक जवान बैल मेरे आगे से बिल्लाता हुआ निकला। दो बैल कन्धे-से-कन्धा मिलाये चले जा रहे थे।

भगवान् ऋषभदेव—पचम काल मे युवक जैन मुनि होंगे और अनभिज्ञता के कारण बदनाम होंगे। धर्म-प्रचार के लिए एकाकी भ्रमण का साहस नही कर सकेंगे।

१३. भरत—चन्द्रमा पर धुन्ध-सी छाई हुई थी।

भगवान् ऋषभदेव—चन्द्रमा ससारी आत्मा है। पंचम काल मे आत्मा कलुषित हो जायेगी, सद्भावनाएं नष्ट हो जायेगी और तत्त्व-ज्ञान लुप्त हो जायेगा।

१४. भरत—सूर्य मेघाच्छन्न दिखाई दिया।

भगवान् ऋषभदेव—उस समय मे किसी को सर्वज्ञता प्राप्त नही होगी।

१५. भरत—छायाहीन एक सूखा पेड़ देखा।

भगवान् ऋषभदेव—धर्माचरण के अभाव मे तृष्णा बढ़ेगी और उसके साथ ही अशान्ति भी बढ़ेगी।

अचानक ही उनका ध्यान अपनी हथेली की ओर गया; वह अंगुलि शोभाविहीन प्रतीत हुई। सम्राट् ने अपने मुकुट, कुण्डल, हार आदि आभूषण क्रमशः उतारे तो वे अवयव नितान्त फीके लगने लगे। जो अवयव अत्यन्त शोभित हो रहे थे, वे उतने ही अशोभित हो गये। भरत का ऊर्ध्वमुखी चिन्तन हुआ। क्या वह शोभा है जो संयोगिक होती है? क्या वह भी सुन्दरता है जो जड़ की परिणामजा है? आभूषण जड़ हैं। मैं चेतन हूं। आभूषण विकारज हैं और मेरी सत्ता निर्विकार है। निर्विकार सत्ता की सुन्दरता क्या सविकार पदार्थ के द्वारा बढ़ती है? इसी अनित्य भावना के चिन्तन के परिणामस्वरूप भरत सम्यक्त्वी से व्रती, व्रती से अप्रमत्त, अप्रमत्त से वीतराग और वीतराग से क्षीण मोह बने और चार कर्मों के नाश से केवलज्ञानी बने। राजमहलों में, राजकीय वेश-भूषा में तथा अपने अवयवों का निरीक्षण करते हुए विरक्ति के चरम बिन्दु पर पहुंच जाना; अत्यन्त असाधारण घटना थी।

केवलज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर चक्रवर्ती ने अपना पंच मुष्टि लुंचन किया, साधु-वेश पहना व महल छोड़कर एक निर्ग्रन्थ की भांति निकल पड़े। अन्तःपुर की रानियों, मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों, राजाओं व नागरिकों ने भरत का जब यह वेश देखा; जन समूह उमड़ पड़ा। सभी ने उसे एक विनोद समझा; किन्तु भरत ने जब वस्तुस्थिति का उद्घाटन किया तो इस विराग का विरह के द्वारा स्वागत हुआ। रानियों ने अनुरक्ति का, मन्त्रियों ने साम्राज्य-संचालन का, नागरिकों ने भक्ति का व मित्रों ने प्रेम का पाश छोड़कर उनमें उन्हें आबद्ध करने का प्रयत्न किया, पर हाथी के निकले हुए दांत कब वापिस हुए? केवली भरत ने सभी को प्रतिबोध दिया तथा विरह को विरक्ति में परिणत करने की प्रेरणा दी। हजारों राजाओं, राजकुमारों व अन्य नागरिकों ने भी विरक्त होकर उनका अनुगमन किया। बहुत समय तक संयम-पर्याय का पालन करते हुए महर्षि भरत अष्टापद पर्वत पर अनशन पूर्वक मोक्ष-धाम को प्राप्त हुए।

शीश महल का विध्वंस

सूर्ययशा चक्रवर्ती भरत का उत्तराधिकारी बना। उसने भी अपने पिता की तरह शासन-सूत्र का संचालन करते हुए महती लोकप्रियता प्राप्त की। अन्तिम समय उसी शीश महल में अनित्य भावना का चिन्तन करते हुए गृहस्थ-वेश में ही केवलज्ञान प्राप्त किया। महायशा, अतिबल, बलभद्र आदि भरत के आठ उत्तराधिकारियों ने अपनी परम्परा का विधिवत् पालन किया। राज्य-व्यवस्था के साथ ही-साथ धार्मिक परम्पराओं का भी परिवर्धन किया और उसी शीश महल में उसी चिन्तन के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया।

१६. भरत—सूखे पत्तों का एक ढेर देखा ।

भगवान् ऋषभदेव—पंचम काल में औषधियां और जड़ी-बूटियां अपनी शक्ति खो बैठगी और रोग बढेंगे ।

भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण

भगवान् ऋषभदेव कौशल, मगध, काशी, दशार्ण, चेरी, गुर्जर व सौराष्ट्र आदि जनपदों मे अपने गणधरो के साथ विहरण करते हुए शत्रुंजय पर्वत पर पधारे । वहा पुण्डरीक (ऋषभसेन) आदि गणधरों व साधुओं को निर्देश दिया—तुम यहा तपश्चरण व शुक्ल ध्यान से अपनी आत्मा को भावित करो । तुम शीघ्र ही शैलेशी अवस्था प्राप्त कर मोक्ष-पद को प्राप्त करोगे । हम यहां से अन्यत्र विहार करते हैं ।

पुण्डरीक आदि गणधर व साधुओं ने प्रभु के आदेश को शिरोधार्य किया और उसी तरह आत्मा को भावित करते हुए केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण पद को प्राप्त हुए ।

भगवान् स्वय अष्टापद पर्वत पर पधारे । शिष्य समुदाय के साथ चतुर्दश भक्त (छः दिन की तपस्या) मे पादोपगमन अनशन कर दिया । सम्राट् भरत के पास जब यह संवाद पहुचा तो वे अत्यन्त खिन्न हुए और भगवान् के दर्शनार्थ अष्टापद पर्वत पर पहुंचे । स्वर्ग से इन्द्र भी अपने परिवार के साथ भगवान् के दर्शनार्थ आया । अवसर्पिणी काल के इस तीसरे आरे के जब नन्नानवे पक्ष अवशिष्ट थे, माघ कृष्णा १३ के दिन पूर्वाह्न के समय भगवान् ऋषभदेव निर्वाण पद को प्राप्त हुए । अन्य गणधरो व साधुओं ने भी क्षपक श्रेणी का अवलम्बन कर केवलज्ञान प्राप्त किया और क्रमशः मोक्षाधिरूढ़ बने ।

सम्राट् भरत, इन्द्र व अन्य सभी प्राणियों को भगवान् के विरह से अपार वेदना हुई, किन्तु नियति के सम्मुख प्रत्येक को अपनी हार माननी ही पड़ा करती है ।

भरत को केवलज्ञान की प्राप्ति

भरत चक्रवर्ती थे । षट्खण्डों में उनका अखण्ड अनुशासन था । कुबेर की तरह अखूट खजाना था; ऐश्वर्य एवं विलास के अपरिमित साधन थे, पर वे अनासक्त भावना से ही अपना जीवन जीते थे । सब तरह से सन्तुष्ट व तृप्त थे। सांसारिक चमक उन्हे लुभा नही सकी थी। एक दिन भरत स्नान आदि कार्यों से निवृत्त होकर शीश महल मे बैठे थे । महल में चारो ओर मानवाकार शीशे जड़े हुए थे; अतः सब ओर ही प्रतिबिम्ब पड़ता था । भरत की अंगुलि से अंगूठी निकलकर सहसा नीचे गिर पड़ी । भरत इससे अनजान रहे, किन्तु दर्पण मे

अचानक ही उनका ध्यान अपनी हथेली की ओर गया; वह अंगुलि शोभाविहीन प्रतीत हुई। सम्राट् ने अपने मुकुट, कुण्डल, हार आदि आभूषण क्रमशः उतारे तो वे अवयव नितान्त फीके लगने लगे। जो अवयव अत्यन्त शोभित हो रहे थे, वे उतने ही अशोभित हो गये। भरत का ऊर्ध्वमुखी चिन्तन हुआ। क्या वह शोभा है जो संयोगिक होती है? क्या वह भी सुन्दरता है जो जड़ की परिणामजा है? आभूषण जड़ हैं। मैं चेतन हूं। आभूषण विकारज हैं और मेरी सत्ता निर्विकार है। निर्विकार सत्ता की सुन्दरता क्या सविकार पदार्थ के द्वारा बढ़ती है? इसी अनित्य भावना के चिन्तन के परिणामस्वरूप भरत सम्यक्त्वी से व्रती, व्रती से अप्रमत्त, अप्रमत्त से वीतराग और वीतराग से क्षीण मोह बने और चार कर्मों के नाश से केवलज्ञानी बने। राजमहलों में, राजकीय वेश-भूषा में तथा अपने अवयवों का निरीक्षण करते हुए विरक्ति के चरम बिन्दु पर पहुंच जाना; अत्यन्त असाधारण घटना थी।

केवलज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर चक्रवर्ती ने अपना पंच मुष्टि लुंचन किया, साधु-वेश पहना व महल छोड़कर एक निर्ग्रन्थ की भांति निकल पड़े। अन्तःपुर की रानियों, मंत्रिपरिषद् के सदस्यों, राजाओं व नागरिकों ने भरत का जब यह वेश देखा; जन समूह उमड़ पड़ा। सभी ने उसे एक विनोद समझा; किन्तु भरत ने जब वस्तुस्थिति का उद्घाटन किया तो इस विराग का विरह के द्वारा स्वागत हुआ। रानियों ने अनुरक्ति का, मंत्रियों ने साम्राज्य-संचालन का, नागरिकों ने भक्ति का व मित्रों ने प्रेम का पाश छोड़कर उसमें उन्हें आबद्ध करने का प्रयत्न किया, पर हाथी के निकले हुए दांत कब वापिस हुए? केवली भरत ने सभी को प्रतिबोध दिया तथा विरह को विरक्ति में परिणत करने की प्रेरणा दी। हजारों राजाओं, राजकुमारों व अन्य नागरिकों ने भी विरक्त होकर उनका अनुगमन किया। बहुत समय तक संयम-पर्याय का पालन करते हुए महर्षि भरत अष्टापद पर्वत पर अनशन पूर्वक मोक्ष-धाम को प्राप्त हुए।

शीश महल का विध्वंस

सूर्ययशा चक्रवर्ती भरत का उत्तराधिकारी बना। उसने भी अपने पिता की तरह शासन-सूत्र का संचालन करते हुए महती लोकप्रियता प्राप्त की। अन्तिम समय उसी शीश महल में अनित्य भावना का चिन्तन करते हुए गृहस्थ-वेश में ही केवलज्ञान प्राप्त किया। महायशा, अतिबल, बलभद्र आदि भरत के आठ उत्तराधिकारियों ने अपनी परम्परा का विधिवत् पालन किया। राज्य-व्यवस्था के साथ ही-साथ धार्मिक परम्पराओं का भी परिवर्तन किया और उसी शीश महल में उसी चिन्तन के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया।

नवम उत्तराधिकारी अपने पूर्वजों से विपरीत आचरण व विचार वाला हुआ। जब उसने अपने सभी पूर्वजों की एक ही महल में केवलज्ञान उत्पन्न होने की घटना को सुना तो बड़ा ही अन्यमनस्क हुआ। उसे यही विचार आया; "जो महल इतने बड़े साम्राज्य के सुखपूर्ण उपभोग से उपरत करता है, वह किस काम का ? यदि यह महल इसी रूप में रहा तो न मालूम और कितने व्यक्तियों को विरक्ति के इस जाल में फसायेगा। मेरे पर भी कहीं इस महल का असर न हो जाये।" उसने अपने अनुचरों को आदेश देकर तत्काल उसे गिरवा दिया और अपने उस कार्य पर वह फूला नहीं समाया। सद्विचारों के उत्प्रेरक उपकरण उस व्यक्ति के पास नहीं रह सकते जो अपने विचारों में मलिनता लिए हुए होता है।

जैन परम्परा में भरत की वंशावलि

नाभि
|
ऋषभदेव
- भरत (चक्रवर्ती)
  - सूर्ययशा (उत्तराधिकारी)
  - ऋषभसेन (प्रथम गणधर)
  - मरीचि (आदि) (त्रिदण्डी तापस)
- बाहुबली (आदि सौ भाई)
- ब्राह्मी (पुत्री)
- सुन्दरी (पुत्री)
  - सोमप्रभ
    - श्रेयांसकुमार (प्रथम दानी)
- नमि (दत्तक पुत्र)
- विनमि
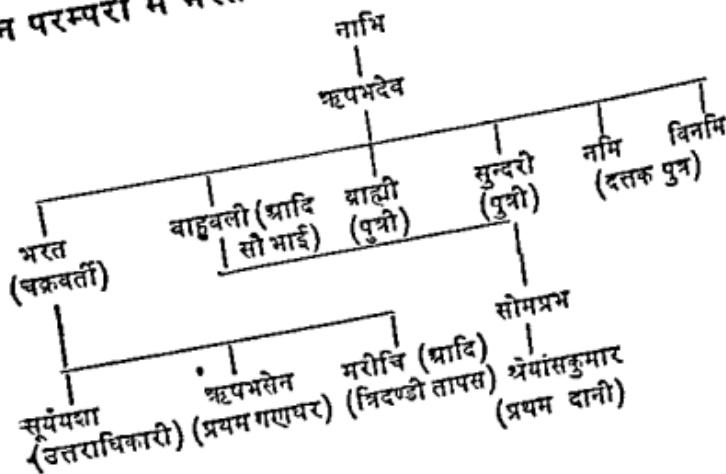
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के आधार पर

वैदिक वाङ्मय में

वेदों में

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत जैन परम्परा में श्लाघ्यपुरुष व मानवीय संस्कृति के आदि सूत्रधार के रूप में तो माने ही गये हैं; वैदिक परम्परा में भी स्वयं ब्रह्मा ने ऋषभदेव के रूप में आठवां अवतार ग्रहण किया था। ऋषभ-पुत्र भरत वहां भी अपने सौ भाइयों में ज्येष्ठ, शासन-सूत्र के संचालन में परम निपुण तथा निवृत्तिपरायण माने गये हैं। दोनों ही परम्पराओं में दोनों ही श्लाघ्यपुरुषों के जीवन की अधिकांश सदृशता गवेषकों के लिए बहुत कुछ नवीन तथ्यों की उद्भावक है। प्रस्तुत प्रकरण में वेद व पुराणों के आधार पर उनका जीवन तथा उस परम्परा में उनके प्रति अभिव्यक्त अनिर्वचनीयता का संक्षिप्त समुल्लेख किया जा रहा है।

वेदों में अर्हन्[1] तथा अर्हन्त[2] शब्द का प्रयोग-बाहुल्य उस परम्परा की जैन

---

१. अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति॥
—ऋग्वेद, मं० २ अ० ४ सू० ३३ वर्ग १०

२. क—इमंस्तोममर्हते जातवेदसेरथमिव संमहेमामनीषया।
भद्राहिनः प्रमतिरस्यसंसद्यग्ने सख्ये मारिषामावयं तव॥
—ऋग्वेद, मं० १ अ० १५ सू० ९४

ख—अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामि शवसः।
प्रयज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चामहद्भ्यः।
—ऋग्वेद, मं० ५ अ० ४ सू० ५२

ग—तावृधन्तावनु द्यून्मर्ताय देवावदभा।
अर्हन्ताचित्पुरो दधेऽशेव देवावर्वते॥
—ऋग्वेद, मं० ५ अ० ६ सू० ८६

घ—ईडितो अग्ने मनसानो अर्हन्देवान्यक्षि मानुषात्पूर्वो अद्य।
स आवह मरुतां शर्धो अच्युतमिन्द्रं नरोबर्हिषदंयजध्वं॥
—ऋग्वेद, मं० २ अ० ११ सू० ३

स्थापना की थी, उसमें मनुष्य व पशु ; सभी समान थे। पशु भी मारे नहीं जाते थे।

नास्य पशून् समानान् हिनास्ति।

—अथर्ववेद

सब प्राणियों के प्रति इस मैत्री-भावना के कारण ही वे देवत्व के रूप में पूजे जाते थे।

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहितम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम्॥

—ऋग्वेद, अ० ८ मं० ८ सू० २४

मुद्गल ऋषि पर ऋषभदेव की वाणी के विलक्षण प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहा गया है :

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥

—ऋग्वेद, १०।१०२।६

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे; उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौवें (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं। वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं।

इसीलिए उन्हें आह्वान करने की प्रेरणा दी गई है :

अहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजंतं प्रथममध्वराणाम्।
अपां न पातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तमोजः॥

—अथर्ववेद, कां० १९।४२।४

समस्त पापों से मुक्त, अहिंसक वृत्तियों के प्रथम राजा, आदित्यस्वरूप श्री ऋषभदेव को मैं आह्वान करता हूं। वे मुझे बुद्धि और इन्द्रियों के साथ बल-प्रदान करें।

ऋग्वेद में उन्हें स्तुति-योग्य बताते हुए कहा गया है :

अनर्वाणं ऋषभं मन्द्रजिह्वं, बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कै

—मं० १ सूत्र १९० मंत्र १

मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुति-योग्य ऋषभ को पूजा-साधक मंत्रों द्वारा वर्धित ... । वे स्तोता को नहीं छोड़ते।

प्राग्नये वाचमीरय

—ऋग्वेद, मं० १० सू० १८७

तेजस्वी ऋषभ के लिए स्तुति प्रेरित करो।

ै।

...ों की पूजनीयता तथा शक्ति-
...देवता माना गया है :

...अमृताय भूषन् ।

...सुर पूर्वयावा ॥

—ऋग्वेद, २।३४।२

हे आत्मद्रष्टा प्रभो ! परम सुख पाने के लिए मैं तेरी शरण में आता हूं, क्योंकि तेरा उपदेश और वाणी पूज्य और शक्तिशाली है । उनको मैं अवधारण करता हूं । हे प्रभो ! सभी मनुष्यों और देवों में तुम्हीं पहले पूर्वयावा (पूर्वगत ज्ञान के प्रतिपादक) हो ।

कुछ एक मंत्रों में उनका नामोल्लेख नहीं हुआ है, पर उनकी आकृति को विशेष लक्ष्य करते हुए उनकी महिमा स्तवना की गई है :

त्रिणी राजाना विदथे पुरूणि परिविश्वानि भूषथ. सदांसि ।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्व्रते गन्धर्वां अपि वायुकेशान् ॥

—ऋग्वेद, ३।३८।६

दोनों ही राजा अपने विरत्न ज्ञान से सभाओं के हित में चमकते हैं । वह सर्वदा निज ज्ञान में जागरूक व्रतों के पालक हैं एवं वायुकेश गणधरों से वेष्टित रहते हैं । वे गन्धर्व (गणधर) उनकी शिक्षाओं को अवधारण करते हैं । हमें उनके दर्शन प्राप्त हों ।

ऋषभदेव का प्रमुख सिद्धान्त था कि आत्मा में ही परमात्मत्व का अधिष्ठान है, अतः उसे प्राप्त करने का उपक्रम करो । इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए वेदों में उनका नामोल्लेख करते हुए कहा गया है :

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महादेवो मर्त्यानाविवेश ।

—ऋग्वेद, ४।५८।३

मन, वचन, काय, तीनों योगों से बद्ध (संयत) वृषभ (ऋषभदेव) ने घोषणा की कि महादेव (परमात्मा) मर्त्यों में आवास करता है ।

उन्होंने अपनी साधना व तपस्या से मनुष्य-शरीर में रहते हुए, उसे प्रमाणित भी कर दिखाया था, ऐसा उल्लेख भी वेदों में है ।

तन्मर्त्यस्य देवत्वमजानमग्रे ।

—ऋग्वेद, ३१।१७

ऋषभ स्वयं आदि पुरुष थे, जिन्होंने सबसे पहले मर्त्यदशा में देवत्व की प्राप्ति की थी ।

ऋषभदेव प्रेम के राजा के रूप में विख्यात थे । उन्होंने जिस शासन की

धर्म के प्रति विशेष भावना तो व्यक्त करता ही है; साथ ही ऋषभदेव, सुपार्श्वनाथ[1], अरिष्टनेमि[2], महावीर[3] आदि की नाम-ग्राहपूर्वक की गई स्तुति तथा उन्हें अनिर्वचनीय पुरुष मानकर उनके उपदेशों पर चलने की प्रेरणा भी दी गई है।

ऋग्वेद व अथर्ववेद में ऐसे अनेकों मंत्र हैं, जिनमें ऋषभदेव की स्तुति अहिंसक आत्म-साधकों में प्रथम, अवधूत चर्या के प्रणेता तथा मर्त्यों में सर्व-प्रथम अमरत्व अथवा महादेवत्व पाने वाले महापुरुष के रूप में की गई है। एक स्थान पर उन्हें ज्ञान का आगार तथा दुःखों व शत्रुओं का विध्वंसक बताते हुए कहा गया है :

> असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिमा अस्य शुरुधः सन्तिपूर्वीः ।
> दिवो न पाता विदथस्यधीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाये ॥
>
> —ऋग्वेद, ५-३८

जिस प्रकार जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है और जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वी अर्थात् ज्ञान के प्रतिपादक वृषभ महान् हैं। उनका शासन वर दे। उनके शासन में ऋषि-परम्परा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान आत्मा के क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंसक हो। दोनों (संसारी और शुद्ध) आत्माएं अपने ही आत्म-गुणों में चमकती हैं; अतः वे ही राजा हैं, वे पूर्ण

ज्ञान के भागार हैं और आत्म-पतन नही होने देते ।

ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र मे उपदेश और वाणी की पूजनीयता तथा शक्ति-सम्पन्नता के साथ उन्हें मनुष्यो और देवो मे पूर्वयावा माना गया है :

मखस्य ते तीवषस्य प्रजूतिमियर्मि याचमृताय भूषन् ।
इन्द्र क्षितीमामास मानुषीणा विशां दैवो नामुत पूर्वयावा ॥

—ऋग्वेद, २।३४।२

हे आत्मद्रष्टा प्रभो ! परम सुख पाने के लिए मैं तेरी शरण मे आता हूं, क्योंकि तेरा उपदेश और वाणी पूज्य और शक्तिशाली हैं । उनको मैं अवधारण करता हूं । हे प्रभो ! सभी मनुष्यो और देवो मे तुम्ही पहले पूर्वयावा (पूर्वगत ज्ञान के प्रतिपादक) हो ।

कुछ एक मन्त्रो मे उनका नामोल्लेख नही हुआ है, पर उनकी आकृति को विशेष लक्ष्य करते हुए उनकी गरिमा व्यक्त की गई है :

त्रिणी राजना विदथे पुरूणि परिविश्वानिभूषयः सदांसि ।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्व्रते गन्धर्वां अपि वायुकेशान् ॥

—ऋग्वेद, ३।३८।६

दोनो ही राजा अपने निरन्तर ज्ञान मे सभाओ के हित मे चमकते है । वह सर्वथा निज ज्ञान मे जागरूक व्रतो के पालक है एव वायुकेश गधर्वों से वेष्टित रहते हैं । वे गन्धर्व (गणधर) उनकी शिक्षाओं को अवधारण करते है । हमे उनके दर्शन प्राप्त हों ।

ऋषभदेव का प्रमुख सिद्धान्त था कि आत्मा मे ही परमात्मत्व का अधिष्ठान है; अत. उसे प्राप्त करने का उपक्रम करो । इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए वेदो मे उनका नामोल्लेख करते हुए कहा गया है :

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीती, महादेवो मर्त्यानाविवेश ।

—ऋग्वेद, ४।५८।३

मन, वचन, काय, तीनो योगों से बद्ध (सयत) वृषभ (ऋषभदेव) ने घोषणा की कि महादेव (परमात्मा) मर्त्यों मे आवास करता है ।

उन्होंने अपनी साधना व तपस्या से मनुष्य-शरीर मे रहते हुए, उसे प्रमाणित भी कर दिखाया था, ऐसा उल्लेख भी वेदो मे है ।

तन्मर्त्यस्य देवत्वमजानमग्रे ।

—ऋग्वेद, ३१।१७

ऋषभ स्वयं आदि पुरुष थे, जिन्होंने सबसे पहले मर्त्यदशा मे देवत्व की प्राप्ति की थी ।

ऋषभदेव प्रेम के राजा के रूप मे विख्यात थे । उन्होंने जिस शासन की

स्थापना की थी, उसमें मनुष्य व पशु ; सभी समान थे। पशु भी मारे नहीं जाते थे।

नास्य पशून् समानान् हिनास्ति।

—अथर्ववेद

सब प्राणियों के प्रति इस मैत्री-भावना के कारण ही वे देवत्व के रूप में पूजे जाते थे।

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहितम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम्॥

—ऋग्वेद, अ० ८ मं० ८ सू० २४

मुद्गल ऋषि पर ऋषभदेव की वाणी के विलक्षण प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहा गया है :

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥

—ऋग्वेद, १०।१०२।६

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे; उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौवें (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं। वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं।

इसीलिए उन्हें आह्वान करने की प्रेरणा दी गई है :

अहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजंतं प्रथममध्वराणाम्।
अपां न पातमश्विना हुंवे धिय इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तमोजः॥

—अथर्ववेद, कां० १६।४२।४

समस्त पापों से मुक्त, अहिंसक वृत्तियों के प्रथम राजा, आदित्यस्वरूप श्री ऋषभदेव को मैं आह्वान करता हूं। वे मुझे बुद्धि और इन्द्रियों के साथ बल-प्रदान करें।

ऋग्वेद में उन्हें स्तुति-योग्य बताते हुए कहा गया है :

अनर्वाणं ऋषभं मन्द्रजिह्वं, बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कै

—मं० १ सूत्र १६० मंत्र १

मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुति-योग्य ऋषभ को पूजा-साधक मंत्रों द्वारा वर्धित करो। वे स्तोता को नहीं छोड़ते।

प्राग्नये वाचमीरय

—ऋग्वेद, मं० १० सू० १८७

तेजस्वी ऋषभ के लिए स्तुति प्रेरित करो।

यजुर्वेद, अ० ३१ मंत्र १८ की एक स्तुति में कहा गया है :

वेदाहमेत पुरुष महान्तमादित्यवर्ण तमस. पुरस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

मैं इस महापुरुष को जानता हूँ जो सूर्य के समान तेजस्वी, अज्ञानादि अंधकार से दूर है। उसी को जानकर मृत्यु से पार हुआ जा सकता है, मुक्ति के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है।

यह स्तुति और जैनाचार्य मानतुंग द्वारा की गई भगवान् ऋषभदेव की स्तुति शब्द-साम्यता की दृष्टि से विशेष ध्यान देने योग्य है। भक्तामर स्तोत्र में वे कहते हैं :

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमान्स
मादित्यवर्णममल समस: पुरस्ताद् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्यु
नान्य. शिव. शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पन्था. ।

हे ऋषभदेव भगवान् ! तुम्हें मुनिजन परम पुरुष मानते हैं। तुम सूर्य के समान तेजस्वी, मल-रहित और अज्ञान आदि अंधकार से दूर हो। तुम्हें भली-भांति जान लेने पर ही मृत्यु पर विजय पाई जा सकती है। हे मुनीन्द्र ! मुक्ति प्राप्त करने का और कोई सरल मार्ग नहीं है।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों के शब्द और भाव देखने से सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों स्तुतियां एक ही व्यक्ति को लक्षित करके की गई है।

वेदों में ऋषभदेव, सुपार्श्व, अरिष्टनेमि, महावीर आदि तीर्थंकरों का उल्लेख किया गया है। इसकी पुष्टि राष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन्[१], डा० अलब्रेटवेबर[२], प्रो० विरुपाक्ष वाडियर[३], डा० विमलाचरण लाहा[४] प्रभृति विद्वज्जन भी करते हैं।

प्रो० विरुपाक्ष वाडियर वेदों में जैन तीर्थंकरों के उल्लेखों का कारण उपस्थित करते हुए लिखते है : "प्रकृतिवादी मरीचि ऋषभदेव का पारिवारिक था। वेद उसके तत्वानुसार होने के कारण ही ऋग्वेद आदि ग्रन्थों की ख्याति उसी के ज्ञान द्वारा हुई है। फलत. मरीचि ऋषि के स्तोत्र, वेद-पुराण आदि ग्रन्थों मे है और स्थान-स्थान पर जैन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है। कोई ऐसा कारण नहीं कि हम वैदिक काल मे जैन धर्म का अस्तित्व न मानें।"[५]

१. Indian Philosophy, VoL. 1, p. 287
२. Indian Antiquary, VoL. 3, p. 901
३. जैनपथ प्रदर्शक [आगरा] भा० ३, अ० ३, पृ० १०६
४. Historical Gleanings, p. 78
५. अजैन विद्वानो की सम्मतियां, पृ० ३१

पुराण, वाराह[1] पुराण, लिंग[2] पुराण, विष्णु[3] पुराण, स्कन्ध[4] पुराण आदि में ऋषभदेव की स्तुति के साथ-ही-साथ उनके माता-पिता, पुत्र आदि के नाम तथा उनकी जीवन-घटनाएं भी सविस्तार वर्णित की गई है।

श्रीमद् भागवत पुराण

श्रीमद् भागवत पुराण में उनके सुविस्तृत जीवन-प्रसंग प्रस्तुत करते हुए ज्ञान की सात भूमिकाओं में से पदार्थाभावना और असंसक्ति की भूमिकाओं के रूप में ऋषभदेव और भरत का जीवन-दर्शन विश्लेषित किया गया है। माता-पिता के नाम, सौ पुत्रों का उल्लेख, साधना के प्रकार, ऋषभदेव का पुत्रों को उपदेश, सामाजिक व धार्मिक नीतियों का प्रवर्तन व भरत की अनासक्ति आदि का वर्णन सविस्तार किया गया है।

श्रीमद् भागवत के प्रथम स्कन्ध, अध्याय ३ में अवतारों का वर्णन करते हुए बताया गया है : "राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवा के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में भगवान् ने आठवां अवतार ग्रहण किया। इस रूप में उन्होंने परमहंसों

१. नाभिर्मरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरतः पुत्रश्च ।

—वाराह पुराण, अ० ७४

२. नाभेर्निसर्गं वक्ष्यामि हिमाङ्केऽस्मिन्निबोधत ।
नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महामतिः ॥
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः ।
ज्ञानं वैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रियमहोरगान् ॥
सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य परमात्मानमीश्वरम् ।
नग्नो जटी निराहारोऽचीरी ध्वान्तगतो हि सः ॥
निराशस्त्यक्तसंदेहः शैवमाप परं पदम् ।
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ॥

—लिङ्गपुराण, अ० ४७

३. न ते स्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वष्टसु सर्वदा ।
हिमाह्वयं तु वै वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः ॥
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः ।
ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः ॥

—विष्णु पुराण, द्वितीयांश, अ० १

४. नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।

—स्कन्ध पुराण, माहेश्वर खण्ड के कौमारखण्ड अ० ३७

मनुस्मृति और पुराणों में

अरसठ तीर्थों मे यात्रा करने से जो फल होता है, मनुस्मृति ने उतना फल आदिनाथ के स्मरण का माना है :

अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत् ।
श्रीआदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत् ॥

मार्कण्डेय[1] पुराण, कूर्म[2] पुराण, वायु[3] पुराण, अग्नि[4] पुराण, ब्रह्माण्ड[5]

---

१. अग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः ॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः ।
तपस्तेपे महाभाग पुलहाश्रमसंशयः ॥
—मार्कण्डेय पुराण, अ० ५०

२. हिमाह्वयं तु यद्वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः ।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मेरुदेव्या महाद्युतिः ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रः शताग्रजः ।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं भरतं पृथिवीपतिः ॥
—कूर्म पुराण, अ०

३. नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्या महाद्युतिः ।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः
सोऽभिषिच्याथ भरतं पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः ॥
—वायु पुराण, पूर्वार्ध, अ० ३३

४. जरामृत्युभयं नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम् ।
नाधर्मं मध्यमं तुल्या हिमादेशात्तु नाभितः ॥
ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
ऋषभोदात्त श्रीपुत्रे शाल्यग्रामे हरिं गतः ॥
—अग्नि पुराण, अ० १०

५. नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्या महाद्युतिम् ।
ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः ।
हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥
—ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वार्ध, अनुषङ्गपाद, अ० १४

पुराण, वाराह[1] पुराण, लिंग[2] पुराण, विष्णु[3] पुराण, स्कन्द[4] पुराण आदि में ऋषभदेव की स्तुति के साथ-ही-साथ उनके माता-पिता, पुत्र आदि के नाम तथा उनकी जीवन-घटनाएं भी सविस्तार वर्णित की गई हैं।

श्रीमद् भागवत पुराण

श्रीमद् भागवत पुराण में उनके सुविस्तृत जीवन-प्रसंग प्रस्तुत करते हुए ज्ञान की सात भूमिकाओं में से पदार्थाभावना और असंसक्ति की भूमिकाओं के रूप में ऋषभदेव और भरत का जीवन-दर्शन विश्लेषित किया गया है। माता-पिता के नाम, सौ पुत्रों का उल्लेख, साधना के प्रकार, ऋषभदेव का पुत्रों को उपदेश, सामाजिक व धार्मिक नीतियों का प्रवर्तन व भरत की अनासक्ति आदि का वर्णन सविस्तार किया गया है।

श्रीमद् भागवत के प्रथम स्कन्ध, अध्याय ३ में अवतारों का वर्णन करते हुए बताया गया है : "राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवा के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में भगवान् ने आठवां अवतार ग्रहण किया। इस रूप में उन्होंने परमहंसों

1. नाभिर्मरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरतः पुत्रश्च।

—वाराह पुराण, अ० ७४

2. नाभेर्निसर्गं वक्ष्यामि हिमांकेऽस्मिन्निबोधत।
नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महामतिः॥
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः॥
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः।
ज्ञानं वैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रियमहोरगान्॥
सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य परमात्मानमीश्वरम्।
नग्नो जटी निराहारोऽचीरी ध्वान्तगतो हि सः॥
निराशस्त्यक्तसंदेहः शैवमाप परं पदम्।
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्॥

—लिंगपुराण, अ० ४७

3. न ते स्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वष्टसु सर्वदा।
हिमाह्वयं तु वै वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः॥
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः॥

—विष्णु पुराण, द्वितीयांश, अ० १

4. नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत्।

—स्कन्ध पुराण, माहेश्वर खण्ड कौमारखण्ड, अ० ३७

का वह मार्ग दिखाया जो सभी आश्रमवासियों के लिए वन्दनीय है[१]।"

द्वितीय स्कन्ध, अध्याय सात में लीलावतारों का वर्णन करते हुए कहा गया है: "राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के गर्भ से भगवान् ने ऋषभदेव के रूप में जन्म लिया। इस अवतार में समस्त आसक्तियों से रहित रह कर, अपनी इन्द्रियों और मन को अत्यन्त शान्त करके एवं अपने स्वरूप में स्थित होकर समदर्शी के रूप में उन्होंने मूढ़ पुरुषों के वेष में योग-साधना की। इस स्थिति को महर्षि लोग परमहंसपद अथवा अवधूत-चर्या कहते हैं[२]।"

श्रीमद् भागवत के पंचम स्कन्ध, अध्याय २ से १४ तक ऋषभदेव, भरत तथा बाद में जड भरत का प्रस्तुत किया गया जीवन-वृत्त संक्षिप्त रूप में यहां उद्धृत किया जा रहा है।

आग्नीध्र द्वारा पुत्र-याचना

ब्रह्मा ने मनुष्य-संख्या बढ़ाने के लिए सर्व प्रथम स्वयंभू मनु और सत्यरूपा को उत्पन्न किया। उनके प्रियव्रत नामक पुत्र हुआ। प्रियव्रत का पुत्र आग्नीध्र हुआ। पिता प्रियव्रत के तपस्या में संलग्न हो जाने के अनन्तर आग्नीध्र ने प्रजा का पुत्रवत् पालन आरम्भ कर दिया। एक बार वह सत्पुत्र की प्राप्ति के लिए पूजा की सामग्री एकत्रित कर मन्दराचल की एक घाटी में चला गया और वहां तपस्या में लीन होकर ब्रह्मा की आराधना करने लगा। आदिदेव ब्रह्मा ने उसकी अभिलाषा जान ली, अतः अपनी सभा की गायिका पूर्वचित्ति नामक अप्सरा को उसके पास भेजा। आग्नीध्र के आश्रम के पास एक अति रमणीय उपवन था। वह अप्सरा उसमें विचरने लगी।

आग्नीध्र बड़ा प्रतिभाशाली व कुशल था। उसने पूर्वचित्ति अप्सरा को आकर्षित कर लिया। वह उसके साथ हजारों वर्ष रही। तदनन्तर आग्नीध्र के नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत्त, रम्यक्, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व व केतुमाल नौ पुत्र हुए। पूर्वचित्ति उसके बाद आश्रम से ब्रह्मा की सभा में चली गई। आग्नीध्र ने जम्बूद्वीप को नौ वर्ष (भूखण्डों) में विभाजित किया और उन्हें एक-

---

१. अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम्॥
—श्रीमद् भागवत, स्कन्ध १, अ० ३, श्लोक १३

२. नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनु,
र्यो वै चचार समदृग् जडयोगचर्याम्।
यत् पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति,
स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः॥
—श्रीमद् भागवत, स्कन्ध २, अ० ७, श्लोक १०

एक पुत्र को सौंप दिया। पिता के परलोक-गमन के बाद नाभि आदि नौ ही भाइयों ने मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्रदंष्ट्री, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा व देववीति आदि कन्याओं के साथ विवाह किया।

पुत्र-प्राप्ति के लिए यजन

नाभि के भी आग्नीध्र आदि की तरह कोई सन्तान न हुई। उसने अपनी धर्म-पत्नी मेरुदेवी के साथ पुत्र-कामना से एकाग्रता पूर्वक भगवान् यज्ञ-पुरुष का यजन किया। यद्यपि भगवान् द्रव्य, देश, काल, मन्त्र, ऋत्विज, दक्षिणा और विधि, यज्ञ के इन साधनों से सहज में ही प्राप्त नहीं होते, तथापि भक्तों पर तो उनकी कृपा होती ही है। जब राजा नाभि ने श्रद्धापूर्वक विशुद्ध भाव से उनकी आराधना की तो उनका चित्त अपने भक्त का अभीष्ट करने के लिए उत्सुक हो गया। वे साक्षात् रूप में प्रकट हुए। ऋत्विज, सदस्य व यजमान आदि सभी उन्हें अपने बीच में पाकर अत्यन्त आह्लादित हुए। सभी ने उनकी पूजा व स्तुति की। ऋत्विज बोले—पूज्यतम ! आपने हमें सर्वश्रेष्ठ वर तो यह दे ही दिया कि आप राजर्षि नाभि की यज्ञशाला में साक्षात् प्रकट हुए हैं। हम और क्या वर मांगें ? किन्तु एक प्रार्थना अवश्य है। यद्यपि उसे व्यक्त करने में संकोच अनुभव होता है, तथापि आप साक्षात् द्रष्टा हैं; अतः हम अपने हृदय को आप से छुपा भी कैसे सकते हैं ? हमारे ये यजमान राजर्षि नाभि सन्तान को ही परम पुरुषार्थ मानकर आप ही के समान पुत्र पाने के लिए आपकी आराधना कर रहे हैं।

ब्रह्माजी ने कहा—"ऋषियो ! आपने यह बड़ा ही दुर्लभ वर मांगा है। मेरे समान तो मैं ही हूं, इसलिए अद्वितीय हूं। सन्तान के रूप में मैं किसे प्रेषित कर सकता हूं ? यह असमंजस में डालने वाली बात है; तथापि ब्राह्मणों का वचन मिथ्या नहीं होना चाहिए, क्योंकि द्विज कुल तो मेरा मुख है, अतः मैं स्वयं ही अपनी अंश-कला से नाभि के यहां अवतार लूंगा।" महारानी मेरुदेवी के समक्ष राजर्षि नाभि से इस तरह वचनबद्ध होकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

कुछ समय बीता। महर्षियों द्वारा पूर्णतः प्रीणित करने पर स्वयं भगवान् नाभिराज को सन्तुष्ट करने के लिए तथा दिगम्बर सन्यासी, वातरशना श्रमण और ऊर्ध्वरेता मुनियों का धर्म प्रकट करने के लिए महारानी मेरुदेवी के गर्भ से शुद्ध सत्त्वमय विग्रह से प्रकट हुए[1]। नाभिनन्दन का शरीर ... हर

१. बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भग
प्रियव्रतकोविंदया
वातरशना

था। तेज, बल, ऐश्वर्य व पराक्रम आदि गुणों में अनिर्वचनीय होने के कारण उनका नाम ऋषभ (श्रेष्ठ) रखा गया। वे जन्म से ही भगवान् विष्णु के वज्र, अंकुश आदि चिह्नों से युक्त होने तथा समता, शान्ति, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि महाविभूतियों के कारण उनका प्रभाव प्रतिदिन बढ़ता ही गया।

एक बार इन्द्र ने ईर्ष्यावश उनके राज्य में वर्षा नहीं की। योगेश्वर भगवान् ऋषभ ने इन्द्र की मूर्खता पर हंसते हुए अपनी योगमाया के प्रभाव से अपने अजनाभखण्ड भूभाग में खूब जल बरसाया। इन्द्र को भी लज्जित होना पड़ा।

ऋषभदेव का राज्याभिषेक

महाराज नाभि अपनी इच्छा के अनुरूप श्रेष्ठ पुत्र पाकर अत्यन्त आनन्द-मग्न हो गये। वे लोकमत का बहुत सम्मान करते थे। जब उन्होंने देखा कि जनता और मंत्रि-परिषद् के सदस्य ऋषभदेव का बहुमान करते हैं, उनसे बड़ा प्रेम करते हैं तो उन्होंने उन्हें धर्म-मर्यादा की रक्षा के लिए राज्याभिषिक्त कर ब्राह्मणों की देख-रेख में छोड़ दिया। स्वयं अपनी पत्नी मेरुदेवी के साथ बदरिकाश्रम चले गये। वहां उन्होंने अहिंसावृत्ति से कठोर तपस्या की और समाधि योग के द्वारा भगवान् वासुदेव के नर-नारायणरूप की आराधना करते हुए समय आने पर उन्हीं के स्वरूप में लीन हो गये।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने देश अजनाभखण्ड को कर्मभूमि मानकर लोक-संग्रह के लिए कुछ काल गुरुकुल में वास किया। गुरु को यथोचित दक्षिणा देकर गृहस्थ में प्रवेश करने के लिए उनसे आज्ञा प्राप्त की। जनता को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के निमित्त देवराज इन्द्र की कन्या जयन्ती से विवाह किया तथा श्रौत-स्मार्त्त, दोनों प्रकार के शास्त्रोपदिष्ट कर्मों का आचरण करते हुए, उसके गर्भ से अपने ही समान सौ पुत्र उत्पन्न किये। उनमें महायोगी भरत सबसे बड़े और सबसे अधिक गुणवान् थे। उन्हीं के नाम से यह अजनाभखण्ड भारतवर्ष कहलाया। उनसे छोटे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ और कीकट; ये नौ राजकुमार अन्य नब्वे भाइयों से बड़े और श्रेष्ठ थे। उनसे छोटे कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन; ये नौ राजकुमार भागवत धर्म का प्रचार करने वाले बड़े भगवद्-भक्त थे। इनसे छोटे जयन्तीकुमार आदि इक्यासी कुमार पिता की आज्ञा का पालन करने वाले अतिविनीत, महान् वेदज्ञ और निरन्तर यज्ञ करने वाले थे। वे पुण्यकर्मों का अनुष्ठान करके शुद्ध हो गये और ब्राह्मण बन गये।

भगवान् ऋषभदेव, यद्यपि परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकार की अनर्थ-परम्परा से रहित, केवल आनन्दानुभव स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे, तो भी अज्ञानियों के समान कर्म करते हुए उन्होंने काल के अनुसार

स्वयं धर्म का आचरण करके उसका तत्त्व न जानने वाले लोगों को उसकी शिक्षा दी। साथ ही सम, शान्त, सुहृद् और कारुणिक रहकर धर्म, अर्थ, यश, सन्तान, भोग-सुख और मोक्ष का संग्रह करते हुए गृहस्थाश्रम में लोगों को नियमित किया; क्योंकि महापुरुष जैसा-जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी उसी का अनुसरण करने लग जाते हैं। यद्यपि वे सभी धर्मों के साररूप वेद के गूढ़ रहस्य को जानते थे, तो भी ब्राह्मणों की बतलाई हुई विधि से साम-दान आदि नीति के अनुसार ही प्रजा का पालन करते थे। उन्होंने शास्त्र और ब्राह्मणों के उपदेशानुसार भिन्न-भिन्न देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य, देश, काल, आयु, श्रद्धा और ऋत्विज आदि से सुसम्पन्न सभी प्रकार के सो-सो यज्ञ किये।

पुत्रों को उपदेश

भगवान् ऋषभदेव के शासन-काल में इस देश का कोई भी व्यक्ति प्रभु के प्रति प्रतिदिन बढ़ते अनुराग के अतिरिक्त अपने लिए किसी से भी किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता था। इससे भी बढ़कर आकाशकुसुमादि अविद्यमान वस्तु की तरह कोई भी व्यक्ति किसी की वस्तु की ओर दृष्टिपात भी नहीं करता था। एक बार ऋषभदेव घूमते हुए ब्रह्मावर्त देश में पहुंच गये। वहां बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियों की सभा में उन्होंने प्रजा के सामने ही अपने समाहित चित्त, विनय और प्रेम के भार से सुसंयत पुत्रों को सुविस्तृत शिक्षा दी। उसमें उन्होंने वासनामय जीवन व अन्तःकरण की विशुद्धि पर विशेष बल दिया। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक दाम्पत्य भाव को दुर्भेद्य ग्रन्थि बतलाया और अहंकार का परित्याग कर परम पद को प्राप्त करने पर बल दिया। आगे उन्होंने कहा—मेरा यह मानव-शरीर सर्वथा अचिन्तनीय है और स्वेच्छा से ग्रहण किया हुआ है। जिसमें धर्म की स्थिति है, वह शुद्ध सत्त्व ही मेरा हृदय है। अधर्म को मैंने दूर पीठ की ओर कर रखा है। इसी से साधुजन मुझे ऋषभ (श्रेष्ठ) कहते हैं। तुम सब मेरे उस शुद्ध सत्त्वमय हृदय से उत्पन्न हुए हो; इसीलिए मत्सर छोड़ कर अपने बड़े भाई भरत की सेवा करो। उसकी सेवा करना मेरी ही सेवा करना है और यही तुम्हारा प्रजा-पालन भी है।

साधना की शिक्षा

यद्यपि सभी पुत्र सभी प्रकार से सुशिक्षित थे, पर जनता को शिक्षा देने के उद्देश्य से महाप्रभावशाली परम सुहृद् भगवान् ऋषभदेव ने इस प्रकार उपदेश दिया था। सौ पुत्रों में भरत सबसे बड़े व भगवद्-भक्तों के पारायण थे। शासन-सूत्र के संचालन में उन्हें सर्वथा योग्य समझ कर भगवान् ने उन्हें पदासीन कर दिया। स्वयं उपशमशील निवृत्ति परायण महामुनियों को भक्ति,

को शिक्षा देने के लिए उन्होंने कई प्रकार की योगचर्याओं का आचरण किया। वे निरन्तर सर्वश्रेष्ठ महान् आनन्द का अनुभव करते रहते थे। उनकी दृष्टि में निरुपाधिक रूप से सम्पूर्ण प्राणियों की आत्मा में किसी प्रकार का अन्तर नहीं था। उनके सभी पुरुषार्थ पूर्ण हो चुके थे। उनके पास आकाश-गमन, मनोजवित्व (मन की गति के समान ही शरीर का भी इच्छा करते ही सर्वत्र पहुंच जाना), अन्तर्धान, परकाय-प्रवेश (दूसरे के शरीर में प्रवेश करना), दूर की बातें सुन लेना और दूर के दृश्य देख लेना आदि सब प्रकार की सिद्धियां अपने आप ही सेवा करने को आईं, किन्तु उन्होंने उनको मन से भी स्वीकार नहीं किया।

देह-त्याग

भगवान् ऋषभदेव यद्यपि इन्द्रादि सभी लोकपालों के भी भूषण-स्वरूप थे, फिर भी वे जड़ पुरुषों की भान्ति, अवधूतों के समान विविध वेष, भाषा और आचरणों से अपने आपको छुपाये रहते थे। अन्त में उन्होंने योगियों को देह-त्याग की विधि सिखाने के लिए अपना शरीर छोड़ना चाहा। वे अपने अन्तःकरण में अभेदरूप से स्थित परमात्मा को अभिन्न रूप में देखते हुए वासनाओं की अनुवृत्ति से छूट कर लिंग-देह के अभिमान से मुक्त हो गये। इस प्रकार उनका शरीर योगमाया की वासना से केवल अभिमानाभास के आश्रय ही पृथ्वी तल पर विचरता रहा। दैववश वह कोंक, वेंक और कुटक आदि दाक्षिणात्य कर्णाटक के देशों में गया और मुंह में पत्थर का टुकड़ा डाले तथा बाल बिखेरे उन्मत्त के समान दिगम्बर रूप से कुटकाचल के वन में घूमने लगा। इसी समय वायु-वेग से झूमते हुए बांसों की रगड़ से प्रबल दावाग्नि प्रकट हुई। उसने उस वन को जलाते हुए उसी के साथ भगवान् ऋषभदेव के शरीर को भी भस्म कर दिया।

राजा अर्हत्

जिस समय कलियुग में अधर्म की वृद्धि होगी, उस समय कोंक, वेंक और कुटक देश का मन्दमति राजा अर्हत् वहां के लोगों से ऋषभदेव के आश्रमातीत आचरण का वृत्तान्त सुनकर तथा स्वयं उसे ग्रहण कर, लोगों के पूर्वसंचित पापरूप होनहार के वशीभूत होकर, भय रहित होकर, वैदिक मार्ग को छोड़कर अपनी बुद्धि से अनुचित और पाखण्डपूर्ण कुमार्ग का प्रचार करेगा। उससे कलियुग में देवमाया से मोहित अनेकों अधम मनुष्य अपने शास्त्र-विहित शौच और आचार को छोड़ बैठेंगे। अधर्म-बहुल कलियुग के प्रभाव से बुद्धिहीन हो जाने के कारण वे स्नान न करना, आचमन न करना, अशुद्ध रहना, केश

मृग का मोह

एक बार भरत महर्षि स्नान कर नित्य-नैमित्तिक तथा शौचादि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर प्रणव का जाप करते हुए तीन मुहूर्त तक नदी की धारा के पास ही बैठे रहे। इसी समय प्यास से व्याकुल एक मृगी जल पीने के लिए वहा आई। आनन्द से पानी पीना आरम्भ किया। अचानक एक सिंह का भयानक शब्द सुनाई दिया। हिरन स्वभावतः ही डरपोक होते है और संयोगवश यदि ऐसा शब्द सुनाई पड जाये तो उनके प्राणो पर ही आ बनती है। मृगी का कलेजा धड़कने लगा और कातर भाव से इधर-उधर झाकने लगी। उसकी प्यास शान्त भी न हो पाई थी कि उस शब्द से और भीत होकर प्राण बचाने का उपक्रम करने लगी। उसे अन्य कोई मार्ग दिखाई नही दिया। उसने नदी के उस पार जाने के लिए एक छलाग भरी। वह गर्भवती थी। भय से आकुला रही थी व एक ही छलाग भरने से असमय ही उसका गर्भ-स्राव हो गया। मृगी नदी के उस पार तो पहुच गई, किन्तु यह मृग-शावक बीच जल-धारा मे ही गिर पड़ा। वह मृगी अपने यूथ से बिछुड़ गई थी। शारीरिक वेदना, भय व अमर्यादित छलाग भरने से वह अत्यन्त व्यथित हो गई थी। किसी भी तरह वह एक गुफा मे पहुची और मरण-धर्म को प्राप्त हो गई।

राजर्षि भरत ने यह सारी घटना देखी। उनका हृदय करुणा से भर आया। उन्होंने उस शावक को जल-धारा से बाहर निकाला, उसकी परिचर्या की और उसे अपना आत्मीय समझकर अपने आश्रम मे ले आये। भरत के एकाकीपन का साथी एक वह मृग-छौना भी हो गया। भरत की उसके प्रति ममता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। वे प्रतिदिन उसके खाने-पीने का प्रबन्ध करने, व्याघ्रादि हिंस्र पशुओ से उसे बचाने, लाड़-लडाने व पुचकारने आदि की चिन्ता मे ही डूबे रहने लगे। उनके यम, नियम और भगवत्पूजा आदि आवश्यक कृत्य एक-एक कर छूटते गये और अन्त मे सभी छूट गये। उन्हें ऐसा विचार रहने लगा कि कितने खेद की बात है कि कालचक्र के वेग ने इस मृग-छौने को अपने दल, सुहृद् और बन्धुओ से दूर कर मेरी शरण मे पहुचा दिया है। यह मुझे ही अपना माता-पिता, साथी-सगी आदि सब कुछ मानता है। मेरे अतिरिक्त इसे और किसी का पता भी नहीं है। मेरे मे ही इसका अटूट विश्वास है। मुझे इस शरणागत की उपेक्षा नही करनी चाहिए; क्योंकि उसके दोषो से भी मैं पूर्णतः परिचित हू। अब मुझे अपने इस आश्रित का सब प्रकार की दोष-बुद्धि को छोड़कर लालन-पालन, पोषण व रक्षण करना चाहिए।

मृग-छौने मे भरत की आसक्ति बढ़ गई और वे उसके स्नेह-पाश मे पूरी तरह से आबद्ध हो गये। यहा तक कि उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते और

छोड़कर उसके समान थी। उसके लिए वह उसी का भरण पोषण करने लगा। जब कुश, पुष्प, समिधा, पत्र और फल-मूलादि लाने वन में जाते तो भेड़ियों व कुत्तों के भय से मृग को साथ लेकर ही वन में जाते। मार्ग में जहां-तहां कोमल घास आदि को देखकर मुग्ध भाव से वह हिरन-शावक अटक जाता तो वे अत्यन्त प्रेमपूर्ण हृदय से उसको कन्धे पर चढ़ा लेते। इसी प्रकार कभी गोद में लेकर और कभी छाती से लगाकर उसका दुलार करने में भी उन्हें बड़ा सुख मिलता। नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करते समय भी वे बीच-बीच में उठ-उठकर उस मृग बालक को देखते और जब उस पर उनकी दृष्टि पड़ती, तभी उनके चित्त को शान्ति मिलती। उस समय उसके लिए मंगल-कामना करते हुए वे कहने लगते—'बेटा ! तेरा सर्वत्र कल्याण हो।'

कभी यदि वह दिखाई न देता तो वे धन लुटे हुए दीन मनुष्य के समान अत्यन्त दुःखी हो जाते। उसके विरह में व्याकुल और सन्तप्त होकर करुणाग्रस्त अत्यन्त उत्कण्ठित एवं शोकाकुल हो जाते तथा बड़े ही उदास होकर इस प्रकार कहने लगते—क्या वह मातृहीन मृग-छौना मेरे जैसे पुण्यहीन व अनार्य का विश्वास कर और मुझे अपना मानकर, मेरे द्वारा किये गये अपराधों को सत्पुरुषों की तरह भूलकर लौट आवेगा ? क्या मैं इस आश्रम में निर्विघ्न रूप से हरी-हरी दूब को चरते उसे देखूंगा ? ऐसा न हो जावे कि कोई भेड़िया, कुत्ता, सूअर अथवा व्याघ्र आदि उसे चटकर जावे। सूर्य भगवान् अस्त होने को जा रहे हैं और अभी तक मृगी की यह धरोहर लौटकर नहीं आई। क्या वह हिरण-राजकुमार मुझ पुण्यहीन के पास आकर अपनी विभिन्न प्रकार की मृगशावकोचित मनोहर एवं दर्शनीय क्रीड़ाओं से अपने स्वजनों का शोक दूर करते हुए मुझे आनन्दित करेगा ? प्रणय-कोप से जब कभी मैं खेल में झूठ-मूठ समाधि के बहाने आंख मूंदकर बैठ जाता तो वह चकित चित्त से मेरे पास आकर जल-बिन्दु के समान अपने कोमल और नन्हें-नन्हें सींगों से किस प्रकार मेरे अंगों को खुजलाने लगता था ? मैं कभी कुशों पर हवन-सामग्री रख देता और वह उन्हें अपने दांतों से खींच कर अपवित्र कर देता तो मेरे डाटने-डपटने पर अत्यन्त भयभीत होकर उसी समय सारी उछल-कूद छोड़ देता व ऋषिकुमार की तरह अपनी समस्त इन्द्रियों को रोककर चुपचाप बैठ जाता।

पृथ्वी पर उस मृग-शावक के खुर के चिह्न देखकर वे कहने लगते—इस भाग्यवती धरती माता ने कौनसा तप किया है, जो उस अतिविनीत मृग-शावक के छोटे-छोटे सुन्दर, सुखकारी और सुकोमल खुरों की पंक्ति से मुझे, जो अपना मृग-धन लुट जाने से अत्यन्त व्याकुल और दीन हो रहा हूं, उस द्रव्य की प्राप्ति का मार्ग दिखा रही है और स्वयं अपने शरीर को भी सर्वत्र उन चरण-चिन्हों से विभूषित कर स्वर्ग और अपवर्ग के इच्छुक द्विजो के लिए यज्ञ-स्थल बना

रहे हैं। यदि उनकी दृष्टि चन्द्रमा में रहने वाले मृग-तुल्य कालिमा पर पड़ती तो उसे अपना ही मृग समझकर वे कह उठते—जिसकी माता सिंह के भय से मर गई थी, आज वही मृग-शिशु अपने आश्रम से बिछुड़ गया है। उसे अनाथ देखकर दीनवत्सल नक्षत्रनाथ दयावश क्या उसकी रक्षा कर रहे हैं? इस प्रकार तरह-तरह के अपार मनोरथों में भरत का चित्त व्याकुल रहने लगा। अपने प्रारब्ध कर्म के कारण वे तपस्वी भगवदाराधन रूप कर्म एवं योगानुष्ठान से च्युत हो गये। वस्तुतः उनका प्रारब्ध ही मृग-शिशु का रूप धारण करके आया था, अन्यथा जिन्होंने मोक्षमार्ग में साक्षात् विघ्न-रूप समझकर अपने ही दुस्त्यज पुत्रादि के परिवार को त्याग दिया था, उन्हीं की अन्य जातीय हिरण-शिशु में आसक्ति कैसे हो सकती थी? राजर्षि भरत इस प्रकार विघ्नों से पराभूत होकर योग-साधना से भ्रष्ट हो गये। उस मृग-छौने के लालन-पालन और लाड़-प्यार में ही व्यस्त हुए आत्मस्वरूप को भूल गये। उस आत्म-विस्मृत अवस्था में ही काल सन्निकट आ गया। वह मृग-छौना उनके पास बैठा था और वे उसकी ओर ताक रहे थे। उनकी आसक्ति में कोई अन्तर नहीं थी, अतः उसी अवस्था में उन्होंने शरीर छोड़ा और अन्त-काल की भावना के अनुसार साधारण जीवों की भांति कालञ्जर पर्वत की कन्दराओं में उन्हें मृग-शरीर ही मिला। उनके पूर्व जन्म की तपस्या पूर्ण थी; अतः उनकी स्मृति नष्ट नहीं हुई। उन्होंने अपने पूर्व जन्म व उससे सम्बन्धित घटनाओं को जाना तथा मृग-शरीर पाने के कारण उनका हृदय पश्चात्ताप से भर गया। उन्हें अपनी उत्कृष्ट साधना व तपश्चर्या का एक मृग-छौने की आसक्ति के कारण इस तरह विफल हो जाना बहुत खटका। सबसे अधिक अनुताप तो उन्हें इस बात का ही रहा था कि परिवार, राज्य व सम्पत्ति का त्याग कर शालिग्राम-जैसी पवित्र-ऋषि भूमि के पुलहाश्रम में मैंने अपना जीवन बिताया और एक मृग-छौने ने उसे सर्वथा भ्रष्ट कर दिया। अपनी भावना को अपने अन्तर्मन में ही छुपाये माता मृगी का त्याग कर व कालञ्जर पर्वत की कन्दराओं से निकलकर शालिग्राम की उसी पवित्र ऋषि-भूमि में पहुंचा और पुलस्त्य और पुलह ऋषि के आश्रमों के आस-पास विचरने लगा। आसक्ति से उसे बड़ा भय लगता था। अकेला रहता तथा सूखे घास, पत्ते, झाड़-झंखाड़ द्वारा अपना निर्वाह करता। क्रमशः अपनी आयु को समाप्त कर अपने आधे शरीर को गण्डक नदी में डुबोये रखकर मृग-योनि को त्याग दिया।

ब्राह्मण कुल में जन्म

आङ्गिरस गोत्री एक विप्र थे। वे ब्राह्मणोचित शम, दम, तप, स्वाध्याय, वेदाध्ययन, त्याग, सन्तोष, तितिक्षा, विनय, आत्म-ज्ञान आदि सभी गुणों से

गमन्न थे। उनके दो पत्नियां थीं। बड़ी पत्नी से उनके नौ पुत्र हुए और छोटी
पत्नी से युग्मजन्म में एक पुत्र व एक पुत्री। दोनों में जो पुत्र था, वह मृग-शरीर
को त्यागकर नरदेह से ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए राजर्षि-श्रेष्ठ भरत ही थे। इस
जन्म में भी जन्म-परम्परा की उनकी स्मृति पूर्णतः वैसी ही थी, जैसी कि
पहले थी, अतः वे निःसंग भाव से रहते। उन्हें यह आशंका प्रतिक्षण बनी
रहती थी कि कहीं उनका मन किसी भी पदार्थ व पारिवारिक में आसक्त न
बन जाए। इसीसे वे हरिकीर्तन, उपासना व पूजा में ही अपना सारा समय
लगाते। दूसरों की दृष्टि में वे पागल, मूर्ख, अन्धे और बहरे के समान रहते थे।

पिता का उनमें वैसा ही स्नेह था। उन्होंने अपने पागल पुत्र के भी विवाह
से पूर्ववर्ती सभी संस्कार करने के विचार से उनका उपनयन संस्कार किया।
शौच, आचमन आदि आवश्यक कार्यों की शिक्षा दी। किन्तु भरत अपने पिता
के सामने ही उन शिक्षाओं का उल्लंघन करने लगे थे। पिता चाहते थे कि
वर्षाकाल में उन्हें वेदाध्ययन आरम्भ करवा दिया जाये, किन्तु वसन्त और ग्रीष्म-
ऋतु के चार महीनों तक पढ़ाते रहने पर भी वे उन्हें व्याहृति और शिरोमंत्र
प्रणव के साथ त्रिपदा गायत्री भी अच्छी तरह नहीं पढ़ा सके। फिर भी उनका
पुत्र से आत्मा के समान ही अनुराग था। उसकी प्रवृत्ति न होने पर भी 'पुत्र
को अच्छी तरह शिक्षा देनी चाहिए' इस अनुचित आग्रह से उन्हें शौच, वेदाध्य-
यन, व्रत, नियम तथा गुरु और अग्नि की सेवा आदि ब्रह्मचर्याश्रम के आवश्यक
नियमों की शिक्षा देते ही रहे। संयोग की बात थी, पुत्र को सुशिक्षित देखने
का उनका मनोरथ पूर्ण नहीं हो पाया। भगवद्-भजन रूप अपने मुख्य कर्तव्य
से असावधान रह कर वे केवल घर के धन्धों में ही व्यस्त रहते। अचानक
काल आया और उन्हें प्रेतधाम का अतिथि बना दिया। उनकी छोटी पत्नी ने
अपने दोनों बालकों को सौत को सम्भाल दिया और स्वयं सती होकर परलोक
को चली गई।

भरत के भाई तो कर्मकाण्ड को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे। वे ब्रह्मज्ञान रूप
पराविद्या से सर्वथा अनभिज्ञ थे; अत. वे उनके प्रभाव से अपरिचित थे। वे
उन्हें निरामूर्ख समझते थे। पिता के स्वर्ग-गमन के अनन्तर उन्होंने उन्हें पढ़ाने-
लिखाने का आग्रह छोड़ दिया। भरत को मानापमान का कोई भी विचार नहीं
था। जब साधारण नर-पशु उन्हें पागल, अन्धा व बहरा कहकर पुकारते तो
भाई भी उन्हें उसी तरह पुकारते। कोई उनसे कुछ भी काम कराना चाहता तो
वे उनकी इच्छा के अनुरूप कर देते। पारिश्रमिक के रूप में मांगने पर या न
मांगने पर जो भी थोड़ा-बहुत, अच्छा-बुरा अन्न मिल जाता, अस्वाद-वृत्ति से उसे
खा लेते। शीतोष्ण, मानापमान आदि द्वन्द्वों से होने वाले सुख-दुःखादि में उन्हें
देहाभिमान की स्फूर्ति नहीं होती थी। वे सर्दी, गर्मी, वर्षा व आंधी के समय

[illegible] । [illegible] और न [illegible]
[illegible] । इनका [illegible]
[illegible] । वे अपनी कमर पर एक [illegible]
[illegible] । [illegible] इसलिए
[illegible], पर वे इनका
[illegible] ।

इन्होंने [illegible] उनके भाइयों ने देखा तो [illegible] का काम सौंपा गया । परन्तु [illegible] ध्यान नहीं था । वे उन क्यारियों की अच्छी तरह देख-भाल भी नहीं कर पाते थे । उन्हें इतना भी ज्ञान नहीं था कि क्यारियों की [illegible] ऊंची-नीची; उन्हें सवारने में ऊबड़-खाबड़ [illegible] या नहीं ? उनके भाई भी उनका पूरा [illegible] करते । वे उन्हें खाने के लिए चावलों की कनी, खल, भूसी, घुने हुए उड़द अथवा बरतनों में लगी हुई अनाज की खुरचन देते थे, जिसे अमृत के समान समझकर वे खा लेते थे ।

भद्रकाली द्वारा भरत की रक्षा

एक बार दस्युओं के एक सरदार ने, जिसके पास शूद्र जाति के ही सामन्त थे, पुत्र-कामना से भद्रकाली की उपासना प्रारम्भ की । उसके लिए एक पशु की बलि आवश्यक थी । उसने एक पुरुष को बलात् पकड़ कर मंगवा लिया, किन्तु मौका पाकर वह उन बन्धनों को तोड़कर भाग निकला । उसके सामन्त उस व्यक्ति की खोज में निकले, किन्तु अन्धेरी रात में आधी रात का समय होने के कारण उस पुरुष का कहीं पर भी पता न लग सका । आंगिरस गोत्रीय यह ब्राह्मण मेड़ पर वीरासन से बैठा हुआ मृग, वाराहादि से अपने खेत की रखवाली कर रहा था । उन लुटेरों को वह कुमार कुछ विलक्षण प्रतीत हुआ, अतः उसे बांध और अपने सरदार के समक्ष उपस्थित कर दिया । सभी चोरों ने उन्हें विधिपूर्वक स्नान कराया, वस्त्र पहनाये तथा नाना आभूषण, चन्दन, तिलक, माला आदि से विभूषित किया । धूप, दीप, माला, खील, पत्ते, अंकुर, फल और नैवेद्य आदि सामग्री के साथ बलिदान की विधि से गान, स्तुति, मृदंग, ढोल आदि का महान् शब्द करते हुए उन्हें भद्रकाली के सामने सिर झुका कर बैठा दिया । दस्युराज के लुटेरे पुरोहित ने उनके रुधिर से देवी को तृप्त करने के निमित्त देवी मन्त्रों से अभिमन्त्रित एक तेज तलवार उठाई ।

घोर स्वभाव से रजोगुणी और तमोगुणी तो थे ही, धन के मद में उनका चित्त और उन्मत्त हो गया । हिंसा में भी उनकी स्वाभाविक रुचि थी । ब्राह्मण

कुल को तिरस्कृत कर स्वच्छन्दता से कुमार्ग की ओर बढ रहे थे। आपत्ति काल मे भी अवध्य साक्षात् ब्रह्मभाव को प्राप्त वैरहीन तथा समस्त प्राणियो के सुहृद् इस ब्रह्मर्षि कुमार की वे बलि देना चाहते थे। इस भयंकर कुकर्म को देखकर देवी भद्रकाली के शरीर मे दु.सह ब्रह्म तेज से दाह होने लगा और वे यकायक मूर्ति को फोडकर प्रकट हो गई। वे अत्यन्त असहनशील प्रतीत होती थी। उनकी भौहे क्रोध के कारण चढी हुई थीं। कराल दाढें और चढी हुई लाल आखो के कारण उनका चेहरा बडा ही भयानक जान पडता था। उनके विकराल स्वरूप को देखकर ऐसा जान पडता था कि वे इसी क्षण सृष्टि का प्रलय कर देंगी। उन्होने भीषण अट्टहास किया और उछलकर उस अभिमंत्रित खड्ग से ही उन सारे पापियों के सिर उडा दिये। अपने गुणों के साथ वे मृत व्यक्तियो के गले से वहते हुए गरम-गरम रुधिर-रूप आसव को पीने लगी और अति उन्मत्त भाव व उच्च स्वर से गाती हुई तथा नाचती हुई उन सिरों को गेंद बनाकर खेलने लगी।

भरत और राजा रहूगण

सिन्धुसौवीर देश का स्वामी राजा रहूगण एक बार शिविका मे बैठ कर कही जा रहा था। जब वह इक्षुमती नदी के तट पर पहुंचा तो उसकी शिविका को उठाकर ले चलने के लिए एक कहार की ओर आवश्यकता पडी। जंगल मे वहा उन्हे और कौन मिलता! ब्राह्मण के चोले मे भरत की वह आत्मा उन्हे दिखलाई दी। सोचा गया—यह तो बड़ा हृष्ट-पुष्ट जवान व गठीले अगो वाला है। बैल व गधे के समान वजन ढो सकता है। उन्हें बलपूर्वक पकडा और शिविका में जोत दिया। यद्यपि भरत इस कार्य के योग्य तो नही थे, तथापि बिना कुछ बोले ही वे शिविका को उठाकर चलने लगे। पैरो के नीचे आकर किसी भी प्राणी की हिंसा न हो जाए, इसलिए आगे की एक बाण भूमि देख-देखकर चलने लगे। इस प्रकार अन्य कहारो की गति के साथ उनका मेल नही बैठा। पालकी टेढी होने लगी। राजा रहूगण को क्रोध आ गया। उसने कहारों को डांटा और सीधे चलने के लिए कहा। कहार घबराये। उन्होने राजा से निवेदन किया—राजन्! हम तो आपके आदेशानुसार ठीक-ठीक ही चल रहे है, किन्तु यह नया कहार जो अभी-अभी पालकी मे लगाय गया है, कदम मिलाकर अच्छी तरह नही चलता। इस एक की वजह से हां आपको कष्ट हो रहा है।

संसर्ग से उत्पन्न होने वाला दोष यदि प्रतिकार न किया जाए तो दूसरे व्यक्तियों मे भी विस्तार पा जाता है। एक कहार की त्रुटि से धीरे-धीरे दूसरे कहार प्रभावित न हो, इसके लिए उसके प्रति व्यग कसते हुए राजा ने कहा—

दुःख की बात है कि अवश्य ही तू बहुत थक गया होगा ! मालूम होता है, तेरे इन साथियों ने तुझे तनिक भी साथ नहीं दिया है ! इतनी दूर से व बड़ी दूर से तू अकेला ही इसे ढोता चला आ रहा है ! तेरा शरीर भी तो कोई खास मोटा-ताजा व हट्टा-कट्टा नहीं है ! बुढ़ापे ने भी तुझे दबा लिया है !

राजा के इतने ताने मारने पर भी भरत ने कुछ भी बुरा न माना; क्योंकि उनकी दृष्टि में तो पंचभूत, इन्द्रिय और अन्तःकरण का संघात यह अपना चरम देह अविद्या का ही कार्य था। वह विविध प्रसंगों में दिखाई देने पर भी वस्तुतः था ही नहीं, इसलिए उसमें उनका मैं—मेरेपन का अध्यास सर्वथा निवृत्त हो गया था और वे ब्रह्मरूप हो गये थे। शिविका उठाये चल रहे थे। राजा के इतना कहने पर भी उनकी गति में कोई अन्तर नहीं आया। शिविका उसी तरह से टेढ़ी-मेढ़ी व ऊँची-नीची हो रही थी। राजा रहूगण यह देखकर आग-बबूला हो गया। ललकार की भाषा में वह बोल पड़ा—यह क्या ? क्या तू जीते ही मर गया है ? जानता नहीं, मैं तेरा मालिक हूं ? मेरा निरादर कर मेरी ही आज्ञा का इस प्रकार उल्लंघन कर रहा है ? मालूम होता है, तू पूरा पागल है। मैं दण्डपाणि यमराज के समान प्रजा का शासन करने वाला हूं। ठहर, अभी तेरा इलाज किये देता हूं।

राजा रहूगण को उत्तर

ब्राह्मण देवता अपनी शान्त व निर्वेद भाषा में बोले—राजन् ! जो कुछ तुम कह रहे हो, ठीक ही है। मैं इसे उलाहना या ताना नहीं मानता। वीरवर! यदि कोई भार है तो उस ढोने वाले शरीर को ही है और यदि कोई मार्ग-श्रम है तो वह भी उसमें चलने वाले शरीर के लिए ही है। मेरा शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं, इसलिए मुझे न तो भार ढोने का क्लेश है और न मार्ग चलने का श्रम ही है। राजन् ! तुम्हारा यह कथन भी ठीक ही है कि तुम विशेष मोटे-ताजे नहीं हो। मोटापन-दुबलापन तो इस पंचभूतों के शरीर में ही है। इसलिए समझदारों का इस विषय में कोई विवाद नहीं है। स्थूलता, कृशता, आधि, व्याधि, भूख, प्यास, भय, कलह, इच्छा, बुढ़ापा, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान और शोक; ये सब देहाभिमान को लेकर उत्पन्न होने वाले जीव में रहते हैं। मेरे में तो इनका लेश भी नहीं है। पृथ्वीपते ! मरने और जीने की बात भी विकारी पदार्थों से ही सम्बन्धित है। उनमें ये दोनों बातें नियमित रूप से देखी जाती है, क्योंकि वे सभी आदि-अन्त वाले हैं। नरेश ! जहां स्वामी-सेवक भाव स्थिर हो, वहीं आज्ञा-पालन आदि का नियम भी लागू हो सकता है। तुम्हारे और मेरे बीच में तो यह सम्बन्ध स्थिर नहीं है। इसमें परिवर्तन भी हो सकता है। 'तुम राजा हो और मैं प्रजा हूं' इस प्रकार की भेद-बुद्धि

कुल को तिरस्कृत कर स्वच्छन्दता से कुमार्ग की ओर बढ़ रहे थे । आपत्ति काल में भी अवध्य साक्षात् ब्रह्मभाव को प्राप्त वैरहीन तथा समस्त प्राणियों के सुहृद् इस ब्रह्मर्षि कुमार की वे बलि देना चाहते थे । इस भयंकर कुकर्म को देखकर देवी भद्रकाली के शरीर में दुःसह ब्रह्म तेज से दाह होने लगा और वे यकायक मूर्ति को फोड़कर प्रकट हो गई । वे अत्यन्त असहनशील प्रतीत होती थी । उनकी भौंहें क्रोध के कारण चढ़ी हुई थीं । कराल दाढें और चढी हुई लाल आंखों के कारण उनका चेहरा बड़ा ही भयानक जान पड़ता था । उनके विकराल स्वरूप को देखकर ऐसा जान पड़ता था कि वे इसी क्षण सृष्टि का प्रलय कर देंगी । उन्होंने भीषण अट्टहास किया और उछलकर उस अभिमंत्रित खड्ग से ही उन सारे पापियों के सिर उड़ा दिये । अपने गुणों के साथ वे मृ व्यक्तियों के गले से बहते हुए गरम-गरम रुधिर-रूप आसव को पीने लगी औ अति उन्मत्त भाव व उच्च स्वर से गाती हुई तथा नाचती हुई उन सिरों गेंद बनाकर खेलने लगी ।

भरत और राजा रहूगण

सिन्धुसौवीर देश का स्वामी राजा रहूगण एक बार शिविका में बैठ कर कहीं जा रहा था । जब वह इक्षुमती नदी के तट पर पहुंचा तो उसकी शिविका को उठाकर ले चलने के लिए एक कहार की और आवश्यकता पड़ी । जंगल में वहां उन्हें और कौन मिलता ! ब्राह्मण के चोले में भरत की वह आत्मा उन्हें दिखलाई दी । सोचा गया—यह तो बड़ा हृष्ट-पुष्ट जवान व गठीले अंगों वाला है । बैल व गधे के समान वजन ढो सकता है । उन्हें बलपूर्वक पकड़ा और शिविका में जोत दिया । यद्यपि भरत इस कार्य के योग्य तो नहीं थे, तथापि बिना कुछ बोले ही वे शिविका को उठाकर चलने लगे । पैरों नीचे आकर किसी भी प्राणी की हिंसा न हो जाए, इसलिए आगे की एक ब भूमि देख-देखकर चलने लगे । इस प्रकार अन्य कहारों की गति के साथ उ मेल नहीं बैठा । पालकी टेढ़ी होने लगी । राजा रहूगण को क्रोध आ गया । उसने कहारों को डांटा और सीधे चलने के लिए कहा । कहार घबराये । उन्होंने राजा से निवेदन किया—राजन् ! हम तो आपके आदेशानुसार ठीक-ठीक ही चल रहे हैं, किन्तु यह नया कहार जो अभी-अभी पालकी में लगा गया है, ... मिलाकर अच्छी त... नहीं चलता । इस एक की आपको ब

मंत

[illegible] कृपा-दृष्टि करें, जिससे इस साधु-सम[illegible] [illegible] जाऊं।

भरत ने [illegible] के वचनों का स्वागत किया, भवाटवी का सविस्तार वर्णन किया और [illegible] आत्म-तत्त्व का उपदेश दिया।

भरत का माहात्म्य

भरत का माहात्म्य बताते हुए वहां आगे कहा गया है—जिस प्रकार गरुड की होड़ कोई मक्खी नहीं कर सकती, उसी प्रकार ऋषभपुत्र राजर्षि भरत के मार्ग का कोई और राजा मन से भी अनुसरण नहीं कर सकता। उन्होंने पुण्यकीर्ति श्रीहरि में अनुरक्त होकर अति मनोरम स्त्री, पुत्र, मित्र और राज्यादि को युवावस्था में ही विष्ठा के समान समझ कर त्याग दिया था। उन्होंने अपना मृग-शरीर छोड़ते समय उच्च स्वर में कहा था—'धर्म की रक्षा करने वाले, धर्मानुष्ठान में निपुण, योगगम्य, शास्त्र के प्रतिपाद्य, प्रकृति के सर्वेश्वर, यज्ञमूर्ति, सर्वान्तर्यामी श्री हरि को नमस्कार है।' जिनकी ऐसी अलौकिक भक्ति थी, उन भरत की बराबरी कौन कर सकता है?

प्राचीन इतिहास

श्रीमद् भागवत पुराण, स्कन्ध ११, अध्याय २ से ४ तक का प्रकरण भी उपरोक्त विवेचन की पुष्टि करता है। शुकदेव राजा परीक्षित को सम्बोधित करते हुए कहते है: "देवर्षि नारद अधिकांशत द्वारका मे ही रहते थे। एक दिन वे वसुदेव के यहा पहुच गये। वसुदेव ने उनका अभिवादन किया, विधिवत् पूजा की और जन्म-मृत्यु रूप इस भयावह ससार से अनायास ही पार होने के निमित्त उपदेश की प्रार्थना की।

देवर्षि नारद ने वसुदेव के कथन का अनुमोदन किया और उसके उत्तर मे कहा: "राजन्! तुमने जो माग की है, उसके सम्बन्ध मे सत पुरुष ऋषभदेव के पुत्र नौ योगीश्वरों और महात्मा विदेह राज के शुभ सवाद के रूप मे एक प्राचीन इतिहास सुनाया करते है। तुम जानते ही हो कि स्वायम्भुव[1] मनु के

---

१. प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायंभुवस्य यः।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभि ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः॥
तमाहुर्वासुदेवांश मोक्षधर्मविवक्षया।
अवतीर्णं सुतशत तस्यासीद् ब्रह्मपारगम्॥
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः।
विख्यातं वर्षमेतद्यन्नाम्ना भारतमद्भुतम्॥

—श्रीमद् भागवत, स्कंध ११, अध्याय २

के लिए मुझे व्यवहार के अतिरिक्त और कहीं तनिक भी अवकाश दिखाई नहीं देता। परमार्थ-दृष्टि से किसे स्वामी कहा जाए और किसे सेवक? फिर भी राजन! यदि तुम्हें स्वामित्व का अभिमान है तो कहो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूं? राजन्! मैं तो मत्त, उन्मत्त और जड के समान अपनी ही स्थिति में रहता हूं। मेरा इलाज करने से तुम्हें क्या हाथ लगेगा? यदि मैं वास्तव में जड और प्रमादी ही हूं तो भी मुझे शिक्षा देना पिसे हुए को पीसने के समान ही व्यर्थ होगा। मार-पीट कर भी तुम मुझे चालाक तो नहीं बना सकोगे?

भरत यथार्थ तत्त्व का उपदेश करते हुए इतना उत्तर देकर मौन हो गये। उनका देहात्मबुद्धि का हेतुभूत अज्ञान निवृत्त हो चुका था, इसलिए वे परम शान्त हो गए। पहले की ही भांति शिविका को कन्धे पर उठाए चलने लगे। सिन्धुसौवीर नरेश रहूगण भी अपनी उत्तम श्रद्धा के कारण तत्त्व-जिज्ञासा का पूरा अधिकारी था। जब उसने उनके अनेक योग-ग्रन्थों से समर्थित और हृदय की ग्रन्थि का छेद करने वाले ये वाक्य सुने तो वह उसी समय शिविका से उतर पड़ा। उसका राजमद सर्वथा दूर हो गया और वह उनके चरणों में सिर रख कर अपने अपराध के लिए क्षमा मांगते हुए कहने लगा—'देव! आपने द्विजों का चिन्ह यज्ञोपवीत धारण कर रखा है, बतलाइए, इस प्रकार से प्रच्छन्नभाव में विचरने वाले आप कौन हैं? क्या आप दत्तात्रेय आदि अवधूतों में से कोई हैं? आप किसके पुत्र हैं? आपका कहां जन्म हुआ? और यहां आपका पदार्पण कैसे हुआ? यदि आप हमारा कल्याण करने के लिए पधारे हैं तो क्या आप साक्षात् सत्त्वमूर्ति भगवान् कपिल ही तो नहीं हैं? मुझे इन्द्र के वज्र, महादेव के त्रिशूल, यमराज के दण्ड और अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु और कुबेर के आयुधों का भी कोई भय नहीं है, किन्तु ब्रह्मकुल का अपमान होने से मैं बहुत डरता हूं। कृपया, बताने का कष्ट करें कि इस प्रकार अपने विज्ञान और शक्ति को छुपा कर पागलों की तरह विचरने वाले आप कौन हैं? विषयों से तो आप सर्वथा अनासक्त जान पड़ते हैं। मुझे आपकी कोई थाह नहीं मिल रही है। साधो! आपके योगयुक्त वाक्यों की युक्ति द्वारा आलोचना करने पर भी मेरा संदेह दूर नहीं होता। मैं तो आत्मज्ञानी योगेश्वर भगवान् कपिल से यह पूछने जा रहा था कि इस लोक में एकमात्र शरण लेने योग्य कौन है? क्या आप ही वे कपिल मुनि नहीं हैं, जो लोगों की दशा देखने के लिए अपना रूप छुपाकर विचर रहे हैं? घर में आसक्त रहने वाला विवेकहीन पुरुष योगेश्वरों की गति कैसे जान सकता है?'

राजा रहूगण ने भरत का परिचय पाने के अनन्तर उनके द्वारा [illegible] विषय में कुछ [illegible] की और उनका समाधान चाहा। भरत ने [illegible] हुए उससे कहा—राजन् के अविवेक से उत्पन्न होकर मन [illegible]

की मैंने अवज्ञा की है। अब आप ऐसी कृपा-दृष्टि करें, जिससे इस साधु-अवज्ञा-रूप अपराध से मुक्त हो जाऊं।

भरत ने रहूगण के प्रश्नों का समाधान किया, भवाटवी का सविस्तार वर्णन किया और अत्यन्त करुणावश आत्म-तत्त्व का उपदेश दिया।

भरत का माहात्म्य

भरत का माहात्म्य बताते हुए वहां आगे कहा गया है—जिस प्रकार गरुड़ की होड़ कोई मक्खी नहीं कर सकती, उसी प्रकार ऋषभपुत्र राजर्षि भरत के मार्ग का कोई और राजा मन से भी अनुसरण नहीं कर सकता। उन्होंने पुण्यकीर्ति श्रीहरि में अनुरक्त होकर अति मनोरम स्त्री, पुत्र, मित्र और राज्यादि को युवावस्था में ही विष्ठा के समान समझ कर त्याग दिया था। उन्होंने अपना मृग-शरीर छोड़ते समय उच्च स्वर से कहा था—'धर्म की रक्षा करने वाले, धर्मानुष्ठान में निपुण, योगगम्य, सांख्य के प्रतिपाद्य, प्रकृति के अधीश्वर, यज्ञमूर्ति, सर्वान्तर्यामी श्री हरि को नमस्कार है।' जिनकी ऐसी अलौकिक भक्ति थी, उन भरत की बराबरी कौन कर सकता है?

प्राचीन इतिहास

श्रीमद् भागवत पुराण, स्कन्ध ११, अध्याय २ से ४ तक का प्रकरण भी उपरोक्त विवेचन की पुष्टि करता है। शुकदेव राजा परीक्षित को सम्बोधित करते हुए कहते हैं. "देवर्षि नारद अधिकांशतः द्वारका में ही रहते थे। एक दिन वे वसुदेव के यहां पहुंच गये। वसुदेव ने उनका अभिवादन किया, विधिवत् पूजा की और जन्म-मृत्यु रूप इस भयावह संसार से अनायास ही पार होने के निमित्त उपदेश की प्रार्थना की।

देवर्षि नारद ने वसुदेव के कथन का अनुमोदन किया और उसके उत्तर में कहा: "राजन्! तुमने जो मांग की है, उसके सम्बन्ध में संत पुरुष ऋषभदेव के पुत्र नौ योगीश्वरों और महात्मा विदेह राज के शुभ संवाद के रूप में एक प्राचीन इतिहास सुनाया करते हैं। तुम जानते ही हो कि स्वायम्भुव[1] मनु के

---

1. प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः।
   तस्याग्नीध्रस्ततो नाभि ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः॥
   तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया।
   अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम्॥
   तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः।
   विख्यातं वर्षमेतद्यन्नाम्ना भारतमद्भुतम्॥

—श्रीमद् भागवत, स्कन्ध ११, अध्याय २

प्रियव्रत नामक एक प्रसिद्ध पुत्र थे। प्रियव्रत के आग्नीध्र, आग्नीध्र के नाभि और नाभि के पुत्र ऋषभदेव हुए। ये भगवान् वासुदेव के अंश थे। मोक्ष धर्म का उपदेश करने के लिए उन्होंने अवतार ग्रहण किया था। उनके सौ पुत्र थे और सभी वेदों के पारदर्शी विद्वान थे। उनमें सबसे बड़े राजर्षि भरत थे। वे भगवान् नारायण के परम प्रेमी भक्त थे। उन्हीं के नाम से यह भूमि-खण्ड, जो 'अजनाभवर्ष' कहलाता था, 'भारतवर्ष' कहलाया। यह भारतवर्ष भी एक अलौकिक स्थान है। राजर्षि भरत ने सारी पृथ्वी का राज्य भोग किया। परन्तु अन्त में इसे छोड़कर वन में चले गये। वहाँ उन्होंने तपस्या के द्वारा भगवान् की उपासना की और तीसरे जन्म में वे भगवान् को प्राप्त हुए। भगवान् ऋषभदेव के शेष निन्यानवे पुत्रों में नौ पुत्र तो इस भारत के सब ओर स्थित नौ द्वीपों के अधिपति हुए और इक्यासी पुत्र कर्मकाण्ड के रचयिता ब्राह्मण हो गये तथा शेष नौ सन्यासी हो गए। जो सब कुछ छोड़कर सन्यासी हो गए, वे तो बड़े ही भाग्यवान् थे। उन्होंने आत्म-विद्या के सम्पादन में बड़ा परिश्रम किया था और वास्तव में उसमें बड़े निपुण थे। वे प्रायः दिगम्बर ही रहते थे और अधिकारियों को परमार्थ वस्तु का उपदेश किया करते थे। उनके नाम थे—कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन। वे इस कार्य-कारण और व्यक्त-अव्यक्त भगवद्रूप जगत् को अपनी आत्मा से अभिन्न अनुभव करते हुए पृथ्वी पर स्वच्छन्द विचरण करते थे। उनके लिए कहीं भी रोक-टोक न थी। वे जहां चाहते, चले जाते। देवता, सिद्ध, साध्य, गन्धर्व, यक्ष मनुष्य, किन्नर और नागों के लोकों में तथा मुनि, चारण, ब्राह्मण और गौओं के स्थानों में वे स्वच्छन्द विचरते थे। वे सभी जीवन्मुक्त थे।

एक बार की बात है। इस अजनाभ (भारत) वर्ष में विदेहराज महात्मा निमि बड़े-बड़े ऋषियों के द्वारा एक महान् यज्ञ करा रहे थे। उपर्युक्त नौ योगीश्वर स्वच्छन्द विचरण करते हुए उनके यज्ञ में जा पहुंचे। वे योगीश्वर भगवान् के परम प्रेमी भक्त और सूर्य के समान तेजस्वी थे। उन्हें देखकर राजा निमि, आहवनीय आदि मूर्तिमान् अग्नि और ऋत्विज आदि ब्राह्मण सभी उनके स्वागत में खड़े हो गए। विदेहराज निमि ने उन्हें भगवान् के प्रेमी भक्त जानकर यथायोग्य आसनों पर बैठाया और प्रेम तथा आनन्द से भरकर विधि पूर्वक उनकी पूजा की। वे नौ ही योगीश्वर अपने अंगों की कान्ति से इस प्रकार चमक रहे थे, मानो साक्षात् ब्रह्मा के पुत्र सनकादि मुनीश्वर ही हों।

विदेहराज निमि ने उन नौ ही योगीश्वरों से नाना प्रश्न किये और प्रत्येक प्रश्न का एक-एक योगीश्वर ने क्रमशः उत्तर दिया। राजा निमि ने सातवाँ प्रश्न किया: "योगीश्वरो! भगवान् स्वतन्त्रता से अपने भक्तों के वश में होकर अनेकों प्रकार के अवतार ग्रहण करते हैं और अनेकों लीलाएं करते हैं। आ

[illegible], जो वे [illegible] [illegible]।

[illegible] भगवान् विष्णु ने [illegible] हुए भी समूचे जगत् के कल्याण के लिए [illegible] किए हैं। विशेषतः 'हंस, दत्तात्रेय, सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमार और हमारे पिता'[1] ऋषभ के रूप में अवतीर्ण होकर उन्होंने आत्म-साक्षात्कार के साधना का उपदेश किया है। उन्होंने ही हयग्रीव अवतार लेकर मधु-कैटभ का संहार कर उन वेदों के द्वारा भुलाये हुए लोगों का उद्धार किया है। उन्होंने मत्स्यावतार लेकर उन्होंने भावी मनु सत्यव्रत, पृथ्वी और ओषधियों की—धान्यादि की रक्षा की और वराहावतार ग्रहण करके पृथ्वी का रसातल से उद्धार करते समय हिरण्याक्ष का संहार किया। कूर्मावतार ग्रहण करके उन्हीं भगवान् ने समुद्र-मन्थन का कार्य सम्पन्न करने के लिए अपनी पीठ पर मन्दराचल धारण किया और उन्हीं भगवान् विष्णु ने अपने शरणागत एवं आर्त भक्त गजेन्द्र को ग्राह से छुड़ाया। एक बार बालखिल्य ऋषि तपस्या करते-करते अत्यन्त दुर्बल हो गए थे। वे जब कश्यप ऋषि के लिए समिधा ला रहे थे तो थक कर गाय के खुर से बने हुए गड्ढे में गिर पड़े। मानो समुद्र में गिर गए हों। उन्होंने जब स्तुति की, तब भगवान् ने अवतार लेकर उनका उद्धार किया। वृत्रासुर को मारने के कारण जब इन्द्र को ब्रह्म-हत्या लगी और उसके भय से भागकर छिप गए, तब भगवान् ने उस हत्या से इन्द्र की रक्षा की और जब असुरों ने अनाथ देवांगनाओं को बन्दी बना लिया, तब भी भगवान् ने ही उन्हें असुरों के चंगुल से छुड़ाया। जब हिरण्यकशिपु के कारण प्रह्लाद आदि संत पुरुषों को भय पहुँचने लगा, तब उनको निर्भय करने के लिए भगवान् ने नरसिंहावतार ग्रहण किया और हिरण्यकशिपु को मार डाला। उन्होंने देवताओं की रक्षा के लिए देवासुर-संग्राम में दैत्यपतियों का वध किया और विभिन्न मन्वन्तरों में अपनी शक्ति से अनेकों कलावतार धारण करके त्रिभुवन की रक्षा की। फिर वामन-अवतार ग्रहण करके उन्होंने याचना के बहाने पृथ्वी को दैत्यराज बलि से छीन लिया और देवताओं को दे दिया। परशुराम-अवतार ग्रहण करके उन्होंने ही पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रियहीन किया। परशुराम तो हैहयवंश का प्रलय करने के लिए मानो भृगुवंश में अग्निरूप से ही अवतीर्ण हुए थे। उन्हीं भगवान् ने रामावतार में समुद्र पर पुल बान्धा एवं रावण

---

१. हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मयोगं।
   दत्तः कुमार ऋषभो भगवान् पिता नः॥
   —श्रीमद् भागवत, स्कन्ध ११, अ० ४, श्लोक १७

व स्वरूपमें देव से है। सातों भूमिकाओं[1] के नाम १. शुभेच्छा, २. विचारणा, ३. तनुमानसा, ४. सत्त्वापत्ति, ५. असंसक्ति, ६. पदार्थाभावना, और ७ तुर्यगा है।

मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूं, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषों द्वारा जानकर तत्त्व का साक्षात्कार करूंगा; इस प्रकार वैराग्यपूर्वक केवल मोक्ष की इच्छा होने को ज्ञानी जनों ने 'शुभेच्छा[2]' कहा है।

शास्त्रों के अध्ययन, मनन और सत्संग के संग तथा विवेक-वैराग्य के अभ्यास-पूर्वक सदाचार में प्रवृत्त होने को 'विचारणा'[3] कहा है।

शुभेच्छा और विचारणा के द्वारा इन्द्रियों के विषय-भोगों में आसक्ति का अभाव होना और अनासक्त हो संसार में विचरण करने को 'तनुमानसा[4]' कहा है। इस भूमिका में मन शुद्ध होकर सूक्ष्मता को प्राप्त हो जाता है; अतः इसे 'तनुमानसा' कहा गया है।

उपरोक्त तीनों भूमिकाओं के अभ्यास से चित्त के सांसारिक विषयों से अत्यन्त विरक्त हो जाने के अनन्तर उसके प्रभाव से आत्मा का शुद्ध तथा सत्यस्वरूप परमात्मा में तद्रूप हो जाना 'सत्त्वापत्ति'[5] है।

चारों भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक अभ्यास से चित्त के

---

१. ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥
—योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ५-६

२. स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥
—योगवासिष्ठ, उत्पत्ति०, ११८।८

३. शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥
—योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८।९

४. विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
यात्र सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा॥
—योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८।१०

५. भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता॥
—योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ११

और उसकी राजधानी लंका को मटियामेट कर दिया। उनकी कीर्ति समस्त लोकों के मल को नष्ट करने वाली है। भगवान् राम सदा-सर्वदा, सर्वत्र विजयी ही विजयी हैं। राजन् ! अजन्मा होने पर भी पृथ्वी का भार उतारने के लिए वे भगवान् यदुवंश में जन्म लेंगे और ऐसे-ऐसे कर्म करेंगे, जिन्हें बड़े-बड़े देवता भी नहीं कर सकते। फिर आगे चलकर भगवान् ही बुद्ध के रूप में प्रकट होकर यज्ञ के अनधिकारियों को अनेक प्रकार के तर्क-वितर्कों से मोहित कर लेंगे और कलियुग के अन्त में कल्कि अवतार लेकर वे ही शूद्र राजाओं का वध करेंगे।

श्रीमद् भागवत मे वर्णित भगवान् ऋषभदेव और भरत-सम्बन्धी जीवन-प्रसंग अन्य पुराणों में भी विवेचित हैं। विष्णु पुराण, अंश २, अध्याय १ में भगवान् ऋषभदेव की वंश-परम्परा का सविस्तार उल्लेख है। अंश २ अध्याय ११ से १६ तक भरत का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया गया है। इनके अतिरिक्त वायु पुराण, अग्नि पुराण, गरुड पुराण, मार्कण्डेय पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, वाराह पुराण, शिव पुराण, कूर्म पुराण, लिंग पुराण आदि में भी भगवान् ऋषभदेव व चक्रवर्ती भरत के उल्लेख तथा जीवन-वृत्त पाये जाते हैं।

महाभारत में ऋषभदेव और उनके पुत्र भरत का प्रसंग कहीं नहीं आया है; क्योंकि इसमे दुष्यन्त-पुत्र भरत की वंश-परम्पराओं का ही विशेषतः विवेचन किया गया है। फिर भी ऋषभ[1], नाभि[2], आदि,[3] आदिकर, सर्वग[4], सर्वज्ञ[5] आदि शब्दों का यत्र-तत्र प्रयोग किया गया है। यह शब्द-प्रयोग वहां शिव के विशेषण के रूप मे हुआ है, जो विशेषतः अनुसन्धेय है।

ज्ञान की सात भूमिकाएं

योगवासिष्ठ, उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग ११८ में ज्ञान की सात भूमिकाओं का विशद विवेचन किया गया है। पांचवीं व छठी भूमिका का सम्बन्ध जड़ भरत

---

१. ऋषभस्त्वं पवित्राणां योगिनां निष्कलः शिवः।
—महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ३१८

२. नाभिर्नन्दिकरो भावः पुष्करः स्थपतिः स्थिरः।
—महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ६३

३. सर्वकर्मा स्वयंभूत आदिरादिकरो निधिः।
—महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ३७

४. विभागः सर्वगो मुखः।
—महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ५६

५. सुवर्णरेताः सर्वज्ञः सुबीजो बीजवाहनः।
—महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ४०

[illegible] का कोई प्रयोजन रहता है [illegible] स्पूर्ण प्राणियों [illegible] रहता।

[illegible] के सम्पूर्ण कर्म [illegible] और कामना [illegible] । [illegible] अग्नि के द्वारा [illegible] भी पण्डित कहते हैं

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥[1]

[illegible] 'पदार्थाभावना' [illegible] कहा जा सकता है। ऐसा महापुरुष जब समाधि-अवस्था में रहता है तब तो उसे सुषुप्ति अवस्था की भाँति संसार का बिल्कुल भान नहीं रहता और व्युत्थान-अवस्था में—व्यवहार-काल में उसके द्वारा पूर्व के अभ्यास से ममता, आसक्ति, कामना, संकल्प और कर्तृत्वाभिमान के बिना ही सारे कर्म होते रहते हैं। उसकी कभी समाधि-अवस्था रहती है और कभी व्युत्थानावस्था। उसकी किसी दूसरे के प्रयत्न बिना स्वतः ही व्युत्थानावस्था होती है। किन्तु वास्तव में संसार के अभाव का निश्चय होने के कारण उसकी व्युत्थानावस्था भी समाधि के तुल्य ही होती है, इस कारण उसकी इस अवस्था को 'सुषुप्ति-अवस्था' भी कहते हैं।"[2]

पदार्थाभावना भूमिका का विवेचन करते हुए कहा गया है "असंसक्ति के पश्चात् जब यह ब्रह्म-प्राप्त पुरुष पदार्थाभावना में प्रवेश करता है, तब उस की नित्य समाधि रहती है, इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती। उसके अन्तःकरण में शरीर और संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। उसे संसार का और शरीर के बाहर-भीतर का बिलकुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते-जाते हैं,, इसलिए उस भूमि को 'पदार्थाभावना' कहते हैं। जैसे गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष को बाहर-भीतर के पदार्थों का ज्ञान बिलकुल नहीं रहता, वैसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता, अतः उस पुरुष की इस अवस्था को 'गाढ़ सुषुप्ति अवस्था' भी कहा जा सकता है। किन्तु गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष के तो मन-बुद्धि अज्ञान के कारण माया में विलीन हो जाते हैं, अतः उसकी स्थिति तमोगुणमयी है, पर इस ज्ञानी-पुरुष के मन-बुद्धि ब्रह्म में तद्रूप हो जाते हैं। अतः इसकी अवस्था गुणातीत है। इसलिए यह गाढ़ सुषुप्ति से अत्यन्त विलक्षण है।

गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष तो निद्रा-परिपाक हो जाने पर स्वतः ही जग

---

१. अध्याय ४, श्लो० १६
२. ज्ञानयोग का तत्त्व, पृ० ३०४-३०५

बाह्याभ्यन्तर सभी विषय-संस्कारों से अत्यन्त असंग—सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर अन्तःकरण का समाधि में आरूढ़—स्थित हो जाना 'असंसक्ति'[1] है।

पूर्व पांचों भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक अभ्यास से उस ज्ञानी महात्मा की आत्मारामता के प्रभाव से उसके अन्तःकरण में संसार के पदार्थों का अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है, जिससे उसे बाहर-भीतर के किसी भी पदार्थ का स्वयं भान नहीं होता, दूसरों के द्वारा प्रयत्न-पूर्वक चिरकाल तक प्रेरणा करने पर ही कभी किसी पदार्थ का भान होता है; अतः उसके अन्तःकरण की 'पदार्थाभावना'[2] हो जाती है।

पूर्व सभी भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक चिरकाल तक अभ्यास होने से जिस अवस्था में दूसरों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक प्रेरित करने पर भी भेदरूप संसार की सत्ता-स्फूर्ति की उपलब्धि नहीं होती, किन्तु अपने आत्मभाव में स्वाभाविक निष्ठा रहती है, उस स्थिति को उसके अन्तःकरण की 'तुर्यगा[3]' भूमिका कहा गया है।

ऋषभदेव छठी पदार्थाभावना और जड़ भरत असंसक्ति नामक पांचवीं भावना में स्थित हैं; ऐसा माना गया है। असंसक्ति भूमिका का विश्लेषण करते हुए कहा गया है: "परम वैराग्य और परम उपरति के कारण उस ब्रह्म-प्राप्त ज्ञानी महात्मा का इस संसार और शरीर से अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। ऐसे पुरुष का संसार से कोई भी प्रयोजन नहीं रहता, अतः वह कर्म करने या न करने के लिए बाध्य नहीं है। गीता[4] में कहा गया है :

> नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
> न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

---

१. दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसंगफलेन च।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्ता संसक्तिनामिका॥
—योगवासिष्ठ, उत्पत्ति०, ११८। १२

२. भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात्।
पदार्थाभावनानाम्नी षष्ठी संजायते गतिः॥
—योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। १३-१४

३. भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः॥
—योगवासिष्ठ, उत्पत्ति०, ११८।१५

४. अध्याय ३, श्लो० १८

[illegible] कोई प्रयोजन रहता है [illegible] है तथा सम्पूर्ण प्राणियों [illegible] नहीं रहता।

[illegible] और वासना [illegible] इस प्रकार जिसके सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूप अग्नि के [illegible] इस अवस्था का [illegible] वर्णन करते हैं

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥[1]

[illegible] कहा जा सकता है। [illegible] जब [illegible] समाधि-अवस्था में रहता है तब तो इस सुषुप्ति अवस्था की [illegible] का बिल्कुल ज्ञान नहीं रहता और व्युत्थान अवस्था में—व्यवहार-काल में [illegible], आसक्ति कामना संकल्प और कर्तृत्वाभिमान के बिना ही सारे कर्म होते रहते हैं। उसकी कभी समाधि-अवस्था रहती है और कभी व्युत्थानावस्था। उसकी किसी दूसरे के प्रयत्न बिना स्वतः ही व्युत्थानावस्था होती है। किन्तु वास्तव में संसार के अभाव का निश्चय होने के कारण उसकी व्युत्थानावस्था भी समाधि के तुल्य ही होती है, इस कारण उसकी इस अवस्था को 'सुषुप्ति-अवस्था' भी कहते हैं।"[2]

पदार्थाभावना भूमिका का विश्लेषण करते हुए कहा गया है "असंसक्ति के पश्चात् जब वह ब्रह्म-प्राप्त पुरुष पदार्थाभावना में प्रवेश करता है, तब उस की नित्य समाधि रहती है, इस कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती। उसके अन्तःकरण में शरीर और संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। उसे संसार का और शरीर के बाहर-भीतर का बिलकुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते-जाते है,, इसलिए उस भूमि को 'पदार्थाभावना' कहते हैं। जैसे गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष को बाहर-भीतर के पदार्थों का ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता, वैसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता, अत उस पुरुष की इस अवस्था को 'गाढ़ सुषुप्ति अवस्था' भी कहा जा सकता है। किन्तु गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष के तो मन-बुद्धि अज्ञान के कारण माया में विलीन हो जाते हैं, अतः उसकी स्थिति तमोगुणमयी है, पर इस ज्ञानी-पुरुष के मन-बुद्धि ब्रह्म में तद्रूप हो जाते है। अत. इसकी अवस्था गुणातीत है। इसलिए यह गाढ़ सुषुप्ति से अत्यन्त विलक्षण है।

गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष तो निद्रा-परिपाक हो जाने पर स्वतः ही जग

---

१. अध्याय ४, श्लो० १६
२. ज्ञानयोग का तत्त्व, पृ० ३०४-३०५

बौद्ध वाङ्मय में

बौद्ध साहित्य में भगवान् महावीर के जीवन-प्रसंग और निर्ग्रन्थ धर्म का उल्लेख तो बहुत स्थानों पर उपलब्ध होता है, पर जैन और वैदिक साहित्य की तरह भगवान् ऋषभदेव व भरत के सविस्तार जीवन-प्रसंग वहां उपलब्ध नहीं होते हैं। यत्र-तत्र भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख भगवान् महावीर तथा भरत के साथ कई स्थानों पर मिलता है। 'धम्मपद' में कहा गया है

> उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं।
> अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ४२२

इस पद्य में समागत उसभ (ऋषभ) और वीर शब्द प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तथा चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के लिए ही प्रयुक्त ज्ञात होते हैं। यद्यपि इस पद्य के अर्थ में कुछ एक विद्वानों का मतभेद है। वे इन्हें ऋषभदेव और भगवान् महावीर के लिए व्यवहृत नहीं मानते, किन्तु कुछ एक विद्वानों ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए उपरोक्त अभिमत की पुष्टि की है।[1]

'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में भारत के आदिकालीन राजाओं में नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभ-पुत्र भरत का उल्लेख किया गया है :

> प्रजापतेः सुतो नाभि तस्यापि आगमुच्यति।
> नाभिनो ऋषभपुत्रो वै सिद्धकर्म दृढव्रतः ॥ ३९० ॥
> तस्यापि मणिचरो यक्षः सिद्धो हैमवते गिरौ।
> ऋषभस्य भरत पुत्रः सोऽपि मंजतान तदा जपेत् ॥ ३९१ ॥

इस ग्रन्थ में एक स्थान पर कपिल[2] के साथ भी उनका उल्लेख किया गया है।

नैयायिक धर्मकीर्ति ने सर्वज्ञ[3] के उदाहरण में भगवान् ऋषभदेव और भग-

---

१. इण्डियन हिस्टोरीकल, क्वाटर्ली, भा० ३, पृ० ४७३-४७५

२. कपिल मुनिनाम ऋषिवरो, निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऋषभनिर्ग्रन्थ रूपि।

—आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प

३. यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्, तद्यथा ऋषभवर्ध-मानादिरिति।

—न्यायबिन्दु

जाता है; किन्तु इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुष की व्युत्थानावस्था तो दूसरों के बार-बार प्रयत्न करने पर ही होती है, अपने-आप नहीं। उस व्युत्थानावस्था में वह जिज्ञासु के प्रश्न करने पर पूर्व के अभ्यास के कारण ब्रह्मविषयक तत्व-रहस्य को बतला सकता है। इसी कारण ऐसे पुरुषों को 'ब्रह्म विद्वरीयान्' कहते हैं।[1]"

बौद्ध वाङ्मय में

बौद्ध साहित्य में भगवान् महावीर के जीवन-प्रसग और निर्ग्रंन्थ धर्म का उल्लेख तो बहुत स्थानो पर उपलब्ध होता है, पर जैन और वैदिक साहित्य की तरह भगवान् ऋषभदेव व भरत के सविस्तार जीवन-प्रसंग वहा उपलब्ध नही होते हैं। यत्र-तत्र भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख भगवान् महावीर तथा भरत के साथ कई स्थानो पर मिलता है। 'धम्मपद' में कहा गया है:

उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं ।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ४२२

इस पद्य मे समागत उसभ (ऋषभ) और वीर शब्द प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तथा चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के लिए ही प्रयुक्त ज्ञात होते हैं। यद्यपि इस पद्य के अर्थ में कुछ एक विद्वानो का मतभेद है। वे इन्हे ऋषभदेव और भगवान् महावीर के लिए व्यवहृत नही मानते, किन्तु कुछ एक विद्वानो ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए उपरोक्त अभिमत की पुष्टि की है।[1]

'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' में भारत के आदिकालीन राजाओ मे नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभ-पुत्र भरत का उल्लेख किया गया है :

प्रजापतेः सुतो नाभि तस्यापि आगमुच्यति ।
नाभिनो ऋषभपुत्रो वै सिद्धकर्म दृढव्रतः ॥ ३६० ॥
तस्यापि मणिचरो यक्षः सिद्धो हैमवते गिरौ ।
ऋषभस्य भरतः पुत्रः सोऽपि मंजतान तदा जपेत् ॥ ३६१ ॥

इस ग्रन्थ मे एक स्थान पर कपिल[2] के साथ भी उनका उल्लेख किया गया है।

नैयायिक धर्मकीर्ति ने सर्वज्ञ[3] के उदाहरण मे भगवान् ऋषभदेव और भग-

1. इण्डियन हिस्टोरीकल, क्वाटर्ली, भा० ३, पृ० ४७३-४७५
2. कपिल मुनिनाम ऋषिवरो, निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऋषभनिर्ग्रन्थ रूपि ।
—आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प
3. यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्, तद्यथा ऋषभवर्धमानादिरिति ।
—न्यायबिन्दु

वान् महावीर का नामोल्लेख किया है।

आर्यदेव द्वारा रचित षट्शास्त्र में भी भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख किया गया है, किन्तु उसकी मूल संस्कृत-प्रति प्राप्य नहीं है। इस ग्रन्थ का चीनी रूपान्तर मिलता है, जिसमें कपिल, उलूक आदि ऋषियों की मान्यता के साथ मिश्रितरूप से भगवान् ऋषभदेव की मान्यता का निरूपण किया गया है: "कपिल, उलूक (कणाद), ऋषभ आदि ऋषिगण 'भगवत्' कहलाते हैं। ऋषभ के शिष्य-गण निर्ग्रन्थों के धर्म-ग्रन्थों का पाठ करते हैं। वे ऐसे कहते हैं, "तपस्या करो और केश-लुंचन आदि क्रियाएं करो, जो पुण्यमय हैं। साथ ही कुछ ऐसे शिक्षक हैं, जो उपवास और प्रायश्चित्त करते, अग्नि तपते, सदा खड़े रहते, मौन रखते, पर्वत-शिखर से गिरते अथवा ऐसी क्रियाएं करते जो उन्हें गौ-सदृश बनाती थीं। वे इन क्रियाओं को पुण्यशाली मानते हैं। वे उनको अति शुक्ल धर्म कहते हैं।"[1]

त्रिशास्त्र-सम्प्रदाय के संस्थापक श्री चि-त्संग ने उपरोक्त कथन पर विवेचन करते हुए चीनी भाषा में लिखा है: "ऋषभ एक तपस्वी ऋषि हैं। उनका उप-देश है कि हमारे शरीर को सुख और दुःख का अनुभव करना होता है, दुःख जो हमारे पूर्व-संचित कर्मों का फल है, कदाचित् इस जीवन में तपस्या द्वारा समाप्त हो जाता है और सुख उसी समय प्रकट हो जाता है। उनके धर्म ग्रन्थ 'निर्ग्रन्थ सूत्र' के नाम से प्रसिद्ध है और उनमें हजारों कारिकाएं हैं।"

श्री चि-त्संग ने उपाय हृदयशास्त्र में भगवान् ऋषभदेव के सिद्धान्तों का भी विवेचन किया है। यद्यपि इनमें कुछ मौलिक त्रुटियां रह गई हैं, तथापि वे मननीय हैं। वहां बताया गया है : "उनके [ऋषभ के] मूल सिद्धान्त में पांच प्रकार का ज्ञान, छः आवरण (कर्म) और चार बुरे कषाय हैं। पांच प्रकार का ज्ञान—१. श्रुत, २. मति, ३. केवल, ४. मनःपर्यव और ५. अवधि है। छः आवरण—१. दर्शनावरणी, २. वेदनीय, ३. मोहनीय, ४. आयु-ष्य, ५. गोत्र और ६. नाम हैं। चार कषाय—१. क्रोध, २. मान, ३. लोभ और ४. माया हैं। वे मानते हैं कि निमित्त (*Cause*) में परिणाम (*Effect*) होते हैं और नहीं भी होते हैं। द्रव्य एक है और नहीं भी है। ये उनके मौलिक सिद्धान्त हैं। यही कारण है कि ऋषभ 'भगवत्' कहे जाते हैं।"[2]

'षट् शास्त्र में उल्लिखित कपिल, उलूक आदि ऋषियों के बारे में अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए श्री चि-त्संग ने लिखा है: "उन सब ऋषियों के मत

---

१. तैशोत्रिपिटक, भा० ३३, पृ० १६८
२. A Commentary on the Sata Sastra, 1, 2., Taisho tr. Vol. 42, P. 244.

अहंकार के कर्म को उत्पन्न है।[1] आगे वे लिखते हैं, "वे उपवास तो ऋषभ की भाँति करते हैं। परन्तु उनमें से कुछ तो दिन भर में फल के तीन टुकड़े लेते हैं, अन्य वस्त्र-त्याग करते, अथवा घास खाते हैं। वे मौन धारण करते हैं।"

'न्यायबिन्दुटीका' में भगवान् ऋषभ द्वारा निर्दिष्ट हेतुवाद (तर्क) का भी श्री विन्सन्ट ने उल्लेख किया है।

श्री विन्सन्ट ने मंजुश्रीमूलकल्प में भगवान् श्री महावीर की मान्यताओं का भी उल्लेख किया है। उनमें छः आवरण मुख्य हैं, किन्तु भगवान् ऋषभदेव के सिद्धान्तों में निर्दिष्ट छः आवरणों में और यहाँ विवेचित छः आवरणों में कुछ अन्तर है। सम्भव है, सैद्धान्तिक मान्यताओं का विवेचन करते हुए कुछ असावधानी रह गई हो। वहाँ लिखा गया है "१. दर्शनावरणीय, २. वेदनीय ३. मोहनीय, ४. आयुष्य, ५. अन्तराय और ६. नाम, इनकी विपक्षी शक्तियाँ छः ऐश्वर्य हैं। वह वस्तु-विवेचना सर्वथा 'न सद्-रूप है, न असद्-रूप है' ऐसे करते हैं। वे मौन रहते हैं और ऐसे चारित्रिक नियमों का पालन करते हैं, जो उनको गौ-जैसा शान्त बना दें, जैसे कि वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोश' में बताया गया है। वे अपने नेत्र एक बिन्दु पर केन्द्रित रखते हैं, मस्तक झुकाये रखते हैं घास (शाक) भक्षण करते हैं और वे मानते हैं कि इस प्रकार वे गोवत् चर्या करते हैं।"[2]

---

१. These teachers are offshoots of the sect o Ṛṣsabha

२. भाग ४२, पृ० ४२७

इतिहास के संदर्भ में

जैन धर्म अनादि है। प्रत्येक काल-चक्रार्ध के उत्सर्पण और अवसर्पण में चौबीस तीर्थंकर होते हैं, जो कालक्रम से अपवर्तन के चक्र में फंसे हुए धर्म को उद्‌वर्तन देते हैं। उद्‌वर्तन और अपवर्तन की नाना प्रक्रियाओं को कुछ एक अनुसंधाता एतिह्य तथ्यों के आधार पर परखने के अनन्तर जब कुछ तथ्य प्रकट करते हैं, तब यह केवल श्रद्धा-गम्य ही नहीं रह जाता, अपितु तर्क-गम्य भी हो जाता है। चौबीस तीर्थंकर श्रद्धा-गम्य तो हैं ही, पर तेवीसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर की ऐतिहासिकता में अब सन्देह नहीं रह गया है तथा बावीसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि भी कुछ एक विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक पुरुष माने जा चुके हैं। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समय तक इतिहास अभी नहीं पहुंच पाया है, फिर भी जहां तक वह पहुंचा है, भगवान् ऋषभदेव के बारे में भी अच्छा प्रकाश पड़ता है।

मोहनजोदरो की खुदाई से प्राप्त होने वाली मुहरों में कुछ एक पर एक ओर नग्न ध्यानस्थ योगी की आकृति है और दूसरी ओर वृषभ का चिह्न है। वृषभ भगवान् ऋषभदेव का लाञ्छन था; अतः यह अनुमान सहज ही हो जाता है कि उस समय में भी उनकी पूजनीयता प्रसिद्ध थी।

दो हजार वर्ष पूर्व राजा कनिष्क तथा हुविष्क आदि के शासन में हुई खुदाई में प्राप्त शिलालेख मथुरा के संग्रहालय की आज भी शोभा बढा रहे हैं। डा० फुहरर ने उन शिलालेखों से प्राचीन इतिवृत्त का अनुसंधान कर यह निर्णय दिया था कि प्राचीन समय में जैनी ऋषभदेव की मूर्तियां बनाते थे।

श्री विंसेण्ट ए० स्मिथ का कहना है: "मथुरा से प्राप्त सामग्री लिखित जैन-परम्परा के समर्थन में विस्तृत प्रकाश डालती है और जैन धर्म की प्राचीनता के विषय में अकाट्य प्रमाण उपस्थित करती है तथा यह बतलाती है कि प्राचीन समय में भी वह अपने इसी रूप में मौजूद था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ में भी अपने विशेष चिह्नों के साथ चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता में दृढ विश्वास था।"[1]

---

१. The discoveries have to a very large extent supplied

जर्मन के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० हर्मन जेकोबी,¹ जिन्होंने तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता पर महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान किया था, अपनी गवेषणा के अनन्तर कहते हैं: "पार्श्वनाथ को जैन धर्म का प्रणेता या संस्थापक सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक मानने में एकमत है। इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की सम्भावना है।"

श्री स्टीवन्सन की गवेषणा डा० हर्मन जेकोबी के अभिमत की पुष्टि करती है। वे लिखते हैं "जब जैन और ब्राह्मण; दोनों ही ऋषभदेव को इस कल्पकाल में जैन धर्म का संस्थापक मानते हैं तो इस मान्यता को अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।"²

वरदाकान्त मुखोपाध्याय एम० ए० ने विभिन्न ग्रन्थों तथा शिलालेखों का अध्ययन करने के अनन्तर आत्म-विश्वास के साथ यह अभिमत प्रकट किया था: "लोगों का यह भ्रमपूर्ण विश्वास है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे, किन्तु इसका प्रथम प्रचार ऋषभदेव ने किया था। इसकी पुष्टि में प्रमाणों का अभाव नहीं है।"³

कुछ एक विद्वानों व गवेषकों ने तीर्थंकरों के बारे में तो अपना अभिमत प्रकट नहीं किया है, पर वे अपने अनुसन्धान के आधार पर जैन धर्म को सृष्टि

---

corroboration to the written Jain tradition and they offer tangible incontrovertible proof of the antiquity of the Jain religion and of its early existence very much in its present form. The series of twentyfour pontiffs (Tirthankaras), each with his distinctive emblem, was evidently firmly believed in at the beginning of the christian era
—The Jain stup—Mathura, Intro. p. 6.

१. There is nothing to prove that parshva was the founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabha the first Tirthankara (as its founder) there may be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara.

—Indian Antiquary, vol. ix P. 163

२. It is so seldom that Jains and Brahmanas agree, that I do not see how we can refuse them credit in this instance, where they, do so. —Kalpa sutra, Intro, P.XVI

३. जैन धर्म की प्राचीनता, पृ० ८

१९ सितम्बर १९५६ को जापान के निमिङ्ग नगर में विश्व धर्म परिषद् की आयोजना की गई। वहां उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश मा० यूचान तुन पोंग ने अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए यह कहा था : "जैन धर्म संसार के सब से प्राचीन धर्मों में से एक है और उसका घर भारत है।४"

डा० जिम्मर जैन धर्म को प्राग् ऐतिहासिक व वैदिक धर्म से स्वतन्त्र तथा प्राचीन मानते हुए लिखते हैं : "ब्राह्मण-आर्यों से जैन धर्म की उत्पत्ति नहीं हुई है, किन्तु वह बहुत प्राचीन, प्राग्-आर्य उत्तर-पूर्वी भारत की उच्च श्रेणी के सृष्टि-विज्ञान और मनुष्य के आदि विकास तथा रीति-रिवाजों के अध्ययन को व्यक्त करता है।५"

जैन धर्म की प्रागैतिहासिकता, अतिप्राचीनता तथा अनादिता में विश्वास होने से भगवान् ऋषभदेव के अस्तित्व में भी सहज आस्था हो जाती है। भरत के बारे में ऐसा कोई स्वतन्त्र तथा स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु भगवान् ऋषभदेव की परम्परा के अनन्य वाहक के रूप में इतिहासकारों के लिए भरत अभिप्रेत हो ही जाते हैं।

---

१. Through what historical channels did Budhism influence early christianity, we must widen this enquiry by making it embrace Jainism the undoubtedly prior faith of very many millions through untold millenniums.

—The short study in science of comparative religion (Intro , P.I.)

२. It is impossible to find a beginning for Jainism. (I. bid. P. 13)

३. Jainism thus appears an earlist faith of India. (I. bid. P. 15)

४. अहिंसा-वाणी, वर्ष ६ अंक ७ अक्टूबर १९५६६, पृ० ३०५

५. Jainism, does not derive from Brahman Aryan sources, but reflects the cosmology and anthropology of a much old, pre-Aryan upper class of north-eastern India.

—The Philosophies of India. P. 217

विदेशों में

सुप्रसिद्ध पादरी रेवरेण्ड ऐब्बे जे० ए० डुबाई ने अपनी फ्रांसीसी भाषा की पुस्तक में लिखा है : "एक युग मे जैन धर्म सारे एशिया में साइबेरिया से रास-कुमारी तक और केस्पियन भील से लेकर केम्स चटका खाड़ी तक फैला हुआ था।" रेवरेण्ड डुबाई के इस मत की पुष्टि में प्रमाणों की अल्पता नहीं है। विदेशों में बहुत सारे स्थानों पर खुदाई से तीर्थंकरों की विभिन्न मुद्राओं में मूर्तियां प्राप्त हुई हैं तथा वहां की अनुश्रुतियों में प्रसिद्ध नाना घटनाएं भी इस तथ्य का विशद उद्घाटन करती हैं। भगवान् ऋषभदेव विदेशों में पूज्य रहे हैं तथा वहां 'कृषि के देवता', 'वर्षा के देवता' और 'सूर्यदेव' के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। डा० कामता-प्रसाद जैन ने उन सब मान्यताओं का सिद्धांतों की नाना गवेषणाओं के आधार पर वर्गीकरण करते हुए लिखा है : "पूर्व में चीन और जापान भी उनके नाम और काम से परिचित हैं। चीनी त्रिपिटक में उनका उल्लेख मिलता है। जापानी उनको "रोकशब" (Rok' shab) कह कर पुकारते हैं। मध्य एशिया, मिश्र और यूनान में वे सूर्यदेव ज्ञान की अपेक्षा से और फोनेशिया में "रेशेफ" नाम से बैल चिह्न की अपेक्षा कहलाये। मध्य एशिया में वृषभ (बैल) देव (Bull god) अर्थात् "आद नाथ" नाम से उल्लिखित किये गये। फणिक लोगों की भाषा में "रेशेफ" शब्द का अर्थ "सींगों वाला देवता" होता है, जो ऋषभ के बैल चिह्न का द्योतक है—साथ ही "रेशेफ" शब्द का साम्य भी "ऋषभ" शब्द से है। प्रो० आर० जी० हर्षे ने "बुलेटिन आफ दी डेक्कन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट" (वा० १४, भाग ३, पृ० २२९-२३६) में एक गवेषणात्मक लेख लिखकर इस साम्य को स्पष्ट किया है। उन्होंने बताया कि अलासिया (साइप्रस) से प्राप्त अपोलो (सूर्य) की ई० पूर्व १२वीं शती की मूर्ति का अपर नाम "रेशेफ" (Reshef) उसके लेख से स्पष्ट होता है। यह रेशेफ ऋषभ का ही अपभ्रंश रूप है और यह ऋषभ भारतीय ऋषभ-देव होना चाहिए। यूनान में सूर्यदेव अपोलो की नग्न खड़ी मूर्तियां मिली हैं, जिनका साम्य ऋषभ भगवान् की मूर्तियों से है। डा० कालिदास नाग ने मध्य एशिया में डेल्फी से प्राप्त एक आर्गिव मूर्ति का चित्र अपनी पुस्तक "डिस्कवरी

मोहन जोदड़ो" से मिला है जो लगभग दस हजार वर्ष पुराना है और बिल्कुल समान् ऋषभ की दिगम्बर जैन मूर्तियों के समान है। ऋषभ-मूर्ति की विशेषता कन्धों पर लहराती जटाएं इसमें भी हैं। "शाणित" शब्द का अर्थ कदाचित् समानव या महादेव के रूप में लिया जाता रहा प्रतीत होता है।

पणिक लोग जैन धर्म-भक्त भी थे, यह बात जैन कथा-ग्रन्थों से प्रमाणित है। अतः पणिकों के "वाल्ल" (Bull God) ऋषभ प्रतीत होते हैं। यह नाम प्रतीकवाद शैली का (Symbolic) है।[1]

---

१. भिक्षुस्मृति ग्रन्थ, अध्याय २, पृ० ४

भारतवर्ष का नामकरण

इस देश का नामकरण कैसे हुआ, यह एक जटिल प्रश्न है। इसको समाहित करने के लिए जैन और वैदिक परम्पराओं के प्राचीनतम तथा ऐतिह्य साहित्य का अनुसन्धान अपेक्षित होगा। प्रत्येक विचारक इस निष्कर्ष पर तो पहुंच ही जाते हैं कि चक्रवर्ती भरत के नाम से इस देश का नामकरण हुआ है। किन्तु यह चक्रवर्ती भरत कौन था, इस विषय में सभी विचारक एक मत नहीं हैं। जैन परम्परा में १. भरत, २. सगर, ३. मघवा, ४. सनत्कुमार, ५. शान्ति, ६. कुन्थु, ७. अर, ८. सुभूम, ९. पद्म, १०. हरिषेण, ११. जय, १२. ब्रह्मदत्त आदि बारह चक्रवर्तियों[1] का उल्लेख है। वैदिक परम्परा में १. मान्धाता, २. धुन्धुमार, ३ हरिश्चन्द्र, ४. पुरूरवा, ५. भरत और ६. कार्तवीर्य; ये छः चक्रवर्ती[2] माने गये है। जैन परम्परा के प्रथम चक्रवर्ती भरत प्रथम तीर्थंकर तथा आठवें अवतार ऋषभदेव के सबसे बड़े पुत्र हैं; यह मान्यता जैन और वैदिक दोनों ही परम्पराओं की है। वैदिक परम्परा में प्रथम चक्रवर्ती भरत को चक्रवर्ती तो नहीं माना गया है, पर एक अनासक्त योगी, विशिष्ट राजा तथा तत्त्वज्ञानी पुरुष माना गया है। पांचवें चक्रवर्ती भरत केवल वैदिक परम्परा में ही चक्रवर्ती माने गये हैं, जो राजा दुष्यन्त के पुत्र थे।

नामकरण के बारे में नाना विचारकों की नाना कल्पनाओं ने सहज उभार लिया है। मत्स्यपुराणकार की मान्यता है : "मनुष्यों की उत्पत्ति व भरण-पोषण करने से मनु भरत कहलाता है और उसी के नाम की व्याख्या के अनुसार इस देश को भारत[3] कहा जाता है।" किन्तु कौनसा मनु भरत कहा जाये?

---

१. आवश्यकवृत्ति, मलयगिरि, पत्र सं० २३७

२. मान्धाता धुन्धुमारश्च हरिश्चन्द्रः पुरूरवाः।
भरतः कार्तवीर्यश्च षडेते चक्रवर्तिनः॥
—सटीक अभिधानचिन्तामणि, मर्त्यकाण्ड

३. भरणात् प्रजनाच्चैव मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनैश्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम्॥
—मत्स्य पुराण, अध्याय ११४, पृ० ८८

जैन साहित्य में

जैन-आगम साहित्य में भरतक्षेत्र का उल्लेख बहुत स्थानों पर मिलता है। धम्मकथानुयोग के प्रकरणों में, जहाँ से कथारम्भ होता है, वहाँ जम्बूद्वीप व भरतक्षेत्र के देश के अन्तर्गत ही राजधानी या नगर का वर्णन किया गया है। उत्तराध्ययन[1] जैसे प्रतिष्ठित आगम-ग्रन्थों में जिनको पढ़ते हैं, वहाँ भरतक्षेत्र के शासक का जीवन का स्पष्ट उल्लेख है। इसी प्रकार वहाँ अन्य चक्रवर्तियों[2] के साम्राज्य-त्याग के साथ 'भरतक्षेत्र' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति[3] में भरतक्षेत्र के विस्तार, उसके प्रमुख नगर, पहाड़ों तथा नदियों का पूरा अधिकार है। यहाँ भरतक्षेत्र के नामकरण के बारे में कहा गया है कि इस क्षेत्र में भरत[4] नामक एक महर्द्धिक, महाद्युतिक, पल्योपम-स्थिति वाला एक देव का वास है। उसके नाम से इस क्षेत्र का नाम भरतक्षेत्र है अथवा यह नाम शाश्वत है, अर्थात् अतीत में यही नाम था, वर्तमान में यही है और भविष्य में भी यही रहेगा।

आगम-साहित्य में भरतक्षेत्र शब्द का प्रयोग है, पर भारतवर्ष का प्रयोग विरल भी हुए नहीं है। उन प्रसंगों का अध्ययन करने से ऐसा ज्ञात होता है कि भरतक्षेत्र और भारतवर्ष दोनों भिन्न-भिन्न हैं। भारतवर्ष तो भरतक्षेत्र का एक प्रदेश विशेष है। किन्तु 'भारह् वास' शब्द-प्रयोग से भारतवर्ष का ग्रहण न कर भरतक्षेत्र का ग्रहण किया गया है, जो गवेषणा का एक सुन्दर प्रकरण

---

1 भरहो वि भरहं वासं चिच्चा कामाइ पव्वए।

—उत्तराध्ययनसूत्र, अ० १८, गा० ३४

2 उत्तराध्ययनसूत्र, अ० १८, गा० ३५, ३६, ३८, ४०, ४१

3 भरतक्षेत्राधिकार

4. भरहे अइत्थदेवे महिड्ढिए महज्जुए जावपलिओवमट्ठिइए परिवसइ से एएणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ भरहेवासं। अदुत्तरं च णं गोयमा! भरहस्सवासस्स सासए णामधिज्जे पण्णत्ते।

बन जाता है। आगमेतर साहित्य में भारतवर्ष का स्वतंत्र उल्लेख मिलता है और उनके आधार पर विद्वान्[1] यह प्रमाणित करते हैं कि भारतवर्ष का नामकरण स्वतंत्र हुआ है और वह भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत के नाम पर हुआ है।

वसुदेवहिंडी मे कहा गया है : "सुर-असुरों द्वारा सेवित, जगत्प्रिय ऋषभदेव प्रथम राजा थे। उनके सौ पुत्र थे। भरत और बाहुबली उनमें प्रमुख थे। भगवान् ऋषभदेव ने अपने सौ पुत्रों को सारा राज्य देकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। भारतवर्ष का चूड़ामणि भरत था। उसके नाम से ही यह देश भारतवर्ष कहलाता है[2]।"

जम्बूदीपपण्णत्ति में चक्रवर्ती भरत के प्रसंग में कहा गया है : "भरत चक्रवर्ती और देव के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ और भारतवर्ष से उनका[3]।"

दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ, ऐसा उल्लेख विरल भी नही मिलता।

पुराण-साहित्य में

श्रीमद् भागवत के अनुसार भारतवर्ष का प्राचीन नाम अजनाभ खण्ड था। आठवें अवतार भगवान् ऋषभदेव के समय तक यही नाम रहा। भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र अनासक्त योगी भरत जब शासक बने तो उनके नाम से इस भूभाग का नाम बदल कर भारतवर्ष[4] हो गया। श्रीमद् भागवत पुराण, स्कन्ध ११, अध्याय २ में उपरोक्त अभिमत को दुहराकर उसकी पुष्टि की गई है तथा अन्य पुराण भी इसी स्वर को उदात्त करते हैं। मार्कण्डेय[5]

---

१. जैनइतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान, पृ० ६
२. तत्थ भरहो भरहवास चूडामणी, तस्सेव नामेण इहं भारहवासं ति पवुच्चति। —वसुदेवहिण्डी, प्रथम खण्ड, पृ० १८६
३. भरतनाम्नश्चक्रिणो देवाच्च भारतवर्षं नाम प्रवृत्तं भारतवर्षाच्च तयोर्नाम।
४. येषां खलु महायोगी ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति। —श्रीमद् भागवत पुराण, स्कन्ध ५, अ० ४।९
५. अग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमसंश्रयः॥

पुराण में स्पष्ट कहा गया है कि आग्नीध्र के पुत्र नाभि थे और उनके पुत्र श्री ऋषभदेव। श्री ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए, जिनमें भरत अग्रणी थे। श्री ऋषभदेव ने भरत का राज्याभिषेक किया और स्वयं पुलहाश्रम में तप का अनुष्ठान करने लगे। उन्होंने भरत को हिमालय से दक्षिण का राज्य दिया जो उनके नाम से भारतवर्ष कहलाया। वायु पुराण[1], अग्नि पुराण[2], नारद पुराण[3], विष्णु पुराण[4], गरुड़ पुराण[5], ब्रह्माण्ड पुराण[6], वाराह पुराण[7], लिंग पुराण[8], स्कन्ध पुराण[9], शिव पुराण[10] आदि में भी ऋषभ-पुत्र भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ, ऐसे स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं।

हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥

—अध्याय ५०, श्लोक ३६ से ४१

१. हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।
तस्माद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥

—अध्याय ३३, श्लो० ५२

२. भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत्।

—अध्याय १०, श्लो० १२

३. आसीत् पुरा मुनिश्रेष्ठो भरतो नाम भूपतिः।
आर्षभो यस्य नामेदं भारतं खण्डमुच्यते ॥

—अध्याय ४८, श्लो० ५

४. ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशताग्रजः।
ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते ॥

—अंश २, अध्याय १, श्लो० ३२

५. अध्याय १, श्लो० १३

६. सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।
हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥

—अध्याय १४, श्लो० ६१

७. हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद् भारतं नाम शशास।

—अध्याय ७४

८. तस्मात् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।

—अध्याय ४७, श्लो० २४

९. तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते।

—अध्याय ३७, श्लो० ५७

१०. तत्रापि भरतं ज्येष्ठे खण्डेऽस्मिन् स्पृहणीयके।
तन्नाम्ना चैव विख्यातं खण्डं च भारतं तदा ॥ —अध्याय ५२

महाभारत में

दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष का नामकरण हुआ, इस बारे में महाभारत का एक प्रमाण दिया जाता है। यह पद्य है :

भरताद् भारती कीर्तिर्येनेदं भारतं कुलम्।
अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः ॥१३१॥

—आदि पर्व, अ० ७४

"भरत से ही इस भूखण्ड का नाम भारत (अथवा भूमि का नाम भारती) हुआ। उन्हीं से यह कौरव वंश भारत वंश के नाम से विश्रुत हुआ। उनके बाद उस कुल में पहले तथा आज भी जो राजा हो गये हैं, वे भारत (भारतवंशी) कहे जाते हैं।" किन्तु उपरोक्त पद्य के केवल उपरोक्त अर्थ से लेखक सहमत नहीं है। क्योंकि इस पद्य से दुष्यन्त-पुत्र भरत के युग में भारतवर्ष विश्रुत हुआ, न कि देश का नामकरण हुआ, यह ध्वनि भी निकलती है। किसी-किसी युग में यशस्वी राजा होते हैं और वे देश को इतना अधिक वर्चस्व प्रदान करते हैं कि उसने देश की ख्याति समुद्रों पार भी पहुंच जाती है। ऋषभ-पुत्र भरत भी यशस्वी राजा थे। वे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में अग्रणी थे। देश की कीर्ति उस समय भी बहुत फैली थी। उनके बाद युग के अनुकूल व प्रतिकूल थपेड़ों से देश का कायापलट होता रहा। उनके समय की देश की यशः-वैजयन्ती दुष्यन्त-पुत्र भरत के समय तक उसी रूप में रहे; यह किसी प्रकार से संगत प्रतीत नहीं होता। यह अधिक सम्भव लगता है कि दुष्यन्त-पुत्र भरत ने उसमें उद्वर्तन कर अपनी लोकप्रियता के कारण जनमानस को पूर्णतया अपनी ओर आवर्जित कर लिया हो और उस आकर्षण में ही विद्वानों ने उपरोक्त पद्य का देश के नामकरण के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया हो। अतः उस युग में भारतवर्ष की कीर्ति फैली, यही अर्थ विशेषतः संगत प्रतीत होता है।

अभिज्ञान शाकुन्तल, अंक ७ का अन्तिम श्लोक है :

रथेनानुद्घातः स्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्।

इस श्लोक के अनुवाद में राजस्थान संस्कृत कालेज, वाराणसी के प्रधानाचार्य श्री सीताराम शास्त्री ने लिखा है : "इसी भरत के नाम से हमारा यह देश भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ।" किन्तु उपरोक्त श्लोक में इस प्रकार का कहीं भी संकेत नहीं है। यह केवल उनकी अपनी वैयक्तिक धारणा है।

श्रीमद् भागवत पुराण में दुष्यन्त-पुत्र भरत की वंश-परम्परा, उसका

व्यक्तित्व व वर्चस्व, राज्य-व्यवस्था आदि का सविस्तार उल्लेख किया गया है। वहाँ कहा गया है: "पिता दुष्यन्त की मृत्यु हो जाने के बाद वह परम यशस्वी बालक चक्रवर्ती सम्राट् हुआ। उसका जन्म भगवान् के अंश से हुआ था, इसलिए आज भी पृथ्वी पर उसकी महिमा का गायन किया जाता है। उसके दाहिने हाथ में चक्र का चिन्ह था और पैरों में कमल-कोष का। महाभिषेक की विधि से राजाधिराज के पद पर उसका अभिषेक हुआ। भरत की शक्ति अपार थी। भरत ने ममता के पुत्र दीर्घतमा मुनि को पुरोहित बनाकर गंगा तट पर गंगासागर से लेकर गंगोत्रीपर्यन्त पचपन पवित्र अश्वमेध यज्ञ किये। इसी प्रकार यमुनातट पर भी प्रयाग से लेकर यमुनोत्री तक उन्होंने अठहत्तर अश्वमेध यज्ञ किये। इन सभी यज्ञों में उन्होंने अपार धनराशि का दान किया था। दुष्यन्त-कुमार भरत का यज्ञीय अग्निस्थापन बड़े ही उत्तम गुण वाले स्थान में किया गया था। उस स्थान में भरत ने इतनी गौएं दान दी थी कि एक हजार ब्राह्मणों में प्रत्येक ब्राह्मण को एक-एक बद्व (१३०८४) गौएं मिली थी। इस प्रकार राजा भरत ने उन यज्ञों में एकसौतैंतीस (५५-७८) घोड़े बांधकर (१३३ यज्ञ करके) समस्त नरपतियों को असीम आश्चर्य में डाल दिया। इन यज्ञों के द्वारा इस लोक में तो राजा भरत को परम यश मिला ही, अन्त में उन्होंने माया पर भी विजय प्राप्त की और देवताओं के परम गुरु भगवान् श्री हरि को प्राप्त कर लिया। यज्ञ में एक कर्म होता है 'मष्णार'। उसमें भरत ने सुवर्ण से विभूषित, श्वेत दांतों वाले तथा काले रंग के चौदह लाख हाथी दान किये। भरत ने जो महान् कर्म किया, वह न तो पहले कोई राजा कर सका था और न कोई आगे ही कर सकेगा। क्या कभी कोई हाथ से स्वर्ग को छू सकता है? भरत ने दिग्विजय के समय किरात, हूण, यवन, आन्ध्र, कङ्क, खश, शक और म्लेच्छ आदि समस्त ब्राह्मण-द्रोही राजाओं को मार डाला। पहले युग में बलवान् असुरों ने देवताओं पर विजय प्राप्त कर ली थी और वे रसातल में रहने लगे थे। उस समय वे बहुत-सी देवांगनाओं को रसातल में ले गये थे। राजा भरत ने फिर से उन्हें छुड़ा दिया। उनके राज्य में पृथ्वी और आकाश प्रजा की सारी आवश्यकताएं पूर्ण कर देते थे। भरत ने सत्ताईस हजार वर्ष तक समस्त दिशाओं का एकछत्र शासन किया। अन्त में सार्वभौम सम्राट् भरत ने यही निश्चय किया कि लोकपालों को भी चकित कर देने वाला ऐश्वर्य, सार्वभौम सम्पत्ति, अखण्ड शासन और यह जीवन भी मिथ्या ही है। यह निश्चय करके वे संसार से उदासीन हो गये।"[1]

दुष्यन्त-पुत्र भरत के इतने विस्तृत व्यक्तित्व-वर्णन में उसके नाम से भारत-

---

१. श्रीमद् भागवत पुराण, स्कन्ध ९ अध्याय २०।२३-३३

वर्ष के नामकरण के होने का उल्लेख न होना इसी तथ्य को पुष्ट करता है
इस भरत के कारण देश का नामकरण नहीं हुआ है।

अन्य पुराणों में

कुछ पुराणों में दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम से देश का नामकरण हु
ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं। किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि उन्हीं पुराण
पूर्व प्रकरणों में ऋषभ-पुत्र भरत के साथ नामकरण का उल्लेख किया
है और अग्रिम प्रकरणों में दुष्यन्त-पुत्र भरत के साथ। एक ही पुराण
अपने दो तरह के मत व्यक्त कैसे कर सकता है? साथ ही कुछ एक पुर
में दुष्यन्त-पुत्र भरत के प्रकरण में 'तस्य नाम्ना तु भारताः' कहा गया
यह कुछ संगत प्रतीत हो सकता है; क्योंकि इस उल्लेख से दुष्यन्त-पुत्र
के साथ भारत जाति का सम्बन्ध जुड़ जाता है। जिन पुराणों में 'तस्य न
तु भारतम्' कहा गया है, सम्भव है, वहां लिपि-दोष से ऐसा हो गया
एक पुराण में दो प्रकार के मत कैसे प्राप्त हो सकते थे?

जैन और वैदिक साहित्य के प्रमाणों का बलाबल परखते हुए यह म
संगत लगता है कि ऋषभ-पुत्र भरत के नाम से देश का नामकरण हुआ

वर्तमान इतिहास तथा अन्य आधार

श्रीमद् भागवत पुराण के अनुसार दुष्यन्त-पुत्र भरत पुरु की सत्तरह
पीढ़ी में हुआ है। पुरु वंश की परम्परा चन्द्रवंशी[१] परम्परा कही गई है।
आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित 'वैदिक एज' पुस्तक में यह मान
स्पष्ट की गई है: "सूर्यवंश में अयोध्या, विदेह और वैशाली; ये तीन
परम्पराएं प्रसिद्ध हैं[३]। ऋग्वेद[४] के अनुसार पुरु के पूर्व तथा उनके समय
देश का नाम भारतवर्ष था। ऋषभ-पुत्र भरत अयोध्या की वंश-परम्पर
सम्बद्ध हैं, तथा पुरु से सहस्रों वर्षों पूर्व हो चुके हैं। शतपथ ब्राह्मण में सूर्यव

---

१. श्रीमद् भागवत पुराण स्कन्ध ६, अध्याय २१
२. श्रीमद् भागवत पुराण स्कन्ध ६, अध्याय १४ से २४ तक
३. Now we turn to the Solar dynasty which Comprises t
three lines of Ayodhya, Videha, Vaisala and the saryat
These are the only branches that are inportant of t
lines produced by the nine soils of Manu.
—The Vedic Age, P. 2
४. मन्त्र १, सूक्त २३

भरत के नाम पर भारतवर्ष के नामकरण का उल्लेख मिलता है। इन विभिन्न प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट है कि दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण नहीं हुआ है, बल्कि ऋषभ-पुत्र के नाम से हुआ है। 'वैदिक एज'[1] पुस्तक मे इस सम्बन्ध से चर्चा की गई है, पर वहा लेखक ने अपना कोई मत व्यक्त न कर, केवल इतना ही उल्लेख किया है कि कुछ व्यक्तियो की धारणा है—दुष्यन्त-पुत्र भरत ने इस देश के साथ अपना नाम सयोजित किया, जो आगे चलकर भारतवर्ष के नाम से विश्रुत हुआ। वहां केवल इस विषय को छुआ ही गया है।

भारत के प्राचीन राजवश[2], जैन एन्टीक्वेरी[3] मे ऋषभ-पुत्र के नाम पर भारतवर्ष नाम पड़ा, यह मान्यता पुष्ट की गई है। श्री जे० स्टीवेन्सन[4] ने कल्पसूत्र की भूमिका मे इस विषय को सप्रमाण विश्लिष्ट करते हुए विश्वास-पूर्वक यही स्वीकार किया है कि ऋषभ-पुत्र भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ। काशी विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के प्राध्यापक श्री गगाप्रसाद एम० ए० लिखते हैं: "ऋषियो ने हमारे देश का नाम प्राचीन चक्रवर्ती सम्राट् भरत के नाम पर भारतवर्ष रखा था।"[5]

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने स्पष्ट लिखा है : "भरत ऋषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा[6]।" रावराजा डा० श्यामबिहारी मिश्र, रायबहादुर, डी० लिट् तथा रायबहादुर प० शुकदेवबिहारी मिश्र ने 'बुद्ध-पूर्व का भारतीय इतिहास' पुस्तक मे सातो ही मनुओ का सविस्तार विवेचन किया है। प्रस्तुत पुस्तक मे दो स्थानो पर विशेष बल देते हुए लिखा है : "ऋषभदेव के पुत्र महाराजा भरत हुए, जिनके नाम पर देश भारतवर्ष कहलाया।"[7] स्वायम्भुव मनु की वश-परम्परा के बीच वे लिखते हैं : "भारत नाम भरत पर पड़ा।"[8]

---

१. According to some accounts, Bharata gave his name to our country which was henceforth colled Bharatavarsha.
—The Vebic Age, P. 292

२. भाग २, पृ० १-२

३. VOL IX, P. 76

४. Brahmanical puranas prove Rishabha to be the father of that Bharata from whom India took to name Bharatavarsh.
—Kalpasutra, Introd P. XVI

५. प्राचीन भारत, पृ० ५

६. सस्कृति के चार अध्याय, पृ० १२६

७. अध्याय ५, पृ० ७४

८. अध्याय ४, पृ० ६८

भारत जाति

प्राचीन ऐतिहासिक संदर्भों व विद्वानों की गवेषणा में भगवान् ऋषभदेव के बारे में अनेकों प्रमाण मिलते हैं, पर भरत के बारे में कोई विशेष उल्लेख नही मिलता। वेदों में ऋषभदेव की स्तुति की गई है, पर भरत का वहां उल्लेख भी नही मिलता। पुराण-साहित्य में भरत का सविस्तार जीवन-वृत्त मिलता है। कुछ ग्रन्थों मे भारत जाति का उल्लेख अवश्य मिलता है जो महत्त्वपूर्ण होने के साथ भरत के बारे में चिन्तन करने के लिए कुछ विशेष सामग्री प्रस्तुत कर देता है। "ऋग्वेद के अनुसार 'भारत' का अर्थ उस जन-समूह से है, जो ई० पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के अन्त में भारत देश में रहते थे। वे अन्-आर्य, अ-द्राविड़ और प्राग्-आर्य थे।"

"ई० पू० ११५० मे 'दशराज्ञ' युद्ध हुआ था।"[१] ऋग्वेद में इस युद्ध का वर्णन है। वहां आर्य और भारत जाति के सदस्यो के बीच युद्ध हुआ, ऐसा उल्लेख है। "विश्वामित्र के नेतृत्व मे 'भारतों' की सेना विप्सा और सुतुद्री नदी के सम-प्रवाह को लाधकर 'हरिउपीया' के पश्चिम में आगे बढी।"[२]

"'भारत' लोग लूट लिये गये और दास बना लिए गये।"[३]

"'भारत' असु के शत्रु थे।"[४]

ऋग्वेद के अनुसार 'भारत' जाति भारतवर्ष की प्राचीनतम व प्रसिद्ध जाति है और वह अपने में किसी महत्त्वपूर्ण इतिहास व वंश-परम्परा को समेटे हुए है।

महाभारत भारतीय संस्कृति तथा परम्पराओं का महाग्रन्थ है। सहज ही यह प्रश्न होता है कि इसे महाभारत क्यो कहा गया? इस प्रश्न का निरसन करते हुए महर्षि व्यास स्वय कहते हैं: "इस ग्रन्थ में भारतवंशी क्षत्रियों के महान् वंश का वर्णन किया गया है, अतः वह महाभारत कहा जाता है।"[५]

---

१. एम० एम० वाडिया—Geological Background of Indian History, P. 93-94

२. ऋग्वेद ६. ३. ४. ५.

३. ऋग्वेद ७. २. १६. ६.

४. ऋग्वेद ६. २. १. ४. और ६. २. १. ५

५. भरतानां महज्जन्म महाभारत उच्यते। —महाभारत, आदिपर्व, ६२।३९

जातियों की परम्परा पर प्रकाश डालते हुए महाभारत में आगे कहा गया है : "मनु के दो पुत्र हुए—देवभ्राट् और सुभ्राट् । सुभ्राट के तीन पुत्र हुए—दशज्योति, शतज्योति और सहस्रज्योति । ये तीनों ही प्रजावान् और विद्वान् थे । दशज्योति के दस हजार, शतज्योति के एक लाख और सहस्रज्योति के दस लाख पुत्र उत्पन्न हुए । इन्हीं से कुरु, यदु, भरत, ययाति और इक्ष्वाकु आदि राजर्षियों के वंश चले । बहुत से वंशों और प्राणियों की सृष्टि की यही परम्परा है[1] ।"

श्रीमद् भागवत पुराण, स्कन्ध ९, अ० २०-२१ में राजा दुष्यन्त के पुत्र भरत की वंश-परम्परा का सविस्तार वर्णन है । वहां बताया गया है कि भरत के तीन पत्नियां थीं । अपने पुत्रों को अपने अनुरूप न जानकर भरत ने जब पत्नियों को स्पष्ट उत्तर दे दिया तो उन्होंने इस भय से कि सम्राट् हमें भी त्याग न दें; अपने पुत्रों को मार डाला । 'मरुत्सोम' यज्ञ से प्रसन्न होकर मरुद्गणों ने भरत को भरद्वाज दत्तक पुत्र के रूप में दिया । भरद्वाज का दूसरा नाम वितथ था । वितथ की ही इस वंश-परम्परा में आसक्ति व स्पृहा से रहित राजा रन्तिदेव हुआ और बहुत सारी पीढ़ियों के बाद पांचाल तथा उसके बाद राजा द्रुपद हुआ । इन सबके वंश का नामकरण भरत हुआ ।

जैन-पुराण के अतिरिक्त श्रीमद् भागवत पुराण में ऋषभ-पुत्र भरत की वंश-परम्परा का भी सविस्तार वर्णन किया गया है । भरत का उत्तराधिकारी सुमति और उसके बाद क्रमशः देवताजित्, देवद्युम्न, परमेष्ठी, प्रतीह, प्रतिहर्ता, अज, उद्गीथ, प्रस्ताव, विभु, पृथुषेण, नक्त और तेरहवीं पीढ़ी में राजा गय हुआ । राजा गय भगवान् विष्णु का ही अंश माना जाता था । उसके बाद चित्ररथ, सम्राट्, मरीचि, बिन्दुमान्, मधु, वीरव्रत, मन्थु, भौवन, त्वष्टा, विरज और चौबीसवीं पीढ़ी में शतजित् हुआ । राजा विरज भी राजा गय की तरह भगवद्-भक्त तथा अतिविश्रुत हुआ ।

सहज ही प्रश्न पैदा होता है कि जब पुराण-साहित्य में दोनों ही भरतों की वंश-परम्पराओं का सविस्तार उल्लेख मिलता है, तब भारत जाति का नामकरण कौन से भरत के आधार पर हुआ ? इतिहास प्रत्येक काल में उलटे पांवों से चलता है । दुष्यन्त-पुत्र भरत, ऋषभ-पुत्र भरत का उत्तरवर्ती है, अतः इतिहासकारों का प्रथम दृष्टिपात सहसा दुष्यन्त-पुत्र भरत पर ही होगा, किन्तु पक्ष-विपक्ष के प्रमाणों का जब बलाबल परखा जायेगा तथा इतिहास अपनी तहें और अधिक खोलेगा तो अन्वेषण की पैनी दृष्टि ऋषभ-पुत्र भरत पर भी केन्द्रित हुए बिना नहीं रहेगी, ऐसा विश्वास है । पुराणों में ऋषभ-पुत्र भरत अधिक प्रशस्य, प्रसिद्ध,

---

१. महाभारत, आदि पर्व

अनासक्त, भगवद्-भक्त व विशेष लोकप्रिय माने गये है।

दुष्यन्त-पुत्र भरत पुरु की वंश-परम्परा का वाहक है, यह सर्वसम्मत है। डा० राधाकुमुद मुकर्जी ऋग्वेद कालीन भारतवर्ष का भौगोलिक वर्णन करने के अनन्तर लिखते हैं : "यह प्रदेश कई वैदिक जनो में बंटा हुआ था, जिनमे से कुछ प्रधान जनों के नाम मिलते हैं—जैसे, गांधारी, मूजवन्त, अनु, द्रुह्यु और तुरवश, पुरु और भरत[१]।" यहां पुरु और भरत; दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख यह भली-भान्ति प्रमाणित करता है कि भारत जाति दुष्यन्त-पुत्र भरत से कई शताब्दियो पूर्व भी यहां विद्यमान थी। डा० मुकर्जी आगे और स्पष्ट लिखते हैं : "ऋग्वेद कालीन जनों में भरतों के अतिरिक्त पुरू भी महत्त्वपूर्ण थे। वे दोनों आगे चलकर कुरुओं में मिल गये।"[२] इन आधारों से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि भारत जाति का अपना बहुत प्राचीन इतिहास है और यह असंदिग्ध रूप से ऋषभ-पुत्र भरत तक पहुंच सकता है।

काव्य-समीक्षा

निःसन्देह वही वह अनुभूति काव्य या साहित्य कहलाती है जो शब्द और अर्थ में पूर्णतः तादात्म्य स्थापित करती हुई आनन्द और परितोषण के अजस्र स्रोत से जन-मानस को युग-युग तक प्लावित व प्रबुद्ध करती है। वह साहित्य पुरातन है, जो शब्दों से अभिगुम्फित होकर भी कवयिता के भाव का अभिव्यक्ति के द्वारा पूर्णतः प्रतिनिधित्व नहीं करता। साहित्य-परामर्शक मुनिश्री बुद्धमल्लजी ने साहित्य-रचना का उद्देश्य व उसकी परिभाषा को शब्दों का कितना सुन्दर परिधान दिया है "साहित्य का उद्देश्य जीवन को जागृत और गतिशील बनाना है, जिससे कि जीवन के हित की साधना हो सके। साहित्य शब्द में ही इस सहितता की बात स्वयं अन्तर्गभित है। साहित्य शब्द लघु है, किन्तु इसका प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया जाता है। साहित्य की परिभाषा की जाये तो कहना होगा कि 'अन्तरंग जीवन की अभिव्यंजना' साहित्य है। दूसरे शब्दों में ज्ञान-राशि के संचित कोश को साहित्य की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। संक्षेप में अर्थ के उपयुक्त और सुन्दर मेल को ही साहित्य कहा जाता है[1]।"

मुनिश्री साहित्य को सामयिक व शाश्वत, इन दो भागों में विभक्त करते हुए लिखते हैं : "सामयिक साहित्य वह होता है, जिसमें वर्तमान की सामाजिक, राजनैतिक तथा अन्य प्रकार की समस्याओं पर चिन्तन किया जाता है या वर्तमान की प्रगति का विवेचन किया जाता है। समाज में क्या कुण्ठाएं हैं तथा उन्हें किस तरह तोड़ा जा सकता है आदि जो एकदम आवश्यक और सामयिक प्रश्न होते हैं, उनका समाधान चिन्तन, मनन आदि सामयिक साहित्य में प्रस्तुत होता है। यद्यपि समस्याएं सुलझाने के आधार पर शाश्वत सत्य का निरूपण भी वहां होता है, किन्तु उसकी इतनी गौणता और अल्पता होती है कि भेद को मिटाया नहीं जा सकता।

"शाश्वत साहित्य वह होता है, जिसमें मानव-जीवन के मूल गुणों को छुआ जाता है। उन्हें संवर्धन कैसे मिले ? उनकी कितनी व्यापकता है ? समाज किस आधार पर टिक सकता है ? राष्ट्र का विकास कौनसी धाराओं के बल पर

---

१. श्रमण-संस्कृति के अंचल में, पृ० ६२

किया जा सकता है ? संघर्ष, अवरोध और निराशा जीवन को किस प्रकार जटिल और भार बना देती है तथा मेल, प्रगति और आशा उसे कैसे विकसित तथा जीवन्त बनाती है ? जीवन का सही ध्येय क्या है ? आदि जिज्ञासाएं शान्त की जाती हैं तथा क्षेत्रातीत और समयातीत सत्य का आविष्करण वहां किया जाता है। वह अमर और प्रबल प्रेरणादायी होता है। उसमें त्रैकालिक तथ्य प्रस्तुत होते हैं। उसमे मानव-सम्बन्धों को प्रमुख रूप से विशिष्ट किया जाता है[1]।"

आनन्द का उद्रेक काव्य का अभिन्न अंग होता है और उसी को 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' के सामवायिक शब्दों में प्रस्फुटन मिला है। रसात्मक वाक्यों का समुदाय जहां काव्य होता है, वहां वह जीवन के घुमावदार पहलुओं में संवेदना की अभिव्यक्ति देकर अभिनव चमक उत्पन्न कर देता है। इसी अनुभूति का यदि विस्तार के राज-मार्ग पर प्रस्फुटन किया जाये तो यह निष्कर्ष सहज ही उपलब्ध होगा कि जीवन में आनन्द की अनुभूति ही साहित्य और संस्कृति को गति प्रदान करती है।

आनन्द की अद्भुत सृष्टि के लिए ही अवकाश के क्षणों में मनुष्य ने रंग-मंच का सर्जन किया, कला को उद्दीपन दिया, साहित्य और पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन प्रारम्भ किया, रसात्मक वाक्यों की संकलनना में अपना चरण-निक्षेप किया; किन्तु क्या इन विभिन्न दर्पणों मे भी उसे अपना प्रतिबिम्ब स्पष्टतः दीख पाया ? तो क्या विगत की तरह अनागत भी धुंधला व निराशाजनक है ? किन्तु यहां मानव-स्वभाव का विश्लेषण विशेष उपयोगी होगा। गति में वेग व स्थायित्व भरने के लिए टिके हुए चरण की स्थिरता का अनुभव करने के अनन्तर ही विज्ञ पुरुष अपना दूसरा चरण उठाता है। असंदिग्धता में भी गई त्वरता कृत को भी धूलिसात् कर देती है। अमेरिका के सुप्रसिद्ध नाटक-समीक्षक श्री वाल्टर कर ने जीवन के विशाल नाटक को बहुत वर्षों तक अभिनीत होते देखकर यह मत व्यक्त किया था : "हम कला, प्रकृति, मैत्री तथा दूसरे स्वाभाविक आनन्दों के समक्ष आत्म-समर्पण कर दें और अपनी बौद्धिक प्रतिभा का प्रयोग विश्व को और स्वयं को समझने-बूझने और उसका आनन्द लेने में करें।"[2]

श्री टामस एक्विनास ने उपरोक्त अभिमत की तुष्टि करते हुए कहा था : "कोई भी मनुष्य आनन्दानुभूति के बिना जीवित नहीं रह सकता।"[3]

भारतीय मनीषियों ने इस अन्तःस्थ आनन्द को 'स्वान्तःसुखाय' की संज्ञा

१. श्रमण संस्कृति के अंचल में, पृ० ६३
२. नवभारत टाइम्स, ४ अगस्त ६२
३. नवभारत टाइम्स, ४ अगस्त ६२

से अभिहित किया। किन्तु कुछ एक ने इसके सहवर्तित्व में 'यशसे' व 'अर्थ कृते' को भी साहित्य का उद्देश्य माना। उनका तर्क था: 'भूखे भजन न होइ गोपाला।' "व्याकरण[1] से बुभुक्षा शान्त नहीं होती, काव्य-रस से प्यास नहीं मिटती और नाना छन्दों के द्वारा कुल समुन्नत नहीं हो जाता; अतः वैभवशाली बनो। उसके बिना सारे ही गुण निष्फल है।" उनकी सुदृढ़ मान्यता थी कि रिक्तोदर[2] उच्च कोटि का साहित्य-सर्जन नहीं कर सकते। भूख से व्याकुल पूर्ण गौरवता के पद पर आसीन नहीं हो सकता। किन्तु युग के प्रवाह ने साहित्यकार के इस सत्य को भी भ्रान्त कर दिया है। प्रगतिवाद की उर्वर भूमि पीठ से चिपका हुआ सपाट उदर ही है। अर्थ-सम्पन्नता से ही साहित्य की अकल्पनीय रसधारा उद्भावित कर किसी ने समाज को प्रीणित किया हो, ऐसे विरल उदाहरण की भी इतिहास साक्षी नहीं देता। क्योंकि लक्ष्मी के उपासक पर-वेदना से अभिज्ञ नहीं होते[3] और वेदनाशील हुए बिना साहित्य का द्वार उनके लिए उद्घाटित नहीं होता। अणुव्रत परामर्शक मुनिश्री नगराजजी ने आधुनिक युग के कविता-प्रवाह पर दृष्टिपात करते हुए उसकी मौलिकता को व्यक्त करते हुए लिखा है: "एक युग था जब कि कविता केवल कल्पनाओं के रंग-बिरंगे परों पर उड़ने वाली मनमोहक तितली बन गई थी, पर जब से इस जन-जनार्दन ने युग-युग की तन्द्रा को भंग करने जागरण का अभिनव शंख फूंका; उस उदीयमान युग की अरुण उषा में कविता भी फौलादी चोगा पहने और हाथ में पयोडा लिये जन अभियान की अगुआ हो गई। आकाशी उड़ान भरने के बदले अब उसके कुलिश कठोर चरण जीर्ण व जर्जर का ध्वंस करते, नूतन का निर्माण करने द्रुत गति से आगे बढ़ रहे हैं[4]।" वस्तु सत्य भी यह है कि शब्दों की अर्थ (वित्त) के साथ सम्पृक्ति उनकी अवनति का हेतु बनी है, जब कि उसकी अर्थ (हृदय) के साथ अनुस्यूतता उन दोनों के स्वरूप-निखार में अनन्य सहयोगिनी बनी है। हृदय की सृष्टि भूख और प्यास से परे तृप्ति और सन्तोष के धरातल पर हुई है। इसीलिए 'अर्थकृते' साहित्य की रसात्मकता का परिपोषी न होकर

---

१. बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।
न छन्दसा केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फला गुणाः ॥ ११ ॥
—शिशुपालवधम्, भूमिका पृ० १२

२. रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय

३. लक्ष्मीवन्तो न जानन्ति प्रायेण पर-वेदनाम्

४. नया युग

परिमोषी बना है और वहां से अवकाश के क्षणों में नाना साधनों के होते हुए भी आनन्द की रिक्तता हुई है।

बीसवीं सदी में यान्त्रिक प्रगति के साथ जीवन का एक नया दौर आरम्भ हुआ है। अल्प श्रम से प्रभूत परिणाम के कारण अवकाश के क्षणों में वृद्धि हुई और होती भी जा रही है। साथ ही उन्हीं यान्त्रिक साधनों के माध्यम से आनन्द की अनुभूति करने का प्रयत्न भी किया गया है। किन्तु आज का मनुष्य इतना विर नहीं हुआ है कि केवल श्रम ही सार्थक है। क्योंकि वह श्रम अन्तस्थ का पोष होकर केवल वहिरंग को ही परिपुष्ट कर रहा है। जहां एकान्ततः फूल-पत्तों अभिषिक्त करते हुए जड़ की उपेक्षा की जाती है, वहां फूल-पत्ते भी सड़ ः हैं। आनन्द का उद्भव-स्थल श्रम या तज्जनित साधन हैं अथवा उससे परे है, यह जटिल प्रश्न है। क्योंकि आनन्द श्रम या तज्जनित साधनों से सर्वथा विपरीत वह अभाव में भी उत्पन्न हो सकता है तथा पदार्थों के अतिभाव में वि ग हो जाता है। उसका स्वरूप चित् से परे नहीं है और वह अन्तस्थ का पर्याय है। जिसके पद-विन्यास[१] से हृदय और मस्तिष्क झंकृत न होते हों, वह वाव विन्यास पल्लवग्राही के अतिरिक्त अन्य क्या हो सकता है? साहित्यकार की इस उद्घोषणा में युग सत्य का जहां अविरल प्रवाह है, वहां इसकी गहराई में आनन्द की वह शाश्वत मन्दाकिनी भी है, जिसमें निमज्जन करने के लिए तृषित मानव अकुलाता है।

भारतीय ऋषियों व श्रमणों की पैनी दृष्टि ने आवरण को भेदकर अन्तस्तल का अवलोकन किया। इसलिए उनकी वाणी मुखर हुई : [२]"अपनी आत्मा से आत्मा को देखो।" भगवान् श्री महावीर ने कहा : "वह भिक्षु [साधक-सर्जक] है, जो समय, आत्म-बल, विभाग, खेद, विनय, स्व-सिद्धान्त-पर सिद्धान्तों का ज्ञाता होता है। यथासमय व्यवहारी, ममत्वहीन, निदान-रहित, राग-द्वेष विनिर्मुक्त, फलाशंसा से उपरत और निःश्रेयस् का अनुष्ठाता होता है।"[३] 'अर्थहेतें' और 'यशसे' यहां दोनों ही सर्वथा गौण हो जाते हैं और बहिर्भाव में ही रमण

-

करते हुए हर्षित होते हैं। साहित्य की सृष्टि अन्तरलोक में पहुंच कर शाश्वत आनन्द का उद्भव करती है। इसी चिन्तन में बल भरते हुए वैदिक ऋषियों ने कहा: आत्मानं विद्धि—आत्मा को पहचानने का प्रयत्न करो। अरस्तू ने कहा: "मानव ! तू स्वयं को पहचान।"

आत्मा (स्वयं) को पहचानना, अन्तःकरण का प्रस्फोटन, भावनाओं का उदात्तीकरण, जीवन का उज्ज्वल पक्ष, मानसिक जागृति, आध्यात्मिक अनुभूति, आदर्शों का व्यवहार में अवतरण आदि अनुभूतियां शब्दों की विविधता में उसी रस-धारा को समेटे बहती है, जिसे प्राचीन साहित्यकारों ने 'शिवेतर क्षतये' कह कर पुकारा तथा आज का प्रबुद्ध चिन्तक आनन्द की शब्द गरिमा से उसे श्लाघित करता है। मुन्शी प्रेमचन्द के कुछ विचार उपरोक्त अभिमत को ही पुष्ट करते हैं। वे एक स्थान पर लिखते हैं "हम साहित्यकार से यह भी आशा रखते है कि वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारों की विस्तृति से हमें जागृत करे, हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत करे—उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमें आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले।"[1]

इसी भावना को और स्पष्ट करते हुए मुन्शी प्रेमचन्द लिखते हैं. प्रेम ही आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमजोरियां इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हम में सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता।"

उनका यह आध्यात्मिक आनन्द इतना बलवत्तर हो उठता है कि वे अपने साहित्य में विश्वात्मा से एकात्मा को भिन्न स्वीकार नहीं करते। अतः वे लिखते हैं: "विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है—साहित्य[2]।"

आचार्य श्री तुलसी ने काव्य को आनन्द और उल्लास की उर्वर भूमि पर संस्कारों व आत्म-प्रेरणा द्वारा पैदा होने वाला फल माना है, जो अपने स्रष्टा के जीवन की अनुभूतियों का बहुजन हिताय बहुजन सुखाय का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है। वे स्वान्तः सुखाय के साथ-ही-साथ स्वान्तः शोधाय का भी विशेष लक्ष्य स्वीकार करते हैं तथा लोकरंजन के भूलभुलैया की कड़ी भर्त्सना भी करते है।[3]

उनकी भावना को उनके शब्दों में हम इस प्रकार पढ़ सकते हैं:

---

१. प्रेमचन्द : कुछ विचार

२. प्रेमचन्द : कुछ विचार

३. प्रवचन डायरी ; सन् ५४-५५ ; पृ० ८९-९०

सौभाग्याय शिवाय विघ्नविततेर्भेदाय पंकच्छिदे ।
आनन्दाय हिताय विभ्रमशतध्वंसाय सौख्याय च ॥[1]

स्थायी साहित्य की चर्चा करते हुए मुन्शी जी लिखते हैं : "स्थायी साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है । वह मानव-चरित्र की कालिमाएं नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएं दिखाता है । मकान गिराने वाला इंजीनियर नहीं कहलाता । इंजीनियर तो निर्माण ही करता है । हममें जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहता है, उसे बहुत आत्म-संयम की आवश्यकता है । क्योंकि वह अपने को एक महान् पद के लिए तैयार कर रहा है, जो अदालतों में बहस करने या कुर्सी पर बैठकर मुकद्दमे का फैसला करने से कहीं ऊंचा है । उसके लिए डिग्रियां और ऊंची शिक्षा काफी नहीं । चित्त की साधना, संयम, सौन्दर्य-तत्त्व का ज्ञान—इसकी कहीं ज्यादा जरूरत है । साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए । भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है । जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुंचेंगे, तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती । अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे । वाल्मीकि और व्यास दोनों तपस्वी ही थे । सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे । कबीर भी तपस्वी ही थे । हमारा साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता तो इसका कारण यही है कि हम ने साहित्य-रचना के लिए कोई तैयारी नहीं की । दो-चार नुस्खे याद करके हकीम बन बैठे । साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है ।"[2]

कुछ-एक मनचले साहित्यकार स्वान्त:सुखाय या दूसरे शब्दों में आनन्द को ओछे स्तर के मनोरंजन तक ही सीमित कर देते हैं । महफिल सजाना या सार-विहीन कहकहे में गजलें या कविता पढना आत्म-विहीन सुन्दर शरीर के अतिरिक्त कुछ नहीं है । गोस्वामी तुलसीदास ने स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा कह कर स्वान्तःसुखाय को जो गौरव प्रदान किया है, वह उक्त प्रकार के घासलेटी साहित्य से श्रीविहीन हो जाता है । मुन्शी प्रेमचन्दजी ने इस प्रकार के आनन्द बनाम मनोरंजन की भर्त्सना करते हुए लिखा है : "साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है— उसका दरजा इतना न गिराइये । वह देश-भक्ति और सचाई के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है ।"[3]

---

१. श्री कालूयशोविलास, चतुर्थ उल्लास
२. प्रेमचन्द : कुछ विचार
३. देखें, वही

काव्यों में रसधारा का उद्भव क्यों हुआ ? रस-हीन वाक्य-विन्यास काव्य की परिधि से अस्पृष्ट क्यों रहा ? वह क्या काव्य जिसके मर्दन से रस-परम्परा का उद्रेक नहीं होता हो ।[1] वे रससिद्ध सुकृती कविपुंगव ही विजयी क्यों बनें[2] ? ये ऐसे प्रश्न हैं जो साहित्य के मर्म का सहज ही उद्घाटन करते हैं । यशःप्रार्थी कवि रससिद्धता को अपना कवच बनाकर नहीं चल सकता । हिरण्यार्थी लक्ष्मी के पद-चाप से ही आहत हो जाता है; अतः अभिव्यक्ति के पर उसके लिए अनुद्गत ही रह जाते हैं । आनन्द, आत्मास्वाद या स्वरति का अनुशीलक अपने मानस-मंथन से उद्भूत अमृत-साहित्य में यश और अर्थ का कुरस टपका कर कभी उसे विरस नहीं बनने देता । सुप्रसिद्ध समालोचक डा० नगेन्द्र इसीलिए तो कहते हैं : "मैं काव्य में रस-सिद्धान्त को अन्तिम सिद्धान्त मानता हूं । उसके बाहर न काव्य की गति है और न ही सार्थकता ।

"......नित्य धर्म साहित्यकार का एक ही है । वह है शब्द-अर्थ के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार का सुख या आत्मास्वाद का भोग—आधुनिक शब्दावली में अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व की आनन्दमयी अभिव्यक्ति ।"

आनन्द और आत्मास्वाद को इसी रस-सिद्धान्त रूप एक ही सिक्के के दो पार्श्व मानते हुए डा० नगेन्द्र कहते हैं : "आनन्द का अर्थ आत्मास्वाद ही है । जब मैं किसी पदार्थ का आनन्द लेता हू, तब उस पदार्थ का भोग करने वाली इन्द्रियों के माध्यम से मैं अपनी आत्मा का ही उपभोग करता हू । कामायनी में जड़ के चेतन उपभोग की प्रसाद ने यही व्याख्या की है । शब्द-अर्थ में चिदंश अन्य भौतिक पदार्थों की अपेक्षा बहुत अधिक है । इसीलिए उसका सम्बन्ध आत्म-तत्त्व से अधिक प्रत्यक्ष है । 'सहित शब्द-अर्थ' के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार ही सहृदयगत रस है और आत्माभिव्यक्ति ही कविगत रस है । तत्त्व रूप में साक्षात्कार, अभिव्यक्ति और आत्मास्वाद में भेद नहीं है । इसलिए कवि और प्रमाता के रस में भी भेद नहीं है । इस प्रकार रस-सिद्धान्त शब्द-अर्थ के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार का ही सिद्धान्त है ।"

गुरुशुश्रूषया विद्या, विद्ययामृतमश्नुते—गुरु की शुश्रूषा का परिपाक विद्या है और विद्या का परिपाक अमृत है । सहज ही यह प्रश्न होता है, विद्या का परिपाक

---

१. किं तेन किल काव्येन मृद्यमानस्य यस्य ताः ।
उदर्पेरिव नायान्ति रसामृतपरम्पराः ॥

२. जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥

—सुभाषितरत्नभाण्डागारम्

यह अमृत क्या है ? इसका उत्तर इस पंक्ति में मि
साक्षरेद् राक्षसा एव केवलम् । विद्या व्यक्ति को साक्षर
साक्षरता उसमें मनुष्यता के प्राण प्रतिष्ठित नहीं क
विपरीतता में परिवर्तन करती हुई व्यक्ति को अपने
ओर ले जाती है तथा 'साक्षरा' और 'राक्षसा' में अ
कर देती है । किन्तु विद्या की अनेक सहज उपलब्धियों
है जो आनन्द के अजस्र स्रोत में बहती हुई अमृत के सा
है । उस सीमा में पहुंच कर आनन्द और अमृत का साह
होता है तथा दोनों प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत हो जाता
पुष्ट होता है तथा अमृत आनन्द से समृद्ध ।

वैदिक ग्रन्थों में धर्म के चार लक्षण बतलाये गं
चार, स्मृति और वेद । सदाचार, स्मृति और वेद
दार्शनिक मूल्यों की अक्षुण्णता की ओर इंगित करते है
कता तो आत्मा की प्रीति और प्रतीति के शरण-पो
तक कोई भी रचना आत्म-प्रीति के निमित्त नहीं बनती,
के बिन्दु कैसे टपक सकते हैं और कैसे वह दिव्योपदेश
लिए हो सकती है ?

साहित्य एक ऐसी विलक्षण शक्ति से सम्पन्न दर्प
धुंधला नहीं होता, वर्तमान प्रतिबिम्बित रहता ही है
सारी रेखाएं भी उसमें उभरती हुई दृष्टिगत होने लगतं
नाओं को अपने में संजोने की क्षमता रख पाता साव
इकाई का खण्डन नहीं होने देती; अतः वह साहित्य व
भी अंकित किया जाता है, भूत और भावी पर दृष्टि डालता
कैसे कर सकता है तथा ऐहिक विभूतियों से हीनता
लगाया जा सकता है ? वह तो सहभाव तथा हितसहि
प्रवृत्त होता है । रवीन्द्रनाथ टाकुर के शब्दों में उसे इस
।: "सहित शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव दे
ाथ-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रन्थ-ग्रन्थ का मिलन न
ाथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का मिलन है ।'

युगों का एक दूसरे के साथ सम्मिलन साहित्य के आं
नहीं है । युग-परिवर्तन के कारण पिता-पुत्र में विचार-
साहित्य की जाह्नवी में निमज्जन करते हुए पिता-पुत्र भ
करते हैं । युगों की वय-असमानता उस तृप्ति में व्याप

अर्थ को 'शम्भु' और शब्द को 'शिवा' या 'शक्ति' कहा गया है—अर्थः शम्भुरुमा—और इन दोनों के अर्धनारीश्वर रूप में साहित्य की कल्पना की गई है। आत्म-साक्षात्कार का ही नाम आनन्द है। प्रकृति के विविध उपादानों के द्वारा आत्मा अपना साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता रहता है। यह प्रयत्न या साधना ही जीवन है। साधना की सफलता-विफलता ही जीवनगत सुख-दुःख और उसकी सिद्धि ही 'आनन्द' है, जो सुख और दुःख से अतीत पूर्ण आत्म-लाभ या सामरस्य की स्थिति है। आनन्द का मूल रूप एक और अखण्ड है। माध्यम से उसके नामों में भेद हो जाता है। वाणी के माध्यम से जो आत्म-सिद्धि प्राप्त होती है, उसका शास्त्रीय नाम रस है। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ और शब्द का साहित्य सहज रसमय होता है। रस उसका अन्तरंग लक्षण है, बहिरंग विशेषणमात्र नहीं है। एक शब्द में, साहित्य की प्रकृति या प्राण-तत्त्व है रस, और यही उसका प्रयोजन है। भारतीय काव्य-शास्त्र का विवेचन इतना मार्मिक और व्याप्त है कि उसमें लक्षण और प्रयोजन, साधन और सिद्धि, शरीर और आत्मा का भेद मिट जाता है।"[1]

अणुव्रत-परामर्शक मुनिश्री नगराजजी ने एक सम्मेलन में कवियों की वस्तु-स्थिति का विश्लेषण करते हुए कितना सुन्दर कहा था : "कवि अनगिन वर्षों से मानव-समाज के बीच रह रहा है। पर लगता है, यह जीव-जगत् का कोई अनोखा जन्तु है, जिसे समझ पाना कठिन हो रहा है। कभी समाज उसके लिए कहता है : 'जहां न पहुंचे रवि, वहां पहुंचे कवि' तो कभी समाज उसके लिए कहता है :

काव्यं करोषि किमु ते सुहृदो न सन्ति
ये त्वामुदीर्णपवनं न निवारयन्ति।
गव्यं घृतं पिब निवातगृहं प्रविश्य,
वाताधिका हि पुरुषाः कवयो भवन्ति॥

जिनकी वायु का प्रकोप अधिक हो जाता है, वे लोग कवि हो जाते हैं।

---

१. आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ, तृतीय अध्याय, पृ० १६

पति[1] शरभ[2] आदि के पद पर भी अभिषिक्त किया गया है। कहीं-कहीं खल पुरुषों[3] पर उपकार करते हुए, वे उनके लिए दुर्लभ सुधा उपहृत करते हैं तो कहीं अमृत-रक्षा[4] का भार भी उन पर ही छोड़ दिया गया है। कहीं उन्हें हल[5] जोतने का परामर्श दिया गया है तो कहीं राम[6] के यशः-प्रसार का उपादान भी उन्हें ही माना गया है। नरेश और वागीश को अन्योन्य सम्बन्धी[7] बताया गया है तो उन्हें शूरवीर के साथ जनसेवी[8] भी माना गया है। भूधव अपनी कीर्ति-कमला को विस्तृत करने की उनसे अपेक्षा रखते थे, आहव के समय योद्धाओं में शक्ति-सचार की अनिवार्यता समझते थे तो श्रीमन्त अपने जन्म दिवस, पुत्र-जन्म, विवाह आदि प्रसंगों पर उनका खुलकर उपयोग करते थे। उनकी उस अजीबो-गरीब स्थिति पर आंसू बहाते हुए ही तो यह कहा गया था : "इस दग्धोदर के लिए मनुष्य क्या कुछ नहीं करता ? वानरों की तरह अपनी वाग् देवी को वह घर-घर नचाता घूमता है।[9]

कविता का रहस्य क्या है और कवि का हृदय क्या है; सामान्यतया यह समझने में असावधानी हो जाती है। कुछ एक उसकी प्राप्ति में व्याकरण-ज्ञान को मुख्य मानते हैं तो कुछ एक तर्क, छन्दोज्ञान व मीमांसा आदि को अनिवा-

---

१. अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥
—उत्तररामचरितम्, उदाहार, पृ० ६

२. उत्पादका न बहवः कवयः शरभा इव। —हर्षचरितम्, १-५

३. रे रे ! खलाः शृणुत मद्वचनं समस्ताः; स्वर्गे सुधास्ति सुलभा न तु सा भवद्भिः।
कुर्मस्तदत्र भवतामुपकारकारि, काव्यामृतं पिबत तत्परमादरेण ॥

४. साहित्य पाथोनिधिमन्थनोत्थं, काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।

५. कविराजो खेती करो हल स्यूं राखो हेत।
गीत जमी में गाडद्यो ऊपर राखो रेत ॥

६. लंकापतेः संकुचितं यशो यद्यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः ॥

७. ख्याता नराधिपतयः कविसंश्रयेण, राजाश्रयेण च गताः कवयः प्रसिद्धिम्।
राज्ञा समोऽस्ति न कवेः परमोपकारी, राज्ञो न चास्ति कविना सदृशः सहायः॥

८. सुवर्णं पुष्पितां पृथ्वीं चिन्वन्ति नरास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्।

९. अस्य दग्धोदरस्यार्थे किं न कुर्वन्ति मानवाः ॥
वानरीमिव वाग्देवीं नर्तयन्ति गृहे गृहे।

यंता का अनुभव करते हैं; किन्तु कविता कामिनी को यह काम्य नहीं है। यह किसी को पिता या भ्राता मानकर उनका वरण नहीं करती तो कुछ एक को नपुंसक या चाण्डाल समझती हुई उनके दूर से ही चली चली जाती है। जो उसके अन्तस्तल का भेद कर सकता है, उसका ही वह तो वरण करती है।[1] "कृपण की तरह केवल अर्थ की उपासना करने वाले, वेश्या की तरह केवल अलंकृत रहने वाले व आयुर्वेदाचार्य की तरह केवल रसों की ओर ही दृष्टिपात करने वाले के स्पर्श को वह निन्द्य मानती है और अर्थ, अलंकार व रस से उपेत को ही अपना प्रेय मानती है और उसे कोई सौभाग्यशाली ही प्राप्त कर सकता है।"[2] एक ओर जहां उसे महाकवि का गौरवशाली पद प्राप्त है, वहां दूसरी ओर उसे चारण-भाट की संज्ञा भी दी जाती है।

सब कुछ होते हुए भी कवि ने मानव-मन को आलोकित करने व उसका मार्ग-दर्शन करने के लिए सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का द्वार उद्घाटित किया है तथा अपने अनूठे इतिवृत्त का सर्जन किया है। आचार्य श्री तुलसी के शब्दों में: "कवियों के कन्धों पर इस समय बड़ा दायित्व है। आज के कवि कल्पना जगत् में विचरण करने में ही पटु हों, यह अच्छा नहीं। केवल नखशिख का वर्णन करें, यह पर्याप्त नहीं है। वे केवल प्रकृति, पर्वत व समुद्र की शोभा का वर्णन करें, यह उचित नहीं है। इस समय वे जनता में सदाचार का प्रचार करने में अपनी कल्पना को स्फूर्तिमय बनायें, मनुष्यों की मनोवृत्ति को पवित्र करने के लिए काव्यकला की वृद्धि करें। ऐसा करके ही वे निश्चिततया लोक सेवक बन सकेंगे।"[3]

शब्दों की संघटना, मात्रा की पूर्णता, यतिभंग आदि दोषों की वर्जना ही कविता नहीं है। यह तो उसका बाह्य सौन्दर्य है। उसमें भावना की तीव्रता और उसके आधार पर पाठक तथा श्रोता के हृदय को भेदने की क्षमता की अनि-

---

१. नैव व्याकरणज्ञमेति पितरं, न भ्रातरं तार्किकं।
   दूरात् संकुचितेव गच्छति पुनः चाण्डालवत् छान्दसम्।
   मीमांसा-निपुणं नपुंसकमिति ज्ञात्वा निरस्तादरा।
   काव्यालंकरणज्ञमेत्य कविता कान्ता वृणीते स्वयम्॥

२. अर्थान् केचिदुपासते कृपणवत् केचित्त्वलंकुर्वते।
   वेश्यावत्, खलु धातुवादिन इवोद्बध्नन्ति केचिद्रसान्॥
   लिंकृतिसद्रसद्रवमुचां वाचां प्रशस्तिस्पृशां।
   : कवयो भवन्ति कतिचित् पुण्यैरगण्यैरिह॥

   आचार्य श्री तुलसी के अमर सन्देश, पृ० १८४

सार्थकता है। उस कवि[१] और उस बाण की कोई सार्थकता नहीं है, जो हृदय-भेदी नहीं होता है। इसके लिए शब्द-संचय के साथ अनुभूतियों की प्रचुरता तथा उनकी अभिव्यक्ति में पूर्णतः सफलता की आवश्यकता होती है। कवि मिल्टन इसीलिए यह मानते हैं: "कवि होने के लिए कवि का जीवन एक काव्य होना चाहिए[२]।" सुप्रसिद्ध लेखक श्री व्हिटमैन का कहना था: "सावधान, यह पुस्तक नहीं, जीवन है; जो इसे छूता है, वह मनुष्य को छूता है।" आचार्य श्री तुलसी के लिए इन उक्तियों को इस प्रकार दुहराया जा सकता है कि उनके काव्य केवल कल्पना की लहरों पर ही नहीं तैरते; उनमें संस्कृति, सभ्यता व इतिहास का सुन्दर विश्लेषण होता है। वे केवल पढ़े ही नहीं जाते, अपितु उनके आधार पर पाठक का जीवन स्वतः गढ़ता चला जाता है। वे एक धर्म-संघ के अधिशास्ता हैं; अतः संस्कृति व सभ्यता का उनकी कृतियों में प्रस्फुटन नैसर्गिक है; वे भारतीय दर्शनों के अधिकृत व्याख्याता हैं, अतः उनके काव्यों में इतिहास का बोलता चित्र अनुस्यूत होना ही और वे एक नैतिक आन्दोलन के प्रवर्तक हैं, अतः मानवता का निदर्शन भी उनमें अवश्यम्भावी है। 'भरत-मुक्ति' महाकाव्य को इन सबका समवायी रूप कहा जा सकता है। तेरह सर्गों में विभक्त यह काव्य अपनी कमनीयता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। भावना ने जिस ओर मोड़ लिया है, उस ओर पूरे वेग के साथ बही है और पारिपार्श्विक वातावरण को अपने आपमें समाहित करती हुई अलौकिकता तक पहुंच गई है।

प्रथम तीन सर्गों में भगवान् ऋषभदेव व महामाता मरुदेवा की जीवन-घटनाओं का सुन्दर चित्रण हुआ है। चतुर्थ, पंचम व षष्ठ सर्ग में भरत के प्रथम चक्रवर्ती होने का स्वप्न पूरा हुआ है और उसके फलस्वरूप साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के विस्तार की लम्बी शृंखला का भी श्रीगणेश हो जाता है। भारत-विजय की सफलता हस्तगत हो जाने से भरत का यह शतगुणित हो जाता है, किन्तु जब उन्हें ज्ञात होता है कि अभी तक चक्रवर्तित्व की पूर्णता नहीं हो पाई है तो सहसा खिन्नता भी होती है। मंत्री के परामर्श से यह ज्ञात होता है कि विजय केवल इसीलिए अधूरी है कि बहली के राजा और छोटे भाई श्री बाहुबली इस विजयोल्लास में सम्मिलित नहीं हैं।

सर्ग सातवें से तक भरत और बाहुबली के युद्ध का बहुत ही सुन्दर चित्रण है। वहां वीर, रौद्र, बीभत्स आदि रसों के माध्यम से स्थान-स्थान पर अलंकारों के प्रयोग से काव्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया है। बाहुबली से

---

१. किं तेन काव्येन किं बाणेन धनुष्मतः।
परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः॥

२. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १२ अगस्त, ६२

संयोग नहीं मिला। जब वे भिक्षा के लिए माधुकरी वृत्ति से भ्रमण करते हुए घरों पर आते तो जनता उन्हें एक मुमुक्षु मानकर उनका स्वागत नहीं करती, अपितु अपना राजा ही मानती और उनसे अनुनय करती :

> पाँव तुम्हारे कितने कोमल,
> फिर भी क्यों चलते हो पैदल ?
> हे तुरंग तैयार।
> यह लो अत्युत्तम ऐरावत,
> यह लो सुखारोह सज्जित रथ,
> क्या कर रहे विचार ?
> हीरे, पन्ने, माणक, मोती,
> झिलमिल-झिलमिल करती ज्योति,
> लो भरलो भण्डार।

हृदय की सरलता, शिक्षा की अल्पता तथा सांस्कृतिक चेतना की न्यूनता के कारण जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं पूर्ण करने में भी जनता उस समय समर्थ नहीं थी। भगवान् ऋषभदेव को उन्हें किस प्रकार प्रशिक्षण देना पड़ता था, इसका चित्रण इस प्रकार किया गया है

> साधारण से भी साधारण
> बातों में जाते लोक उलझ,
> कैसे खाना, पीना, रहना,
> इतनी भी उनमें थी न समझ,
> जीवन का कैसे यापन हो ?
> यह सबसे बड़ी पहेली थी,
> कुछ हुआ कि आते दौड़-दौड़,
> उनको यह निश्चित होती थी।
> ....
> पूरा अभाव था शिक्षा का
> प्रायः जनता में थी जड़ता,
> सामाजिक रीति चलाने को,
> भाते सब कुछ करना पड़ता।

किसानों में कितना अज्ञान था तथा वे जीवन की विधियों से भी कितने अज्ञ थे, इसका एक उदाहरण तब मिलता है, जब कि खलिहानों में दाना करने के अनन्तर किसान मिल-जुलकर भगवान् ऋषभदेव के पास आये; क्योंकि खलिहानों में पड़े धान्य को बैल खाने लगे। उनसे उसे कैसे बचाया जाय, यह

थे नहीं जानते थे। भगवान् ऋषभदेव ने उन्हें छींकी बान्धने का आदेश दिया। काम-सम्पन्न होने पर भी उन्होंने छींकी को नहीं खोला। बैल भूख-प्यास से कराहने लगे। किसान भगवान् ऋषभदेव के पास आये और सारी स्थिति को निवेदित करते हुए कहने लगे :

चरने को चारे के बरतन भरे हैं,
भूखे हैं बैल, फिर भी तृण न चरे हैं,
ऐसा लगता ये खाना भी चाहते हैं।
दिन भर में एक घूंट पानी की ली ना,
ऐसे तो उनका कठिन ही है जीना,
देख हम सबके जी अकुलाते हैं।
क्या जाने उनको हुई क्या बीमारी ?
देती न काम बुद्धि कुछ भी हमारी,
हम तो दौड़े-दौड़े यहाँ आते हैं।
हमने तो उनके मुंह बांधे आदेश से,
क्या जाने दुःट हैं ये छींकी के क्लेश से ?
उनको मनुहारें कर-कर मनाते हैं।

वेदों में कहा गया है : मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अतिथि देवो भव। तीनों में माता को प्रमुख स्थान प्राप्त है और इसीलिए जननी और जन्मभूमि को स्वर्ग से भी अधिक गरीयसी कहा गया है। इस तथ्य के अन्तस्तल में वात्सल्य का लहराता सागर मिलता है, जो अपने आप में अनेकों रत्न संजोये हुए है। पुत्र माता से विलग हो सकता है, पर माता का वात्सल्य किसी भी परिस्थिति में पुत्र से दूर नहीं हो सकता। जिस समय भगवान् ऋषभदेव अनुराग से विराग की ओर बढ़ते हुए प्रव्रजित होकर राज-प्रसादों से वनवास की ओर चल पड़े तो पीछे से महामाता मरुदेवा के मातृ-वात्सल्य रत्नाकर में अपूर्व ही ज्वार आ गया।

जिसको मैंने बड़े प्रेम से इन हाथों में पाला,
वह हंसमुख था, कैसा सीधासादा भोलाभाला,
प्रतिदिन मैं अपने पास बिठाती,
कर-कर मनुहार खिलाती
अब उसका कौन सम्भाता थाल है।

ध्यान सदा रखती थी, उसने क्या खाया, क्या खाना ?
अब उसके खाने-पीने का होगा कहां ठिकाना ?

गर्मी-सर्दी से सदा बचाती,
रहती थी मैं समझाती,
अब उसकी कौन करे सम्भाल है।

मैंने झूर-झूर कर अपना सारा अंग सुखाया,
पर उस निर्मोही ने तो आ, मुंह तक नहीं दिखाया,

सखियों! रो-रो मैं नयन गमाऊं,
ऋषभे की रटन लगाऊं,
देखो यह बदन हुआ कंकाल है।

माता मरुदेवा का वह वात्सल्य जब अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है तो महान् दुःख में बदल जाता है। उसी समय भरत पहुंच जाते हैं तो महामाता का वह दुःख शब्दों में भी व्यक्त हो उठता है।

मेरा ऋषभ कहां रहता है?
क्या करता? क्या मुझे पता है?
हो'' क्या मैं फिर से उसे देख लूंगी जीवन में?
तेरे तो सुख-साधन सारे,
तू यह सब किस लिए बिसारे?
हो'''क्या जाने वह घूम रहा है किस कानन में?

चक्रवर्ती भरत दिग्विजय के अनन्तर अयोध्या लौट आये। राजा और प्रजा के तादात्म्य सम्बन्ध का द्योतक नागरिकों का उल्लास अपनी सीमाओं को लांघ गया तथा वह अपने प्रिय सम्राट् के प्रति नाना प्रकारों से व्यक्त हुआ।

मंगल द्वारों की भव्य छटा,
सुन्दर तोरण बन्दरवारे
थी भीनी-भीनी मन-मोहक
वह मधुर महक पुर में सारे,
भरतेश्वर के दर्शन करने
वनिता की जनता उमड़ पड़ी,
जहां देखो वहीं सहस्रों की थी
स्थान-स्थान पर भीड़ खड़ी।

ऊंचे-ऊंचे छज्जों छतों—
पर महिलाएं मंगल गातीं,
आशीषें दे-दे बार-बार
वे सुमन सुगन्धित बरसातीं,

वस्त्राभरणों से सज्जित हो
वे नन्हें बालक-बालाएं,
थे उछल-उछल कर पहनाते
जन-नायक को जयमालाएं।

भरत चक्रवर्ती थे; अतः उन्हें राज्य-व्यवस्थाओं में आकण्ठ मग्न रहना पड़ता था। यह सहज ही होता है कि मुख्य-मुख्य बातों की ओर उनका ध्यान आकर्षित हो, किन्तु भरत इसके अपवाद थे। वे छोटी-से-छोटी बातों की ओर भी बड़े सावधान थे। भरत की सभा में बत्तीस हजार मण्डलपति राजा थे, फिर भी वे उपस्थित होने वाले एक-एक व्यक्ति को गौर से देखते तथा आवश्यक कदम उठाते थे। बाहर वर्ष तक के विजयोल्लास में उनके अट्ठानवे ही भाई सम्मिलित नहीं हुए तो उन्हें पृथक्-पृथक् दूत भेजकर अपने कर्तव्यों के प्रति सचेष्ट करते हुए कहलवाया :

मूल विनय की मूल पद्धति उच्छृंखलता श्रेष्ठ नहीं,
यह अपमान कनिष्ठों द्वारा, कभी सहेगा ज्येष्ठ नहीं,
स्मर कुल की उज्ज्वल परम्परा, मत यों अविनय को पनपाओ।
मेरे प्यारे विज्ञ बन्धुओं! आओ वनिता में आओ।
यों घर वाले भी आने के समय नहीं जो आयेंगे,
तो हम अखिल विश्व पर कैसे अनुशासन कर पायेंगे,
अब विलम्ब अक्षम्य शीघ्रतर, आकर चरणों में झुक जाओ।
मेरे प्यारे विज्ञ बन्धुओं! आओ वनिता में आओ।

भरत के आह्वान पर उनके अट्ठानवे ही अनुज क्रुद्ध हुए और उनके पास नहीं गये। वे भगवान् ऋषभदेव के पास पहुंचे और अपनी आर्त्त भावना उनके सम्मुख प्रस्तुत की। भगवान् ने उन्हें प्रबोध दिया। सूत्रकृतांग सूत्र व श्रीमद् भागवत पुराण में वे शिक्षापद विस्तार के साथ दिये गये हैं। आचार्यवर ने उन शिक्षाओं को कितने सुन्दर पद्यों की शृंखला में बांधा है :

छोड़ो-छोड़ो उलझन,
क्यों हो इतने उन्मन,
साहस हारा
लेगा कोई न राज्य तुम्हारा।

जिसको मान रहे तुम अपना,
यह तो है तो केवल झूठा सपना,
इसकी इतनी लगन

कैसा है पागलपन ?
क्यों न विचारा ?

उस राज्य में सार जो पाता,
तो मैं छोड़ उसे क्यों आता ?
समझा उसको बन्धन,
आखिर उसमें क्रन्दन,
लो छुटकारा।

राजनीति सामाजिक जीवन का एक अनिवार्य अंग है। इसका प्रारम्भ अन्याय के परिहार व न्याय की सुरक्षा के लिए हुआ है। किन्तु जब किसी भी शस्त्र का दुरुपयोग होता है तो वह प्रयोक्ता के लिए ही हानिप्रद हो जाता है। राजनीति भी जब दुष्ट-दमन व सज्जन-सुरक्षा के पथ को छोड़कर किसी को कुचलने की ओर चल पड़ती है, तब वह व्यवस्था का शृंगार न होकर कलंक बन जाती है।

सुनने में आता है कैसा, भूमण्डल पर भरतातंक।
औरों के अधिकार कुचलना, राजनीति का बड़ा कलंक।

....

यह सत्ता की रीति, सतत पराया छीनना।
संग्रह, शोषण नीति, अपनापन रखती नहीं।

देश की सुरक्षा का भार सुयोग्य सैनिकों पर होता है। वे अपने प्राणों को हंसते हुए देश के चरणों में अर्पित कर देते हैं। सैनिक का साहस, शौर्य और कार्यक्षमता तो उनकी अपनी होती है, पर उसके साथ परिवारजनों की प्रेरणा, सैनिकों का पारस्परिक वातावरण और युद्ध-भूमि में सतत रत वीर ओजस्वी कवि भी ऐसे होते हैं जो सैनिकों को आदि से अन्त तक अपने लक्ष्य की ओर इस तरह से प्रेरित करते हैं कि उनका साहस, शौर्य और कर्तव्यभाव शतगुणित होकर सफलता प्राप्त कर लेता है। बाहुबली के सैनिक जब अपने-अपने घरों से विदा होने लगे तो उनकी वीर माताएं अपने पुत्रों को आशीष देती हुई कहती हैं :

मेरा पय-पान किया तुमने उसको न कहीं लांछित करना।
देना मत पीठ एक पग रण में अपयशता को वरना।

स्नेहमयी बहिनें अपने रणगामी बन्धुओं की आरती उतारती हुई और मस्तक तिलक करती हुई उनसे कौल करती हैं :

रक्षा-बन्धन जिन हाथों पर, हमने बांधा उनका पौरुष।
दिखलाना देश-सुरक्षा में, होना न कहीं तुम टस से मस।

सैनिकों की सौभाग्यवती पत्नियां अपने पतियों को प्रोत्साहित करती हुई अपनी कल्पनाओं के ताने और बाने प्रस्तुत करती हुई कहती हैं :

जाओ, पौरुष का परिचय दो, यह आशा रखती मां धरती।
वीरों की वीर नारियां यह, कहलाने का सौभाग्य मिले।
हम सुनें आपका विजय तूर, सस्नूर हृदय अरविन्द खिलें।

अभिभावक जन सैनिकों की पीठ थपथपाते हुए कहते हैं :

······पुत्रों कुल-मान बढ़ाना तुम,
अपने उज्ज्वल यश अम्बर में अब चार चांद चमकाना तुम,
संगर में लड़ना साहस से, मरने से मत घबराना तुम,
डंके की चोट विजय पाकर हंसते-हंसते घर आना तुम।

युद्ध-भूमि में प्रतिष्ठासु सैनिक जब राजदुर्ग में एक-दूसरे से मिलते हैं तो परस्पर प्रतिज्ञा करते हैं :

रणचण्डी का खाली खप्पर नर-शोणित से भरना है।
मरना है तो युद्ध-भूमि में लड़ते-लड़ते मरना है।
दाल न गलने देंगे हरगिज अन्यायी, शैतान की।
हम सब को रक्षा करनी है मातृ-भूमि के मान की।

जब युद्ध प्रारम्भ होता है तो सैनिकों के पौरुष के साथ कवि की सहज चित्रण शक्ति भी फड़क उठती है और इन शब्दों का परिधान पाकर व्यक्त होती है :

म्यानों से निकली तलवारें, मानों घन में बिजली चमकी।
बरछियां, कटारें, तेज शूल, वे भालों की अणियां दमकीं।
तीखे बाणों की बौछारें, मानों सावन की लगी झड़ी।
शब्दित करतीं भू-मण्डल को, तोपें, बन्दूकें बड़ी-बड़ी।

दोनों ही राजाओं की सेना जब युद्ध-रेखा पर पहुंचती है और जब तक युद्ध आरम्भ नहीं होता है, तब तक सैनिक अपने शत्रु सैनिकों के साथ बड़ी मीठी चुटकियां भरते हैं :

पक्ष—आइए! तलवार स्वागत आपका है कर रही।
(या) जाइए, हथियार रख फिर डर किसी का है नहीं।
विपक्ष—क्या कहा? हथियार रखे जाएंगे ये आप पर।
झुको भरतेश्वर-चरण में, (लो) अभय का आश्रय वर।

दल—न मुड़ेंगे, न करेंगे वार हम तलवार का।
आइए, अब जाइए अब स्वाद शोणित धार का।
विपक्ष—हाँ, चखेंगी ये कटारें, स्वाद शोणित-धार का।
यों हुआ आरम्भ भीषण अब नर-संहार का।

जब पहली ही मुठभेड़ में भरत के सैनिक बहादुरी के साथ रणक्षेत्र छोड़कर भागने लगे तो बाहुबली के सैनिक ताने मारते हुए गरज उठे :

ठहरो, ठहरो क्यों भगते हो? तक्षशिला है दूर।
क्षत्राणी का दूध पिया है? कहलाते हो शूर?

भरत के प्रधान सेनापति सुषेण के साथ ताने कसने से प्रतिनिरंग नहीं चूका। वह कह उठता है :

रे! खड़ा देखता क्या है? यह समर नहीं तमाशा,
तेरे से लड़ रण सीखूं यह मेरी चिर अभिलाषा,
मैंने तेरे पौरुष की सुन रखी दान्त-कथाएं,
उनको साकार परखना चाहती हैं आज भुजाएं।

एक ओर जहां वीर रस अपनी चरम सीमा पर पहुंचता है, वहीं उसके साथ करुण रस का स्रोत भी फूट निकलता है। एक दर्शक की अनुभूति स्वतः व्यक्त हो चलती है :

चारों ओर रक्त से लथपथ हैं लाशों के ढेर,
हाय! हो रहा जान बूझकर आंख मूंद अंधेर,
क्या बस इसीलिए है तेरा रे! रे! मानव अभिमानी।

कुचल-कुचल शव रथ चलता है, घोड़े लाशें रौंद,
प्रलय काल की आज रही हो मानो बिजली कौंध,
हा हा! शीश बिना क्षत-विक्षत धड़ें न जाती पहिचानी।
कहीं हाथ हैं, कहीं पांव तो रुण्ड कहीं हैं मुण्ड,
समरांगण साक्षात हो रहा देखो रौरव-कुण्ड,
फिर भी है न नृशंस मनुष्य-हृदय में कोई भी ग्लानि।

युद्ध हिंसा की चरमता का एक उदाहरण बनता है। वहां अहिंसा और अध्यात्म का क्या लेना-देना, पर प्राचीन युग में जब सूर्यास्त हो जाता था तो युद्ध बन्द हो जाता और सैनिक परस्पर मिलते तथा जो क्षत-विक्षत होते उनकी परिचर्या करने के साथ ही मरणासन्न सैनिकों के लिए अध्यात्म का वातावरण बनाते। कवि के यह कितने उर्वर मस्तिष्क की उपज है कि हिंसा के क्षेत्र में भी अहिंसा का वातावरण बन गया है :

देख मरणासन्न मंगल पाठ मधुर सुना रहे,
'शरण है श्री ऋषभ' का यों धर्म भाव बढ़ा रहे,
शान्त कर सब वृत्तियां करवा रहे संलेषणा,
कह रहे, सब छोड़ चिन्ता करो स्वात्म-गवेषणा।

विजिगीषु सैनिक येन केन प्रकारेण ही नहीं लड़ते थे। वे अपनी मर्यादाओं का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे :

कर एक-एक को सावधान, व्यवधान बिना वे लड़ते थे।
जो हो निःशस्त्र, निर्बल घायल उससे न कभी भी अड़ते थे।

जब कभी उन मर्यादाओं का किसी पक्ष के द्वारा लंघन होता था तो दूसरे पक्ष का रोष उभर आता था। दूसरे योद्धाओं से लड रहे अनिलवेग पर जब भरत ने अपने शिविर में बैठे-बैठे ही उसे बिना सावधान किये चक्र चलाया तो सरोष बाहुबली गरज उठे :

सत्ता के मद में चूर, क्रूर सब न्याय-नीति को भूल गया।
जो मैं कहता हूं वही ठीक अपनी मैं में ही फूल गया।
... ...

यह अनिल वेग है मरा नहीं, है मरा भरत का न्याय यहां,
वह पूज्य पिताजी की शिक्षा सारी ही आया छोड़ कहां?
यदि इसी प्रकार प्रवाह रहा, संसार मुंह पर थूकेगा।
इस एक खून का बदला भय, उसके लाखों से चूकेगा।

रण-भूमि का वातावरण ही कुछ ऐसा होता है कि वहां कायरों और क्लीवों में भी पौरुष फड़कने लगता है। जिस किसी सैनिक का अपने प्रतिपक्षी सैनिक पर मौका लग जाता है, वह उसे यम-धाम का अतिथि बनाने से चूकता नहीं। जो विशेष बलशाली होते हैं, उनके आते ही सारा रंग-ढंग बदल जाता है। जब वीर रत्नार्य, सुगति और अमितकेतु भरत-सेना पर टूटे तो उन्होंने एक नया ही दृश्य उपस्थित कर दिया :

कइयों को कन्दुक की नाईं, टांगें चीर उछाले।
बरछी से कई तरह-बरह कर अंगहीन कर डाले।
... ...

भगदड़ मची भयंकर रण में, एक-एक से आगे।
ज्यों बिल्ली से डरते चूहे पूंछ दबाकर भागे।
... ...

घुसते ही लगे तड़ातड़ तीर चलाने,
करवालों से कितने मारे क्या जाने ?
... ...
यह देख उपक्रम सैनिक सब घबराए,
कितनों ने भाग-दौड़कर प्राण बचाए,
रथ छोड़ चले कुछ, अश्व छोड़कर भागे,
धीरत्व छोड़कर, अस्त्र-शस्त्र भी त्यागे,
धड़ पड़े कि जिनके भाग्य देवता रूठे।
उनके आते ही सबके छक्के छूटे।

जब स्वयं बाहुबली युद्ध-भूमि में चढ़ आते हैं तो सारे ही प्रतिपक्षी सैनिक में एक अजीब-सी हलचल हो जाती है और उनकी उस समय मनःस्थिति होती है :

यह तो अजब-गजब है माया,
मानो सोया सिंह जगाया,
क्या यम रौद्र रूप कर आया,
प्रलय धाम पहुंचाने।

समर जिस समय अपने बीभत्स रूप में पहुंच जाता है तो सहसा यह कल्प होती है :

सबका अटल कृतान्त क्या करना चाहता लोप ?
विश्व निगलने को हुआ या यह प्रलय-प्रकोप ?
फटना चाहती मेदिनी, गिरना चाहता व्योम ?
घिरना चाहता विश्व में भीषण तामस तोम ?
मानो इस नर-सृष्टि का, होने वाला अन्त।
आज अनिष्ट उदर्क से कम्पित हुए दिगन्त।

हिंसा जब अपनी चरम सीमा पर पहुंचने लगती है तो वहां से अहिंसा स्वर मुखर होना स्वाभाविक ही है। भरत और बाहुबली को लड़ते-लड़ते बारह वर्ष बीत गये और रत्नगर्भा वसुन्धरा के उदर में नर-मुण्ड ही नर-समाहित हो गये तो सहसा देवों का ध्यान उस ओर गया और उन्होंने भग ऋषभदेव की अभिधा आगे रखकर युद्ध बन्द करवाया। भरत और बाहुबल पास गये तथा दोनों भाइयों में परस्पर समझौता करवाने का प्रयत्न लगे। जब पहले-पहल भरत के समक्ष सन्धि-प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया उन्होंने अपनी विवशता को व्यक्त करते हुए कह दिया :

... .

नत हो बाहुबल एक बार, यह चक्र स्थान पर पहुंचा दे।
फिर राज्य समूचा वह ले लें, पर उलझी गुत्थी सुलझा दे।
जितने डग बाहु भराएगा, उतने ही मैं मर सकता हूं।
अब कहो अधिक इससे ज्यादा देवो ! मैं क्या कर सकता हूं ?

बाहुबली के समक्ष जब वह सन्धि-प्रस्ताव रखा गया तो वे भी अपने को निर्दोष प्रमाणित करते हुए बोल उठते है :

जो पिताजी ने बराबर राज्य हम सब को दिये,
ज्येष्ठ कहला हा ! कनिष्ठों को भगा उसने लिए,
खेद ! इतने पर नहीं वह तृप्त हो पाया अभी,
और मेरा राज्य-वैभव छीनना चाहता सभी।

चाहता यदि युद्ध करना मैं स्वयं जाता वहां,
देश-रक्षा के लिए देवो ! डटा हूं मैं यहां,
मानता हूं हो रहो जो घोर हिंसा है बुरी,
कहो कैसे दूं चलाने मैं गले पर यों छुरी।

बड़ा माना भरत को यह वस्तुतः ही भूल की,
अर्चना की फूल के बदले विषैले शूल की,
यहां आया क्यों कहो ? क्या मांगता वह कर्ज है ?
स्वयं की रक्षा उचित करना हमारा फर्ज है।

अब बताएं आप मैंने क्या किया अन्याय है ?
युद्ध के अतिरिक्त कोई भी न और उपाय है,
लड़ा बारह वर्ष अब कैसे उसे यों छोड़ दूं ?
आ रही जो विजय-लक्ष्मी कहो कैसे मोड़ दूं ?

मार कितनों को किया षट्-खण्ड पर अधिकार है,
रक्त-रंजित राज्य को धिक्कार है, धिक्कार है,
मुझे अपने आप में ही पूर्णतः सन्तोष है,
भरत पर मेरा न कोई राग है ना रोष है।

अपने पक्ष को सब तरह से न्याय-युक्त बतलाते हुए बाहुबली जब सन्धि-प्रस्ताव ठुकरा देते हैं तो आयुधशाला में चक्र-प्रविष्ट न होने की समस्या को भरत की ओर से देव रखते हैं। बाहुबली तत्क्षण गरज उठते हैं :

सम्भाले वह चक्र को, पर बाहुबल नमता नहीं,
मुझे निष्ठुर और निर्मम मन्यु से ममता नहीं।

सन्धि-प्रस्ताव जब पूर्णतः विफल हो गया तो देव असमंजस में पड़ गये। मानव-संहार के उस उपक्रम को सर्वथा बन्द करने के निमित्त वे प्रयत्नशील थे ही। अन्ततोगत्वा देव भरत-बाहुबली को इस प्रस्ताव पर सहमत कर लेते हैं कि विरोध तो भाइयों के बीच है; अतः जय-पराजय का निर्णय भी दोनों के युद्ध से ही होना चाहिए। सेना का संहार क्यों हो? द्वन्द्व-युद्ध के रूप में दृष्टि-वाक्-बाहु और दण्ड-युद्ध निश्चित हुए। दोनों भाई जब रण-भूमि में उतरे तो भरत चक्रवर्तित्व के नशे में बाहुबली को अनवसर की शिक्षा दे देते हैं :

भाई! तू तो सर्वदा था मेरा पूर्ण विनीत।
आज गया तेरा कहां वह सारा प्रेम पुनीत।
देख दुराग्रह से हुआ यह भीषण नर-संहार।
अस्तु, हुआ सो हो गया कुछ अब तो बात विचार।
जाएगा भाई! कहीं इस द्वन्द्व-युद्ध में हार।
इससे अच्छा है यही, झुक चरणों में एक बार।

किन्तु स्वाभिमानी बाहुबली ऐसे अवसरों पर चूकने वाले थोड़े ही थे। उन्होंने तत्काल कह डाला :

यदि भ्रातृत्व भरत में है तो मैं सुविनीत बाहुबल हूं,
यदि भाई! तू बने न पावक तो मैं शीतल ही जल हूं,
... ...

रक्तपात का कारण है तू क्यों देता है दोष मुझे।
इतनी ही वत्सलता थी तो यहां आना था नहीं तुझे।

श्रीमन्तों और सत्ताधीशों के अपने बड़प्पन का नशा होता है और वे सब को ही अवगणित कर अपने अनुशासन में रखना चाहते हैं। उनकी अनुभूतियां, कार्य-विधियां और तौर-तरीके भी उसी प्रकार के होते हैं। चूंकि भरत का चक्रवर्ती बनने का स्वप्न था, अतः वह प्रत्येक व्यक्ति से व बाहुबली से भी यही आशा रखता था :

छोटे को तो झुककर ही रहना होगा।
आजीवन यह अनुशासन सहना होगा।
... ...

माना वपु-बल है प्रबल बाहुबल तेरा।
पर आखिर तू छोटा भाई है मेरा।

बाहुबली की अनुभूति हो रही थी 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।' जब भरत चारों ही द्वन्द्व-युद्धों में पराजित हो गये तो झल्लाकर अपना अन्तिम शस्त्र चक्र बाहुबली पर उठा लेते हैं। बाहुबली के मुंह से

सहसा निकल पडता है :

हार पर सा हार, अब भी जरा सकुचाता नहीं,
पथ-भ्रष्टों के पतन का अन्त है आता नहीं,

अजेय चक्र को अपने पर आते हुए देखकर बाहुबली का धैर्य तनिक भी नहीं डोला। उस समय भी उनका यही उद्घोष था :

दुष्टता के सामने, कब भी झुकूंगा मैं नहीं,
अटल है संकल्प मेरा, दृढ़ प्रतिज्ञा है यही,
लोह के इस चक्र से तू क्या डराता है मुझे ?
ले खड़ा, तैयार करले जो भी हो करना तुझे।

तू नहीं कुछ कर सका तो, क्या करेगा चक्र भी ?
दण्ड से कर चूर्ण, अम्बर में उड़ादूं क्या अभी ?
तू कहे तो गाड़ दूं मैं लात से पाताल में,
तोड़कर अर एक-एक उछाल दूं तत्काल में।

अनिलवेग समान ही क्या है मुझे तू जानता ?
बाहुबल के प्रबल बल को, क्यों नहीं पहचानता ?
वकुलिका वह जल गई, पर जल नहीं सकती सती,
याद कर अब भी भरत, इतिवृत्त तू अथ से इति।

बारह वर्ष तक भयकर युद्ध लडा, पर बाहुबली कभी आक्रान्त नही बने। सभी युद्धो मे विजय बाहुबली के हाथ लगी तो भरत छटपटा गये और न्याय-नीति को भूल गये। असफलता व्यक्ति को विवेक शून्य बना देती है। भरत के अन्यायों को सहन करते हुए बाहुबली भी चरम सीमा तक पहुच गये और कौरव-पाण्डव युद्ध में श्री कृष्ण के प्रतिज्ञा-भंग की तरह केवल अपनी मुट्ठी को ताने भरत की ओर बढ गये :

सहते-सहते अन्यायों को धीरज का धागा टूट गया,
मुट्ठी को तान बढ़े आगे मानो अन्तर मन रूठ गया,
रे ! नीति भ्रष्ट अग्रज ! तेरा दुष्कृत्य चरम सीमा पर है,
इस जड़ रथांग से भी बढ़कर तू आज बन रहा बर्बर है।

क्रोधोद्धत बाहुबली को बढते हुए देखकर ऐसा लगता था :

मंदराद्रि विचलित हुआ अविचल धृति को छोड़।
मानो अम्बुधि अवनि पर झपटा सीमा तोड़।
महा भयंकर रूप से प्रकुपित हुआ कृतान्त।
लगता ऐसा सन्निकट है अब तो कल्पान्त।

घर्र्र्र् थर्राती धरा कम्पित है शशि-अर्क।
नीली झांई व्योम पर देख अनिष्ट उदर्क।
विश्व-स्थिति का निकट अब लगता है अवसान।
लुटने को है आज इस मानवता का मान।
दशों दिशाओं में तुमुल भीषण हाहाकार।
होने वाला है अभी, अभी भरत-संहार।

संघर्ष और स्नेह; दोनो का उत्पत्ति केन्द्र एक ही है और वह आत्मीयता है। जो जितना समीप होता है, वही उतना दूर हो सकता है और दूर होने पर भी वहां समीपता का एक ऐसा अदृश्य बन्धन होता है कि कालान्तर में वह दूरत्व सिमट कर स्वतः अपने मूल केन्द्र पर पहुच जाता है। भरत और बाहुबली के बीच अत्यन्त घनिष्टता थी, पर साम्राज्यवादिता और स्वाभिमान ने उन दोनों के बीच ऐसी दीवार खड़ी कर दी जैसे कि दो आंखों के बीच नाक होता है। रण-भूमि में दोनों ही विजिगीषु थे और पूर्ण आयास से एक-दूसरे को पराजित करने पर जुटे थे। किन्तु बाहु-युद्ध के समय जब बाहुबली ने भरत को पांव पकड़ कर जोर से घुमाया और आकाश में उछाल दिया तो उसके अनन्तर उनका हृदय भ्रातृ-स्नेह से भर आया। चरम सीमा पर पहुंचा हुआ संघर्ष सहज स्नेह की भूमि पर उतर आया। उनकी आह निकली

कुछ भी हो ऐसा करना था मुझे कदापि उचित नहीं,
ऊंचे अम्बर से गिर कर, यह मर जायेगा अगर कहीं,
किसका होगा मुह काला ?

भाई की वेदना से पराभूत होकर बाहुबली के कदम भरत की सुरक्षा के लिए स्वतः बढ़ जाते है और वहां भ्रातृ-स्नेह साकार हो उठता है :

बाहुबली ने व्यथित हो, यों बहुत कुछ चिन्तन किया,
व्योम से गिरते भरत को पाणि-पल्लव में लिया,
उस समय बेभान संज्ञा-शून्य, वे निष्प्राण से,
ज्यों गिरा हो विहग कोई विद्ध होकर बाण से,

सुला करके गोद में, झल रहे पंखा वसन से,
बह रही है अश्रुधारा बाहुबल के नयन से,
अरे भाई ! खोल पलकें, झांक मेरी ओर तू,
लिख मेरे हृदय को अब बना हर्ष-विभोर तू।

विजेता के मन में उन्माद और विजित के मन में हीनता का होना स्वाभाविक है। जो इन दोनों से ऊपर उठता है, वह वास्तविक विजेता होता है।

विजेता के लिए उन्माद से पराङ्मुख होना सहज है, पर ऐसा होता नहीं। वह तो विजित को अवगणित कर अपने को और अधिक गौरवशाली बनाने का प्रयत्न करता है। बाहुबली के समक्ष भी यही स्थिति थी, किन्तु वे इसके प्रतिवाद सिद्ध हुए। जब वे दृष्टि-युद्ध और वाग्-युद्ध दोनों में ही विजयी हुए तो उन्होंने भरत की अवमानना नहीं की; अपितु धैर्य बन्धाते हुए कहा :

बोल उठे बाहुबल, भाई ! क्या यों होती विजय कहीं ?
जब तक हम अपना-अपना दिखलायेंगे तन-शौर्य नहीं ?
पलकों में, रसना में, क्या है ? ये तो यों ही थकती हैं,
नहीं अस्थियां इनमें होतीं, इधर-उधर हो सकती हैं।

प्रतीक्ष्यमाण सैनिक रण-रेखा पर जब तक डटे रहते हैं, दृश्य कुछ और होता है तथा जब रण-भेरी बज उठती है तो पट-परिवर्तन हो जाता है। फड़कने वाली भुजाओं के द्वारा चमकने वाले करवाल और भाले क्षणों में ही लहूलुहान हो जाते हैं। आहव के आरम्भ का संक्षेप में कितना सुन्दर चित्रण हुआ है :

भिड़े हाथियों से हाथी, घोड़ों से घोड़े, रथ से रथ।
पैदल से पैदल आपस में मचा रहे भीषण कलमथ।
मार-काट मच गई क्षणों में, बने वीर राक्षस विकराल।
मानो रण-प्रांगण में, ताण्डव नृत्य कर रहा काल कराल।
... ...
मार डालो, काट डालो, कर रहे थोगाज यों।
झपट पड़ते सैनिकों पर, पंखियों पर बाज ज्यों।

युद्ध निरत सैनिकों का कहीं साहस न टूट जाये, "इसलिए उनके बीच खड़े होकर कवि कहा करते थे : जिते च प्राप्यते लक्ष्मी, मृते चापि सुरांगना—यदि विजयी हो गये तो तुम्हारे घर में छप्पर फाड़कर धन बरसेगा और यदि युद्ध में काम आ गये तो सुर-बालाएं वरमालाएं लिए तुम्हारी प्रतीक्षा कर ही रही हैं। जिस ओर भी तुम बढ़ गये, धन्य हो जाओगे। कायस्स वियाघाये संगाम सीसे'—शरीर का विनाश करना ही संग्राम का अग्र स्थान अर्थात् विजय है।

विशरारुभिरविनश्वरमपि चपलैः स्यात्सुवाञ्छतां विशदम्।
प्राणैर्यदि शूराणां भवति यशः किं न पर्याप्तम् ?

मनुष्यों के प्राण नश्वर और चंचल हैं। उन्हें देकर अनश्वर, स्थिर और

चित्र यश को लेने की इच्छा करने वाले वीरों को यदि प्राणों के बदले यश मिलता है तो क्या वह प्राणों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् नही है ?[1]

इस प्रकार की उक्तियां रण-रेखा पर डटे हुए योद्धा और मुमुक्ष का पौरुष तनिक भी क्षीण नही होने देती। किन्तु युद्ध की उपलब्धियों में क्या वैभव यश, या स्वर्ग को ही मुख्य मान लिया जाये ? विजयी यह गर्व कर सकता है कि उसने प्रतिपक्षी को परास्त कर दिया है, पर उसकी इस गर्वोक्ति के महल के नीचे कितने खण्डहर, नर-मुण्ड, कितनी अबलाओं और शिशुओं की चीत्कार, कितने माता-पिताओं की आह और कितने वीर योद्धाओं की समाधि होती है । जब सम्राट् अशोक ने कलिंग-विजय के बाद माता से आशीर्वाद पाने के लिए उसके चरणो में सिर झुकाया तो विखिन्न राज-माता ने अपने विजयी पुत्र से एक ही वाक्य में कितना मर्मस्पर्शी कहा था—'अशोक ! तेरे इस विजयोल्लास के पीछे कितने अगणित व्यक्तियों की मायूसी है ।' उस एक ही वाक्य में युद्ध की सारी उपलब्धियों का चित्र खिंच जाता है । प्रस्तुत काव्य में युद्ध का जहां उत्कृष्ट चित्रण हुआ है, वहां उसकी उपलब्धियों का भी मार्मिक चित्रण हुआ है, जो युद्ध के अनन्तर मानवता को उद्दीप्त करता है :

> इस अवधि में क्या पता, कितना हुआ घमसान है,
> हन्त ! कितने स्वर्ग से घर हो गये श्मशान हैं,
> वीर, योद्धा, सुभट कितने सर्वदा को सो गये,
> हाय प्राणों से यशस्वी हाय ! कितने धो गये ।
> ... ...
> हा ! करोड़ों सर्वाणियों का लुटा भाग-सुहाग है,
> अरे ! मानव कब मिटेगा यह चिरन्तन दाग है,
> खेद ! कितने बाल-बच्चे पितृ, भ्रातृ-विहीन हैं,
> हुआ कितनों का कुल-क्रम इस समर में क्षीण है ।
> ... ...
> लिए मन मे कल्पनाएं काल्पनिक कितने मरे,
> किन्तु री ! रण-चण्डिके खप्पर नहीं तेरे भरे,
> कवि गये कितने कि जिनकी, कौन अब गणना करे,
> दार्शनिक, मर्मज्ञ, कोविद क्षत हुए कितने अरे !
> ... ...
> साथ उनके हो गई कितनी कलाएं सुप्त हैं,
> युद्ध की भारी क्षति यह क्या किसी से गुप्त है,

---

1. सूत्रकृतांग सूत्र-टीका, श्रु० १, अ०२, उ०२, गा० ६

देखते ही अमित जन-धन का हुआ संहार है,
हाय ! फिर भी रक्त की प्यासी खड़ी तलवार है।

प्रस्तुत काव्य जहा नाना रसधाराओं को प्रवाहित करता हुआ कथा-वस्तु को आगे बढ़ाता है; वहां स्थान-स्थान पर नीति-वाक्यों की अमृतधारा में पाठक निमज्जित होता हुआ अपूर्व रस-सृष्टि करता है:

राज्य और पद-यश की लिप्सा सारा भान भुलाती।
क्या जाने मानव से कितने यह अनर्थ करवाती।
... ...
'मैं' की ही यह अकड़-पकड़ है जननी संघर्षों की।
हा ! हा ! जलती रहती इसमें होली आदर्शों की।
... ...
यहां पर कोई भी है अपना नहीं,
फिर भी चेतन तू करता है तेरा-मेरा।
मिलते तारे शशि से रात में,
कोई पास न आता जब हो गया सबेरा।

कवि स्रष्टा होता है। वह मूक में मुखरता, अचल में गतिमता व जड़ में चेतनता का अध्यारोप सहज ही में कर लेता है। उसकी सृष्टि के प्रकार भी भिन्न ही होते हैं। वह वन्य-जन्तुओं की तरह दहाड़ता, चिंघाड़ता व किलकारियां भरता हुआ घूम-घूम कर काननीय सुषमा का आनन्द नहीं लूटता, पर अपने एकान्त आवास में बैठा हुआ अरण्य के समस्त पशुओं, गिरि व गुफाओं, लता व वृक्षों की सुषमा को वर्णों में आबद्ध कर स्व-पर के आमोद का सर्जक हो ही जाता है। प्रत्येक सिद्धहस्त कवि उन मूक प्रतीकों के माध्यम से ही अपनी आन्तरिक अनुभूतियों की सजीव सृष्टि कर समाज को उसमें सहज समाहित कर लेता है। प्रकृति-चित्रण, विपिन, शहर, सर, सरोरुह, शिखर-वर्णन आदि काव्य के प्रमुख अंग बन जाते हैं और कोई भी महाकवि उनकी उपेक्षा नहीं करता। 'भरत-मुक्ति' काव्य भी इसका अपवाद कैसे हो सकता था ! विभिन्न ऋतुओं का वर्णन कितना सजीव बना है कि उसमें प्रयुक्त विभिन्न वर्ण जैसे कि विभिन्न रंगों का परिधान पाकर श्रव्य भी दृश्य चित्र का अनुभव प्रस्तुत कर देते हैं :

सहकारों पर पिक कू-कू कूज रही है,
पुष्पों पर मधुप-मण्डली गूंज रही है,
सम समय परीषह मुनि को अधिक नहीं है,
हो रही पल्लवित, पुष्पित फलित मही है,

तूलिका का ऐसा सहारा मिला है कि उसने सहसा एक नया मोड़ पा गया है और वह अपनी वास्तविकता के चरम छोर तक पहुंच गया है। कवि का अपना प्रिय रस शान्त रस है और यह उनकी प्रत्येक कृति से टपक पड़ता है।

क्रुद्ध बाहुबली जब भरत को आहत करने को दौड़ते हैं तो सहसा मनोभावना बदलती है और उनका चिन्तन होता है :

मैं अपनी 'मैं' में भूल गया,
हा ! सारी सुध-बुध भूल गया,
पी मादक मोहमयी हाला,
हा ! मैंने यह क्या कर डाला।

उत्तररामचरित[1] में कहा गया है :

एको रस : करुण एव निमित्तभेदाद्।
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्॥

करुण रस का अन्तिम परिपाक विलाप या शान्त रस है। जहां वह आंखों में अश्रुधारा उद्वाहित कर सकता है, वहां यह निर्वेद के अन्तिम छोर तक भी पहुंच सकता है। किन्तु वीर रस को अंगी रस मानकर चलते हुए उसे एक करवट देकर उसके परिपाक के रूप में शान्त रस की मन्दाकिनी बहा देना कुशल तूलिका का ही चमत्कार होता है। भरत और बाहुबली के युयुत्सु सैनिक सूर्यास्त के अनन्तर अपने-अपने पक्ष के मृत सैनिकों के शवों को एक ओर डालकर रणक्षेत्र की सफाई करते हैं तो उस समय के चित्रण से प्रस्तर-हृदय मानव भी सहसा निर्वेद के अन्तिम छोर तक पहुंचे बिना नहीं रह सकता। कवि के इन शब्दों में निर्वेद का कितना सजीव और सुन्दर प्रस्फुटन हुआ है :

जो थे सब के सम्मानित जन जिनकी पूजा करते।
छिन्न-भिन्न होकर शस्त्रों से त्राहि-त्राहि कर मरते।
जो मस्तक था मनन शक्ति का अक्षय भरा खजाना।
है दयार्द्र दिल देख-देखकर गीधों से नोचा जाना।

जिस हृदय स्थल में कितनों का स्नेह भाव था रहता।
खा रहे कौए, कुत्ते, रह-रह शोणित बहता।
जिन आंखों में तेज तरुण था, अरुण ओज की रेखा।
चोंचें मार रही है चीलें दारुण यह दृश्य न जाता देखा।

---

1. अंक ३, श्लोक ४७

हृष्ट-पुष्ट सुन्दर वपु जिस पर थे मन स्वतः लुभाते।
काट-काट पैने दांतों से उसको जम्बुक खाते।

जिनके जन्मोत्सव पर थी घर-घर में मंगल माला।
पड़ा सड़ रहा है उनका शव कौन जलाने वाला।

फूलों की सुखमय शय्या में थे जो रंग रचाते।
टुकड़े-टुकड़े हो उनका शव हाय ठोकरें खाते।

अनशन जैन धर्म की ही एक ऐसी प्रवृत्ति है जो व्यक्ति को जीवन और मृत्यु से निरपेक्ष बनाती है और आत्मा को अनासक्त भाव में आरोहित करती है। जैन आगमों का यह घोष रहा है : णो जीवियं अभिकंखेज्जा णो मरणावकंखी—व्यक्ति जीवन और मरण का आकांक्षी न हो। यही निरपेक्षता वास्तविक अध्यात्म है। इस उक्ति में आत्म-हत्या व ज्यों-त्यों जीते ही रहने की आकांक्षा से पराङ्मुख रहने की प्रेरणा है और यह अनशन की ही स्थिति है। जैन धर्म में इसे विशेष महत्त्व दिया है। प्रतिवर्ष अनेक श्रमण व श्रमणोपासक (श्रावक) अनशनपूर्वक ही समाधिस्थ होते हैं। प्राकृत रिसर्च इन्स्टीच्यूट (वैशाली) के डाइरेक्टर डा० नथमल टांटिया ने बताया—धर्मानन्द कोसाम्बी पाली भाषा के अद्वितीय विद्वान् थे। वे पन्द्रह वर्ष ब्राह्मण रहे और साठ वर्ष बौद्ध। पचहत्तर वर्ष की अवस्था में जब शरीर अतिशय कृश हो गया और काम का नहीं रहा, तब उन्होंने सोचा कि शरीर को कैसे छोड़ा जाये! खोज करने पर भी बौद्ध धर्म में ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं मिला, तब उन्होंने कहा—मैं अब जैन की मौत मरना चाहता हूं। मुझे वह अनशन ही पसन्द है। वर्धा आकर अनशन किया। बहुत प्रसन्नता से हंसते-हंसते वीरता से मरे।

महात्मा गांधी ने वीर मृत्यु के इस प्रकार पर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था : "क्या ही अच्छा हो मैं भी इसी प्रकार मरूं।"

प्रस्तुत काव्य में आचार्य श्री तुलसी ने अनशन का सुन्दर विश्लेषण करते हुए, उसके विरुद्ध उठने वाले प्रश्नों का तार्किक निरसन किया है :

वीरवृत्ति अनशन है इसमें कायरता का नाम नहीं,
त्राहि-त्राहि कर रो-रो मरना यह वीरों का काम नहीं,
आखिर तो तन छूटेगा ही फिर क्या इससे करना प्यार,
अवसर आने पर कर अनशन, क्यों न निकाला जाये सार।

इसे मानते आत्म-पतन जो वे करते हैं दुहरी भूल,
हनन नहीं इसमें; आत्मा तो जाती अभिनव सुख में झूल,
यों ही जीव अनन्त जन्म ले तड़फ-तड़फ मर जाते हैं,
(पर) आत्म-विजय की इस वेदी पर विरले प्राण चढ़ाते हैं।

आज तो सक्षम जीवन मे, मरणं समाधि-मरण सोल्लास,
यही भावना साधक के जीवन मे रहती है प्रति सांस,
अनशन युक्त मरण साधक-जीवन-मन्दिर पर ध्वजा समान,
है सौभाग्य बड़ा ही उसका जिसे प्राप्त हो यह अभिमान।

महाकवि कालीदास के काव्यों मे पद-लालित्य, भाषा-माधुर्य व अभिव्यंजना की स्पष्टता के साथ-ही-साथ उपमाओ का सर्वथा नवीकरण व उदात्तीकरण प्रसिद्ध है। इन सब विशिष्टताओं के समवायीरूप के कारण ही संस्कृत साहित्य में वे काव्य सर्वोच्च बन सके हैं। उपमा काव्य का एक विशिष्ट गुण है और यह कविजगत में सर्वत्र सम रूप से सुलभ भी नही है। अधिकांशतः कवयिता अपने उपमेय को प्रकृति के वरद पुत्र पुष्प, पादप, पत्र, पर्वत, लता, गुल्म आदि से उपमित करता है, किन्तु ऐसे उदाहरण विरल ही होते हैं, जहां दार्शनिक व सैद्धान्तिक मन्तव्यों के माध्यम से उपमेय को अभिव्यंजित किया जाता है। इस कार्य मे कवयिता को साहित्यिक सिद्धहस्तता के साथ दार्शनिक व सैद्धान्तिक गहरे ज्ञान की भी पारगतता आवश्यक होती है। इसीलिए बहुत सारे कवि तो यह मानकर भी चलते हैं कि साहित्य और दर्शन के तो मार्ग भिन्न-भिन्न है। किन्तु यह मान्यता वास्तविकता से परे है। दर्शन-शून्य साहित्य तथा साहित्य-शून्य दर्शन की कोई विशेष उपलब्धि नहीं हो सकती। प्रथम शैवाल की तरह ऊपर ही तैरता रहता है तो दूसरा आत्मसात् नही हो पाता। दर्शन से अनुप्रेरित कविता अपने सौन्दर्य मे दुगुना निखार ले आती है और कमनीया होकर जन-मानस को आकर्षित करती है। आचार्य श्री तुलसी के काव्य प्राकृतिक उपमाओं से जहां पाठक को विशेष आह्लादित करते है, वहा दार्शनिक उपमाओं के अजस्र प्रवाह मे भी उसे इस तरह बहा ले जाते है कि दर्शन और साहित्य की भिन्नता ही वहां समाप्त हो जाती है :

हर्षोत्सव है इधर तो, उधर विषाद विशाल।
ज्यो मेरु के उभयतः है प्रकाश, तम-जाल।

... ...

क्योंकि भरत के घोष का हीयमान था स्याम।
गिरते उपशम श्रेणी से ज्यो मुनि के परिणाम।

... ...

ज्यों रहते मिथ्यात्व के सिद्धि नहीं साकार।
बाहुबली जीते बिना विश्व-विजय निस्सार।

... ...

एक पुद्गल दृष्टि मानो ध्या रहे मुनि ध्यान ज्यों,
क्षपकश्रेणी प्राप्त करते ध्यान में गलतान ज्यों।

मुहावरा और लोकोक्तियां भाषा का शृंगार होती हैं। वाच्य की अभिव्यक्ति उपयुक्त शब्दों का साहचर्य पाकर निहाल हो उठती है तो लोकोक्तियों का उत्संग पाकर कृतकृत्यता का अनुभव करती है। साधारण बोल-चाल में भी जब लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग होता है, वह श्रुति-माधुर्य के साथ-साथ अत्यन्त आह्लाद का भी जनक हो जाता है। किन्तु काव्यों की शृंखला में आबद्ध होकर तो वे मणि-काचन का योग प्रस्तुत कर देते हैं। प्रस्तुत काव्य में इसका असाधारण प्रयोग कवित्व की कमनीयता में चार चांद लगा देने वाला है।

जैसी करनी वैसी भरनी
... ...
शूल के बदले में फूल
... ...
नभ से बातें करते थे
... ...
सब उछल रहे थे बांसों
... ...
दिए तले अन्धेरा है
... ...
सोलह आना बात सही
... ...
सचमुच ही है टेढ़ी खीर
... ...
इधर व्याघ्र तो उधर तटी है
... ...
है दिन दूना रात चौगुना
... ...
क्षीर-नीर का न्याय
... ...
नौ-दो ग्यारह हो गये
... ...
प्रथम कवल में मक्षिका
... ...

पिता जैसा पुत्र होता

... ...

नमक बिना सब भोज्य अलोने

... ...

जो चढ़ता है, वह गिरता है

... ...

दर्द शान्त हुआ पुराना क्या पुनः खुजली चली ।

... ...

पथ-भ्रष्टों के पतन का अन्त है आता नहीं ।

काव्य जहा अपने अन्तस्तल मे अनेक मौलिकताओ को समाहित किये
ा है, वहा यह कवयिता की सार्वत्रिक मनीषा का दिग्दर्शन भी कराता है ।
-स्थान पर आर्ष-उक्तियों का ललित प्रयोग काव्यच्छटा के साथ ही शास्त्रो
रम्य सरोवर की परिक्रमा भी करा देते है ।

आखिर अपना हित अपने से
शान्त गुरु को चण्ड करता शिष्य जो उद्दण्ड है
क्षमा शूरवीरों का भूषण
धाय खिलाती बच्चे को, पर होता अन्तर प्यार नहीं

इस युग मे हिन्दी संघर्ष की वेदी पर चढी हुई है । कुछ विद्वान् संस्कृत-
स्वरूप को ही उसकी मौलिकता स्वीकार करते हैं तो कुछ एक लोक-
हार मे प्रचलित उर्दू आदि भाषाओं के शब्द-प्रयोग से भी स्वरूप-हानि न
कर प्रत्युत अनिवार्य साज-सज्जा भी मानते है । आचार्य श्री तुलसी के
संस्कृत भाषा मातृ-भाषावत् है, तथापि वे लोकभाषा के स्वरूप मे विश्वास
ते हैं । उनके काव्यो मे उर्दू, अंग्रेजी आदि भाषाओ के अति प्रचलित शब्द
दी भाषा के अवयव होकर इस प्रकार व्यवहृत हुए है कि पाठक को सहसा
अनुभव भी नही होने देते कि हिन्दी भाषा के अतिरिक्त अन्य शब्दो का
यहां पारायण हो रहा है । 'भरत-मुक्ति' महाकाव्य भी इसका अपवाद नही

दर्शनीय था सुन्दर सीन
चोटियां हजारो फीट लम्बी
आओजी कर इनके चरण पकड़ते
सेना चढ़ी सजोश
हुए सभी खामोश

फरमाते प्रभु बेताना

एक प्रश्न के उत्तर में जिन फरमाते हैं

महाकाव्यों की परिभाषा में प्रत्येक सर्ग के लिए एक ही प्रकार के छन्द-प्रयोग की अनिवार्यता रखी गई है। संस्कृत भाषा व हिन्दी भाषा के अधिकांश महाकवियों ने इसी शैली का अनुसरण किया है। किन्तु आचार्य श्री तुलसी ने इस परम्परा में नया उन्मेष कर एक ही सर्ग में विभिन्न छन्दों के प्रयोग की परम्परा का श्री गणेश किया है। 'अग्नि परीक्षा' का अनुशीलन करने के अनन्तर डा० कन्हैयालाल सहल ने इस पद्धति का स्वागत करते हुए लिखा है—"शास्त्रीय छन्दों के साथ लोकलयाश्रित छन्दों का प्रयोग इस ग्रन्थ की अप्रतिम विशेषता है, जिसकी ओर सभी सहृदयों का ध्यान आकृष्ट होगा।"

कुछ एक रूढ़ विद्वानों को यह परम्परा अटपटी लग सकती है, पर भावी सन्तति के लिए यह राज-मार्ग का कार्य करेगी। एक ही प्रकार के छन्द-प्रयोग में लय की एकरूपता तो रहती है, किन्तु भावनाओं के आरोहण व अवरोहण का कार्य दुर्लभ पर्वतारोहण जैसा हो जाता है, जहां बहुत सारे पाठकों का भटक जाना भी अनिवार्य-सा हो जाता है। आचार्य श्री तुलसी ने इस परम्परा के प्रादुर्भाव से कवयिताओं व पाठकों के लिए सहज रस-निष्पत्ति का मार्ग प्रशस्त किया है।

महाकवि कालीदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल की रचना कर दुष्यन्त-पुत्र भरत को पौराणिक से साहित्यिक बना दिया है। ऋषभ-पुत्र भरत जैन और वैदिक; दोनों परम्पराओं में श्लाघ्यपुरुष होते हुए भी उस श्रेणी की साहित्यिक अनिर्वचनीयता नहीं पा सके। यद्यपि 'भरतेश वैभव' ऐसा काव्य था जो तत्समता तक पहुंच सकता था, पर परिस्थितियों की अनुकूलता न पा सकने के कारण सीमित जन-समुदाय को ही आकर्षित कर सका। भरत-बाहुबली महाकाव्य अभी तक अमुद्रित रह जाने के कारण विद्वद्वर्ग को प्रीणित नहीं कर सका। आचार्यश्री तुलसी ने भरत-मुक्ति महाकाव्य की रचना कर इस अभाव को भरा है। काव्य अपनी कमनीयता से जन-मानस को अपनी ओर खींच सकेगा और ऋषभ-पुत्र भरत को पौराणिक क्षेत्र से साहित्यिक क्षेत्र में पहुंचा सकेगा, इसमें सन्देह को अवकाश ही नहीं है।

तीर्थंकर ऋषभदेव, चक्रवर्ती भरत और बाहुबली आदि से सम्बन्धित श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पद्मानन्द महाकाव्य, ऋषभचरित्र, आदिपुराण, भरत-बाहुबली महाकाव्य, भरत-चरित आदि प्रमुख हैं। भरत-मुक्ति की रचना में उपरोक्त काव्यों, पुराणों तथा आख्यानों के साथ भरत-बाहुबली महाकाव्य भी विशेष सहायक रहा है। इस काव्य की छाप भरत-मुक्ति की रचना में स्पष्ट परिलक्षित होती है। भरत और

सम्पन्न कर मैंने अपनी मंजिल का एक लम्बा भाग तय कर लिया है।

'एक अध्ययन' का आकार अनुमान से भी अधिक विस्तृत हो गया। इसके कुछ प्रमुख कारण हैं। काव्य में संदृब्ध प्रसंग अपने में साहित्यिक आकार समेटे हुए हैं; अतः पूर्वापर घटनाएं वहां वर्णों का परिधान नहीं पा सकी। जैन और वैदिक; दोनों ही परम्पराओं में भरत पौराणिक पुरुष रहे हैं; अतः उनका जीवन घटना-संकुल होना स्वाभाविक ही था। प्रस्तुत उपक्रम में यदि उन घटनाओं का आकलन न हो पाता तो सामान्यतया पाठकों के लिए काव्य का सरस-आस्वाद श्रम-साध्य ही हो पाता; इसलिए ऐसा होने में आकार की विस्तृति नैसर्गिक थी ही। ऐसा करने में विविध ग्रन्थों का स्वाध्याय, वहां से उपयोगी सामग्री का चयन व उसे क्रम-बद्ध ग्रथित करने में कौशल आवश्यक था। किन्तु मैं तो यही मान कर आत्म-तृप्ति का अनुभव करता हूं।

नहि किञ्चिदपूर्वमत्र वाच्यं न च संग्रथन कौशलं ममास्ति।
अथ च न मे परार्थ चिन्ता स्वमनो भावयितुं कृतं मयेदम् ॥

वि० सं० २०१६, कार्तिक शु० १५ —मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'
हांसी (पंजाब)

प्रश्नों

दोहा

राजकीय वैभव अतुल, त्यक्त विपुल परिवार।
जन संकुल जय-रव तुमुल, आदिनाथ अनगार।

ध्वनिता वनिता छोड़कर, बीहड़ पथ स्वीकार।
मौनी मुनि बनकर चले, साथी चार हजार।

गीतक छन्द

धन्य आदीश्वर ! तपोधन ! धन्य युग अवतार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक ! साधना साकार है।

मार्गवर्ती बस्तियों के लोक उत्कण्ठित मना,
पास आ प्रभु-चरण छूकर, कर रहे अभ्यर्थना,
कर कृपा हम पर कृपालो ! ग्राम पावन कीजिए,
लीजिए कुछ भेंट, सेवा का सुअवसर दीजिए।
क्यों नहीं सुन रहे बाबा ! भक्तिपूर्ण पुकार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक ! साधना साकार है।

* मानो बाबाजी ! हम सबकी मनुहार,
मानो बाबाजी ! भेंट करो स्वीकार।

पांव तुम्हारे कितने कोमल,
फिर भी क्यों चलते हो पैदल ?
है तुरंग तैयार।

यह लो अत्युत्तम ऐरावत,
यह लो सुखारोह सज्जित रथ,
क्या कर रहे विचार ?

* लय—तोता उड़ जाना

लेते है प्रासुक आहार,
समणों का ऊंचा आचार है ।

औद्देशिक कीयगड ना लेते जल, अन्न वे,
मिलता मह्जैषणीय, उसमें प्रसन्न वे,
है ना निमन्त्रण स्वीकार,
समणों का ऊंचा आचार है ।

मधुकरी वृत्ति उनकी जग में प्रसिद्ध है,
जीवन की साधना हो लक्ष्य स्वयं सिद्ध है,
दूसरों पर बनते न भार,
समणों का ऊंचा आचार है ।

जीवन भर भिक्षु, पर वे भिक्षुक से भिन्न हैं,
योग में, वियोग में, प्रसन्न है, न खिन्न है
'तुलसी' वे सच्चे अनगार,
समणों का ऊंचा आचार है ।

सोरठा

कुछ विशिष्ट आचार, रखते है छद्मस्थ जिन ।
मौन-व्रत स्वीकार, रहते निस्पृह रात दिन ।

मुक्तक छन्द

स्थान आज्ञा और असन-गवेषणा,
किया करते पन्थ पृच्छा भी कभी,
तुम कौन? का उत्तर यही, मै श्रमण हू,
और वे कुछ बोलते है ही नहीं ।

गीतक छन्द

नहीं देते है कभी आदेश व उपदेश भी,
नहीं करते याचना चाहे पड़े संक्लेश भी,

नहीं दीक्षित शिष्य करते सर्वदा सद्ध्यान में,
स्वानुकम्पी व्रत विचरते हैं, स्व-लक्ष्यादान में।

दोहा

लोक न देना जानते, नहीं मांगते आप।
अनशनमय हो चल रहा सारा क्रिया-कलाप।

लगा बीतने यों समय, माथी चार हजार।
करते हैं सारी क्रिया श्रीवृषांक अनुसार।

कहो, कहां तक चल सके देखा देखी योग।
मिले न जब तक आन्तरिक स्फुरणा का संयोग।

गीतक छन्द

क्षुब्ध होकर के क्षुधा मे विलखते पानी बिना,
शिष्य सारे सोचते हैं क्या बला यह साधना ?
क्या करें ? भूखे मरें ? कुछ समझ में आता नहीं,
पूछने पर मौन बाबा, मार्ग बतलाता नहीं।
एक पीछे एक सारे हो गए यों पार हैं।
धन्य जीवन-मुक्त साधक ! साधना साकार है।

* कदाहारी मूलाहारी,
कोई बन गए फलाहारी,
वनवासी, सन्यासी, योगी,
रुद्राक्षी और जटाधारी,
कुछ हुए त्रिदण्डी, एक दण्ड,
अद्वैत, द्वैत अव्यवहारी,
अपने-अपने सिद्धान्त किये,
स्थापित बनकर सुविधाचारी।

दोहा

गृहत्यागी, उदरम्भरी, पृथक्-पृथक् पथ प्राप्त।
प्रसरित तब से विविध मत, स्वार्थ-साधना व्याप्त।

विनय और अज्ञान मत, क्रिया-अक्रियावाद।
युगारम्भ में हो प्रखर बढ़ते चले विवाद।

सोरठा

प्रभु उन्नत आदर्श, पुर-पुर घर-घर घूमते।
बीता पूरा वर्ष, मिली नहीं भिक्षा कहीं।

गीतक छन्द

स्वच्छ नभ रवि-रश्मियों का सुखद स्वागत कर रहा,
[1] सोम-सुत श्रेयांस अपने स्वप्न को था स्मर रहा,
कौन-सा यह है सुमेरु? कौन-सी वह है सुधा?
मरु में सिञ्चन कहां? क्या कल्पना होगी मुधा?
किन्तु लगता, दिव्य इस शुभ स्वप्न में कुछ सार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक! साधना साकार है।

हस्तिनापुर राजपथ में इधर प्रभुवर आ रहे,
देह दुर्बल, दीप्त चेहरा, भव्य जन-मन भा रहे,
देखकर श्रेयांस ऊहापोह करता स्मित-मना,
प्राप्त जाति स्मरण जागी हृदय उत्कट भावना।
हो गये सारे नये, प्राचीनतम संस्कार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक! साधना साकार है।

---

[1] बाहुबली का पुत्र सोमयश

दोहा

उतरा झट प्रासाद से, कर वन्दन विधि-युक्त।
किया नम्र अनुनय विभो! लो भिक्षा उपयुक्त।

सुन प्रपौत्र की प्रार्थना, प्रभु कर कृपा महान।
प्रांगण को पावन किया, आदीश्वर भगवान।

* बड़े भाग्य सौभाग्य हमारे घर आए भगवान रे।
हो जाएं कृतकृत्य देव को दे हाथों से दान रे।

स्वर्णिम सूर्य उदित है प्रमुदित नयनाम्बुज विकसाने,
मानो क्षीर सिन्धु लहराता आया प्यास बुझाने,
मन वाञ्छित, सिद्धि सदन जाने को मिली सुगम सोपान रे,
हो जाएं कृतकृत्य देव को दे हाथों से दान रे।

दाता, देय, पात्र तीनों का सहज मिला यह मौका,
हृदय-जलधि का ज्वार हर्षमय, रुका न रहता रोका,
रह-रह कर उठती तरुण तरंगें, है उमंग असमान रे,
हो जाएँ कृतकृत्य देव को दे हाथों से दान रे।

चिरकालीन सुकृत का शुभ फल, फली कामना सारी,
आज हमारे मन उपवन की फूली क्यारी-क्यारी,
चित्त चातक है उत्फुल्ल देखकर श्यामल मेघ-वितान रे,
हो जाएं कृतकृत्य देव को दे हाथों से दान रे।

धन्य हुए हम, धन्य घड़ी है धन्य सुमंगल बेला,
नस-नस नाच रही है मानो अमृत आज उंडेला,
किन शब्दों में हम व्यक्त करें जो 'तुलसी' हर्ष महान् रे,
हो जाएं कृतकृत्य देव को दे हाथों से दान रे।

* करो अब करुणा हे करुणेश !
तारो तारो पार उतारो, काटो भव-भव क्लेश।
करो अब करुणा हे करुणेश !

दीर्घ तपस्वी ! विमल यशस्वी !
वर वर्चस्वी ! दिव्य मनस्वी !
तेजस्वी ! अखिलेश !
करो अब करुणा हे करुणेश !

जो लेना है, लोक न देते,
जो जन देते, आप न लेते,
घूमे देश प्रदेश,
करो अब करुणा हे करुणेश।

सफल हमारी स्वप्निल आशा,
आत्म-तुष्टि की जो अभिलाषा,
पूर्ण हुई प्राणेश !
करो अब करुणा हे करुणेश !

इक्षु रस से कुम्भ भरे हैं,
ये लो प्रासुक शुद्ध धरे हैं,
वीराग ! विद्वेष !
करो अब करुणा हे करुणेश !

द्योतक छन्द

पूर्ण रूप गवेषणा कर मान सविनय प्रार्थना,
सदा अञ्जलि पाणि-पुट पर कर रहे प्रभु याचना,
उभय कर से कुम्भ से धेयास देता दान है,
पारणा हुई वर्ष तप का, अमृत अब भगवान है।

---

* अब—हमारा प्यारा राजस्थान

द्वितीय सर्ग

द्वितीय सर्ग

दोहा

एक वर्ष तक अन्न-जल का न मिला संयोग।
क्या कारण है ? श्रीऋषभ लगा रहे उपयोग।

सोरठा

मेरे संचित कर्म, ही आए मेरे उदय।
इसका अन्तर मर्म, कौन जान पाए कहो ?

* सारे विश्व को सताती कैसी कर्म की कथा ?
अद्भुत दृश्य है दिखलाती कैसी कर्म की कथा ?

बात-बात में ही प्राणी कर लेता है पाप,
कौन सोचता है इससे क्या होगा संताप ?
जैसी करनी वैसी भरणी यह पुरानी है प्रथा,
सारे विश्व को सताती कैसी कर्म की कथा ?

फूल के बदले में फूल मिलते हैं नहीं,
आक बो, सहकार कभी भी मिलते हैं नहीं,
जैसा मिलता है अनुभाग फलती कर्मों की लता,
सारे विश्व को सताती कैसी कर्म की कथा ?

पाप के कर काम, चाहते शुभ परिणाम हैं
कांटों में हाय ! कैसा निर्दय राम है,
अपनी कृतियां भूल, दोष देते औरों को वृथा,
सारे विश्व को सताती कैसी कर्म की कथा ?

कर्म-बन्ध टूटने का [illegible] विकल्प है
साधना, तपस्या से [illegible] अन्त है.

* [illegible]

किए जैसे वैसे भोगने पड़ेंगे अन्यथा,
सारे विश्व को सताती कैसी कर्म की कथा ?

आदिदेव को भी कष्ट कर्मों ने दिया,
वर्ष भर की भूख, कैसा बदला है लिया ?
महापुरुषों की यह बात, फिर क्या औरों का पता ?
सारे विश्व को सताती कैसी कर्म की कथा ?

* जब युग ने करवट बदली थी,
नव संस्कृति का नव स्रोत बहा,
भोले-भाले सीधे सादे
मानव थे कितने सरल अहा !
उस समय पिताजी थे कुलकर
श्रीनाभि यशस्वी जन नेता,
उनकी आज्ञा ने बना दिया
तब मुझे लोक-पथ निर्णेता।

साधारण से भी साधारण
बातों में जाते लोक उलझ,
कैसे खाना, पीना रहना,
इतनी भी उनमें थी न समझ,
जीवन का कैसे यापन हो ?
यह सबसे बड़ी पहेली थी,
कुछ हुआ कि भाते दौड़-दौड़,
उनकी यह निश्चित शैली थी।

या कभी-कभी मैं थक जाता
उनको समझाता-समझाता,
व्यवहारिक लोक-व्यवस्था की,
असि, मषि, कृषि साधन के द्वारा,
रहना होता था व्यस्त मुझे
मिलता न एक क्षण छुटकारा।

पूरा अभाव था शिक्षा का,
प्रायः जनता मे थी जड़ता,
सामाजिक नीति चलाने के
नाते सब कुछ करना पड़ता,
इस उधेड़बुन मे ही कोई
मेरे से हुई बड़ी गलती,
सम्भव आई बन अन्तराय
वह गलती ही फलती-फलती।

* एक दिन आए थे, मिलकर कुछ कृषिकार।
समस्या लाए थे, मिलकर कुछ कृषिकार।
आकर के करने लगे वे अपनी करुण पुकार।

हमने बाबा! आपकी ही आज्ञा के अनुसार।
समतल भू पर हल चलाकर खेत किए तैयार।

बीज व्यवस्थित रूप से ही बोए थे इकसार।
थोड़े दिन में बढ़ बने वे पौधे रम्याकार।

जब दाने पड़ पक गए तो काट लिए करतार।
खलिहानों में ढेर अब सब खाते हैं सरकार।

* [illegible]

ऐसी स्थिति में अब करना क्या चाहिए ?
बैलों को मरने से ज्यों-त्यों बचाइए।
भूखों मरते बेचारे कराहते हैं।

* 'छींकी खोलो या नहीं ? रे ! मैंने कहा विचार',
'कहा खोलने का हमें कब ? है जीवन आधार',
एक दिन आए थे, मिलकर कुछ कृषिकार।

जाओ झटपट खोलदो रे ! यही सही उपचार,
छोटी सी इस भूल में हा ! हुआ अनर्थ अपार।

† यह छींकी रही घड़ी बारह
मेरा पापों के ही कारण,
इसका ही फल बारह महीने
ना मिला अन्न-पानी का कण
यह श्रेष्ठ हुआ मेरे [illegible] पर
जो ऋण था सारा उतर गया,
वह अन्तराय का दृढ़ बन्धन
इतने में ही था बिखर गया।

दोहा

[illegible]
[illegible]

* [illegible]
† [illegible]

तुच्छ-सी स्खलना हुई जो सहज सरल स्वभाव से,
कष्ट कितने मिले कटुतर अन्तराय-प्रभाव से,
तो भला जो क्रूर हों, अन्याय करते हैं अहो!
है द्रवित दिल अन्त उनकी क्या दशा होगी कहो?
अतः समता सदा 'तुलसी' शान्ति का आधार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक! साधना साकार है

तृतीय सर्ग

* ऋषभेश्वर द्वारा संस्थापित सरयू के तट पर अभिराम,
सांगोपांग स्वीय वैभव से सज्जित नगरी वनिता नाम,
अखिल विश्व को मिला जहा से एक अलौकिक नया प्रकाश,
मुक्त कण्ठ से आज गा रहा जिसकी गुण गाथा इतिहास।

प्राप्त हुआ है महापुरुषों को जन्मभूमि बनने का श्रेय,
जिसकी अवनि मे अवतरित हो गए है अगणित श्रद्धेय,
अनुपम नैसर्गिक सुषमा मे जिसका गौरव निखर रहा,
प्रकृति नटी के कौशल मे सौन्दर्य सहज ही बिखर रहा।

† छोटे-छोटे सन्निकट विपिन
तरु वल्लरियों मे घिरे सघन,
कुञ्जों की वह कमनीय प्रभा
किसका न रही हो चित्त लुभा,
शाखाओं के मिष हाथ हिला,
पथिकों को पादप रहे बुला,
आओ मीठे फल खा जाओ,
अपनी पथ-श्रान्ति मिटा जाओ।

शाखाओं से नत लाञ्छित हो,
पत्रों पुष्पों से सज्जित हो,
आनन्दो-न्मादिनी सरिताएं
पादप गण के दायें बायें,

* [illegible]
† [illegible]

मसृण तृणराजि विराज रही,
दूर्वा की वह छवि छाज रही,
जल-सीकर जिन पर चमक रहे,
मानो मुक्ताफल दमक रहे।

पक्के पत्ते तरु से गिरकर
आते थे शरणागत बनकर,
दूर्वा मन ही मन हसती थी,
पादप पर तानें कसती थी,
परछांई सरयू के जल में,
मानो वनिता ही अंचल में,
रह-रह कर उठती जो तरंग,
वह थी उसके मन की उमंग।

उच्च राज-प्रासाद शिखर जो नभ से करते थे बात,
ऐसा लगता वनिता का वैभव अलका को बतलाती,
चारों ओर खुले वातायन मृदु मनहारी मन्द पवन,
सरयू से निम्नगात, कुसुम-वनिका से आती थी सन-सन।

राजमहल में मित्र जुटाए मन्त्र गोष्ठी करतीं थी,
महामाया के आगे सब सुख-दुख घटनाएं धरती थी,
सुनते-सुनते सरदेश के मानसिक क्षुब्ध हुआ विचार,
गद्गद स्वर, आँखें डबडब, आते ही जिस ममता की धार।

† सखियो ! रह-रह कर याद आते
भर जाती मेरी छाती,
क्या मालूम कहा पर मेरा लाल है ?
हा मेरे ऋषभ का क्या जाने क्या हाल है ?

जिसको मैने बड़े प्रेम से इन हाथो मे पाला,
वह हंसमुख था, कैसा सीधासादा भोलाभाला,
प्रतिदिन मैं अपने पास बिठाती,
कर-कर मनुहार खिलाती,
अब उसका कौन सजाता थाल है ।

ध्यान सदा रखती थी, उसने क्या खाया,क्या खाना ?
अब उसके खाने-पीने का होगा कहा ठिकाना ?
गर्मी-सर्दी मे सदा बचाती,
रहती थी मै समझाती,
अब उसकी कौन करे सम्भाल है ?

मैंने भूर-भूर कर अपना सारा अंग सुखाया,
पर उस निर्मोही ने तो आ, मुह तक नही दिखाया,
सखियो ! रो-रो मै नयन गमाऊ,
ऋषभ की रटन लगाऊ,
देखो यह बदन हुआ कंकाल है ।

* [illegible]

क्या बतलाऊं मेरा तो जीवन ही हुआ अलूना,
ऋषभ-कुशल-सन्देश बिना सब लगता सूना-सूना,
मैं तो भरते को कह-कह हारी,
सुन लेता हंस-हंस सारी,
मीठी बातें कह, देता टाल है।

दोहा

इतने में आए भरत महामाता के पास।
कर प्रणाम, सविनय कुशल पूछ रहे सोल्लास।

* भरत ! तू है किस धुन में ?
हो···गया पिता को भूल राज्य के पागलपन में।
भरत ! तू है किस धुन में ?
हो···झूर-झुर झुरियां पड़ गई मेरे तन में.
भरत ! तू है किस धुन में ?

मेरा ऋषभ कहा रहता है ?
क्या करता ? क्या तुझे पता है ?
हो···क्या मैं फिर से उसे देख लूंगी जीवन में ?

तेरे तो सुख-साधन सारे,
तू यह सब किसलिए विचारे ?
तन में ?

झलक रही थी सहज सौम्यता, शीतल वदन श
हृदयाह्लादक मंजुल मुद्रा, था आकार वृषांक-सा,
मानो था वह सारी संसृति के नयनों का तारा।

नील गगन से सरर उतर कर क्या जाने क्या आ रहे ?
दौड़े-दौड़े सभी नागरिक उसी दिशा में जा रहे।
अशरण-शरण उसे कहते, त्रिभुवन का एक सहारा।

क्या बतलाएं हम उसकी वाणी के अमिट प्रभाव को ?
चूहे, बिल्ली, अश्व, महिष सब भूले वैर-स्वभाव को।
मैत्री-भाव प्रपूरित वातावरण वहां का सारा।

फूल रहा धरती का कण-कण, एक नया उल्लास था,
बरस रही थी सुन्दर सुषमा, प्रसरित दिव्य प्रकाश था,
प्रवहमान थी जहां अलौकिक, अनुपम सुख की धारा।

पनघट पर पनिहारी बन, हम जल भरने को थी गईं,
अभिनव छटा देख बतलाने, महामाता को आ गईं,
नाच रहा आंखों के आगे अब तक वही उजारा।

दोहा

पुलकित मन, विकसित वदन, हसित रदन सोत्साह।
आए महामाता-सदन, उमित हर्ष-प्रवाह।

भरत त्वरित गति से तदा, भरित हृदय आनन्द।
आह्लादित कहने लगे, यों सुमंगला-नन्द।

* लो बधाई ! लो बधाई ! लो बधाईजी !
महामाताजी ! परम हर्ष में लो बधाईजी !

देती उपालम्भ जगदम्बे ! जिनके लिए सदैव, (माजी !)
वे प्राणप्रिय ! नयनानन्दन ! आए हैं स्वयमेव, (माजी !)
आज हमारे आंगण कल्पलता लहराईजी ।

वे सुख में हैं या दुःख में, यह चलकर देखें आप, (माजी !)
हो जाएगी मुग्ध देखकर, उनका प्रबल प्रताप (माजी !)
जिनके यश की त्रिभुवन में बजती शहनाईजी

अब विलम्ब मत करो, चलो हम [illegible] (माजी !)
छोटे-बड़े बाल-वृद्ध सब, लो पूरा परिवार, (माजी !)
मैं करती हूँ सादर आकर [illegible] ।

[illegible]

भूप आज्ञा प्राप्त सैनिक विविध वाद्य बजा रहे,
गज, तुरग, रथ, चरणचारी सब सैन्य सजा रहे,
मध्य पर आरूढ़ नरवर तेज दीप्त दिनन्द है,
और महामाता विराजित हस्ती पर सानन्द है।
विविध वाहन, विविध बानें, साथ सब परिवार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक ! साधना साकार है।

सोरठा

कुसुमवाटिका ओर, एक लक्ष्य से सब चले।
मानस भक्ति-विभोर, समवसरण जो सन्निकट।

हुए वृषांक जिनेश, दृग्गोचर जब दूर से।
देख रही अनिमेष, गज-निसन्न मातेश्वरी।

* कैसा सुन्दर और शुभंकर खिला सुरंगा रंग है।
अरे ऋषभ ! यह छटा तुम्हारी देख हुआ दिल दंग है।

सोत्सुक आई वत्स ! चलाकर मैं तो तेरे पास मे,
किन्तु यहां पर आने से तो प्रत्युत हुई उदास मैं,
नहीं बोलता तक मेरे से बेटा ! यह क्या व्यंग है ?

रहा बोलना दूर अरे ! तू पलक उठाकर झांक ले,
माता के मन की ममता को एक बार फिर आंक ले,
रह-रह आते स्मृति-पट पर वे तेरे मधुर-प्रसंग हैं।

दोहा

ध्येय, ध्यान मे हो गई, आत्मा ओतप्रोत।
मातुःश्री का खुल गया, अन्तस् स्फुरणा स्रोत।

* त्वरित गति से बह चली है भावना की विशद धारा।
हृत्-पटल पावन बनाने, धो बहाने पाप सारा।

तू स्वय है दिव्य ज्योतिःपुञ्ज शक्ति अनन्त तेरी,
पर तुझे करती हतप्रभ मोह-माया की अन्धेरी,
अमित-गुण-विभुता-प्रपूरित हो रहा क्यों तू भिखारी ?
जो अतुल संवेदना वह क्यों हुई है सुप्त सारी ?
स्वत्व पाने दूसरों का है अपेक्षित क्यों सहारा ?
त्वरित गति से बह चली है भावना की विशद धारा।

सुन्दरं सत्यं शिवं तू पर-मुखापेक्षी बना क्यों ?
सच्चिदानन्दाढ्य चेतन ! विविध कष्टों में सना क्यों ?
तू समुज्ज्वल विमल उत्पल पंक में हा ! क्यों फसा है ?
सर्वतन्त्र स्वतन्त्र बन्दी सोच यह कैसी दशा है ?
सघन घन में क्यों घिरा है चमकता तेरा सितारा ?
त्वरित गति से बह चली है भावना की विशद धारा।

तोड़ अब इन बन्धनों को स्वयं को तू स्वयं पा रे,
सुप्त अपनी चेतना को स्वीय बल से तू जगा रे,
बना केन्द्रित शक्तियों को प्राप्त कर अपनी प्रभा रे,
स्वच्छ अभ्र-विमुक्त नभ निर्धूम ज्योतिस्सन्निभा रे।
अमल, अविकल, अतुल, अविरल प्राप्त कर'तुलसी' उजारा।
त्वरित गति से बह चली है भावना की विशद धारा।

घातिक निकर टूटा एक साथ,
पाया तेरहवां गुणस्थान,
पाया है अनावरण संयम,
सर्वविषयी सम्यग् ज्ञान,
अन्तिम गुण में पा शैलेशी,
वाणी मन काया का निरोध,
ऋजुगति से एक समय में ही
पहुंचे महात्मा सिद्धि-सौध।

गीतक छन्द

इधर मधुर स्वर जिनेश्वर सजल सावन-घन घटा,
पथ्य, हित, मित, हृदय-वेधी, विमल वाणी सच्छटा,
महार्घा, शिष्टा, वरिष्ठा देशना वे दे रहे,
वेग-वाही धोरणी में सभी जाते थे बहे,
सुन रही एकाग्र परिषद् ऋषभ-हृदयोद्गार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक! साधना साकार है।

* अब तो कैसा है जीवन का अस्तित्व जान लो,
स्वयं का स्वत्व जान लो, व्यक्त व्यक्तित्व जान लो।

क्या हूं मैं? कहां से आया?
किसकी मेरे पर छाया?
क्या करना? क्या करता? यह तत्त्व जान लो।

जीवन को स्वच्छ बनाती यों,
ऋजुता मृदुता, ऋजुता मृदुता।
नैया को पार लगाती यों,
ऋजुता मृदुता, ऋजुता मृदुता।

की नहीं साधना संयम की,
दुस्सह्य परीषह नहीं सहे।
पापों से सदा बचाती यों,
ऋजुता मृदुता, ऋजुता मृदुता।

सामायिक संवर भी न किया,
हाथों से कभी न दान दिया।
आत्मा में जागृति लाती यों,
ऋजुता मृदुता, ऋजुता मृदुता।

कब तपी तपस्या जीवन में?
कब पोषध, व्रत, उपवास किए?
फिर भी विकास कर पाती यों,
ऋजुता मृदुता, ऋजुता मृदुता।

स्वाध्याय, भजन, नवकरवाली,
धार्मिक अध्ययन किया न कभी।
अहा! अन्तर-ज्योति जलाती यों,
ऋजुता मृदुता, ऋजुता मृदुता।

चिन्तन क्या जाना नहीं कभी,
सद्धर्म-शुक्ल तो दूर रहा।
मानस उपवन सरसाती यों,
ऋजुता मृदुता, ऋजुता मृदुता।

ये सभी साधनाएं अच्छी,
उपमित जो कवल-असन से है।
तो रोम तुल्य कहलाती यों,
ऋजुता मृदुता, ऋजुता मृदुता।

गृह वेश विभूषित भावितात्मा,
श्री मरुदेवा महामाता को।
करिवर पर शिव पहुचाती यों,
ऋजुता मृदुता, ऋजुता मृदुता।

* धन्य-धन्य माताजी तुमने खोले सिद्धि-सदन के द्वार
ऋजुता में जीवन को जीना, चिंतन है सारा सार
अपने से पहले पहुंचाई मां को भव-सागर के पार
धन्य-धन्य प्रभु खूब चुकाया,'तुलसी' माता का उपकार।

चतुर्थ सर्ग

* उल्लसित अयोध्या का कण-कण,
आनन्दित उत्साहित जन-जन,
करने भरतेश्वर अभिनन्दन
उत्कंठित नाच रहे है मन,
दिग्-विजय अखिल भू-मण्डल को
कर आज आ रहे चक्रीश्वर,
सज्जित है देव-विमानों-सा
साकेत नगर, उसका घर-घर।

मगल द्वारो की भव्य छटा,
सुन्दर तोरण बन्दरवारे
थी भीनी-भीनी मन-मोहक
वह मधुर महक पुर मे सारे,
भरतेश्वर के दर्शन करने
वनिता की जनता उमड़ पडी,
जहा देखो वही सहस्रों की थी
स्थान-स्थान पर भीड खडी।

ऊंचे-ऊंचे छज्जो छतो पर
महिलाएं मंगल गाती,
आशीशें दे ार
ती,

वस्त्राभरणों से सज्जित हो
वे नन्हें बालक-बालाएं,
थे उछल-उछल कर पहनाते
जन-नायक को जयमालाएं।

वह तेजोमय था दिव्य भाल
अत्यन्त प्रसन्न वदन नरवर,
श्वेतातपत्र चामर-भूषित
मानो सुरपति ऐरावत पर,
वाद्यों से मुखरित दिशा सभी
हो रहा एक अवनी-नभ तल,
जलधर बनकर नृप बरस रहे,
मुख-मुख जय जय मंगल-मंगल।

* वनिता की गली-गली में अहा! धूम मची है भारी।
हो रही नगर में सारे विजयोत्सव की तैयारी।

मण्डप की मंजुलता ने देवों का चित्त लुभाया,
मानो साकार धरा पर है स्वर्ग उतर कर आया,
थी स्वर्ण-खचित स्तम्भों पर वे मणि-मंडित पुत्तलिया,
गमलों में महक रही थी सुरभित सुमनों की कलिया,
नव-नव नामांकित सुन्दर द्वारों की छवि मनहारी।
हो रही नगर में सारे विजयोत्सव की तैयारी।

नाना चित्रों से चित्रित थी चारों ओर दिवार,
वे नाट्य-वाद्य गीतों की उठती अभिनव झंकारें,
थे रत्न-जटित सिंहासन जिनकी जगमगती ज्योति,
रवि लक्ष रूप धर आया ऐसी प्रतीति थी होती,
अब पहुंच रही मंडप मे नरतेश्वर की असवारी,
हो रही नगर मे सारे विजयोत्सव की तैयारी।

मडलपति भूप सहस्रों आये स्थानों-स्थानों से,
अभिषेक-सभा की शोभा द्विगुणित थी विद्वानों से,
सम्भ्रान्त नागरिक अपने नव-नव ले ले उपढौकन,
सब उछल रहे थे वासी उल्लसित हो रहे तन-मन,
जन-रव से बधिर हो गई मानो वसुन्धरा सारी।
हो रही नगर मे सारे विजयोत्सव की तैयारी।

गडगडाहट तोपो की, सैनिक करते अभिवादन,
गुणगाथा मुक्त-कण्ठ से गाते है याचक, कविजन,
अभिषेक चक्रवर्ती का सोल्लास कर रहे सारे,
थीं नादित सभी दिशाएं, गुञ्जित जय-जय के नारे,
भरतेश तेज के आगे किसकी है आज चिकारी।
हो रही नगर मे सारे विजयोत्सव की तैयारी।

* दृष्टि उठा चक्री ने देखा थे समुपस्थित सभी वहां,
लगे सोचने मेरे छोटे भाई आए क्यों न यहां ?
दी न बधाई तक आकर के, लिया नहीं उत्सव मे भाग,
इतर गए वे इतने कैसे ? आसमान मे चढ़ा दिमाग।

---

* रामायण

इस अवसर पर उनकी अनुपस्थिति, मेरा अपमान बड़ा.
बुद्धि ठिकाने लाने, अब देना होगा आदेश कड़ा,
यों घर के भाई-बेटे जो उच्छृङ्खल बन जाएंगे,
तो फिर औरों के अविनय पर कैसे आंख दिखाएंगे ?

दोहा

रोषारुण हो भरत ने, सबको भेजे दूत।
अभी देख लूंगा अरे ! क्या उनकी आकूत ?

सोरठा

यह सत्ता की रीति, स्वत्व पराया छीनना।
संग्रह, शोषण नीति, अपनापन रखती नहीं।

उचितानुचित विवेक, होता है इसमें नहीं।
रहती है धुन एक, बस ज्यों-त्यों अधिकृत बनूं।

दोहा

पा आज्ञा सम्राट् की राजदूत सोल्लास।
पृथक्-पृथक् पहुंचे सभी भ्राताओं के पास।
बद्धाञ्जलि कहने लगे, दिग्-विजयी भरतेश।
बुला रहे हैं आपको, यह भेजा सन्देश।

* मेरे प्यारे विज्ञ बन्धुओं ! आओ वनिता में आओ।
विजयोत्सव के इस अवसर पर तुम अपना कर्तव्य निभाओ।

अरे तुम्हें तो बिना बुलाए सबसे पहले आना था,
छोटे भाई के नाते अग्रज का मान बढाना था,
खैर हुआ सो हुआ, शान्त मन चिन्तन कर सुविवेक जगाओ।
मेरे प्यारे विज्ञ बन्धुओं! आओ वनिता मे आओ।

भूल विनय की मूल पद्धति, उच्छृङ्खलता श्रेष्ठ नहीं,
यह अपमान कनिष्ठों द्वारा, कभी सहेगा ज्येष्ट नही,
स्मर कुल की उज्ज्वल परम्परा, मत यों अविनय को पनपाओ।
मेरे प्यारे विज्ञ बन्धुओं! आओ वनिता मे आओ।

यों घर वाले भी आने के समय नहीं जो आएगे,
तो हम अखिल विश्व पर कैसे अनुशासन कर पाएगे,
अब विलम्ब अक्षम्य शीघ्रतर, आकर चरणों मे झुक जाओ।
मेरे प्यारे विज्ञ बन्धुओ! आओ वनिता मे आओ।

दोहा

मिले भ्रात अट्ठाणवे, करने लगे विचार।
अब क्या करना चाहिए, सोचो उचित प्रकार।

वहां बुलाने का यही एकमात्र है सार।
छीन राज्य सेवक बना ले लेना अधिकार।

ज्येष्ठ सहोदर से लड़े यह अनुचित साक्षात।
स्वीय राज्य सौंपे? नहीं बनने की यह बात।

सबकी सम्मति से हुआ स्वीकृत यह प्रस्ताव।
बाबाजी के पास मे ही होगा सुलझाव।

सोरठा

होकर क्रुद्ध सविषाद, आ प्रभु से कहने लगे।
कैसे मिटे विवाद ? पथ दिखलाओ पूज्यवर।

* वह भरत चाहता है, साम्राज्य जो हमारा।
उसको प्रबोध देना, कर्तव्य है तुम्हारा।

बाबा ! दिया था तुमने, जो राज्य हम सभी को,
अधिकार मागने का क्या है ? नहीं विचारा।

वह बन गया प्रलोभी, सप्तार्चि सर्वभक्षी,
सब न्याय-नीति भूला, है काटता किनारा।

माना बड़ा भरत को, प्रभु ! स्थान पर तुम्हारे,
अन्याय पर तुला है, अब क्या हमें सहारा।

छोटे अतः कहो क्या अन्याय हम सहेंगे ?
अब युद्ध के बिना है कोई न और चारा।

यदि युद्ध भी करे तो किससे करें बताओ ?
अब तक वही समुज्ज्वल वृषभांक-वंश धारा।

यदि वह प्रभो ! अड़ेगा, हम भी नहीं टलेंगे,
देना न फिर उलाहना, टकरा यहे दुबारा।

* बोले प्रभु धैर्य बंधाते यों,
यह उचित तुम्हारा है चिन्तन,
मिट्टी के लिए युद्ध करना
इससे होता कलुषित जीवन,
उसमे फिर भाई से लड़ना
व्यवहार्य दृष्टि से भी अनुचित,
अपयश बढता है संसृति में,
होता भारी अघ-दल सञ्चित ।

आकर के कितने चले गए,
यह धरती किसके साथ रही,
मेरी मेरी कर मरे सभी,
कोई भी अपना सका नही,
वैभव-साम्राज्य-अखाडे मे,
सोचो तो कितने ही उतरे,
जो हारे वे तो हारे हो,
जीते उनकी भी हार अरे !

अधिकारो की मादकता में
बन जाते है जो क्रूर अहो !
अपने उन्नत आदर्शों से
जाते वे कितने दूर कहो,
परिचय आत्मिक दुर्बलता का,
कायरता भी मन में लाना ।
वह शक्तिवान् उसके आगे,
क्यों सत्वहीन बन भय खाना ।

---

* लय—सहनाणी

जिसको मान रहे तुम अपना,
वह तो है केवल झूठा सपना,
इसकी इतनी लगन
कैसा है पागलपन ?
क्यों न विचारा ?

उस राज्य मे सार जो पाता,
तो मैं छोड़ उसे क्यों आता ?
समझा उसको बन्धन,
आखिर उसमें क्रन्दन,
लो छुटकारा ।

* लो राज्य तुम्हे मै देता हूं ।

कोई भी जहा विभाग नही,
विद्रोहों की है आग नही,
सेना की नही अपेक्षा है,
आतंक जहां है नही कही,
होते कोई उत्पात नहीं,
शासन में है व्याघात नही,
चिन्ता की ज्वालाएं धधके
कोई भी ऐसी बात नही ।
सुख प्राज्य तुम्हें मै देता हूं,
लो राज्य तुम्हे मैं देता हूं ।

सोरठा

होकर कुछ सविषाद, आ प्रभु से कहने लगे।
कैसे मिटे विवाद ? पथ दिखलाओ पूज्यवर।

* वह भरत चाहता है, साम्राज्य जो हमारा।
उसको प्रबोध देना, कर्तव्य है तुम्हारा।

बाबा ! दिया था तुमने, जो राज्य हम सभी को,
अधिकार मांगने का क्या है ? नहीं विचारा।

वह बन गया प्रलोभी, सप्तार्चि सर्वभक्षी,
सब न्याय-नीति भूला, है काटता किनारा।

माना बड़ा भरत को, प्रभु ! स्थान पर तुम्हारे,
अन्याय पर तुला है, अब क्या हमें सहारा।

छोटे अतः कहो क्या अन्याय हम सहेंगे ?
अब युद्ध के बिना है कोई न और चारा।

यदि युद्ध भी करें तो किससे करें बताओ ?
अब तक वही समुज्ज्वल वृषभांक-वंश धारा।

यदि वह प्रभो ! अड़ेगा, हम भी नहीं टलेंगे,
देना न फिर उलाहना, टकरा रहे दुबारा।

अविचल है ध्रुव जिसका शासन,
पूरा है सबसे अपनापन,
जिसके विशाल भण्डारों में
अक्षय अनन्त है अगणित धन,
वहां नहीं किसी का भी बन्धन,
रहता है पूर्ण शान्त जीवन,
जिसकी छाया में पलने से
प्रतिपल रहता आनन्द सघन।
अविभाज्य तुम्हें मैं देता हूं,
लो राज्य तुम्हें मैं देता हूं।

दोहा

सुनते ही सोत्कण्ठ हो बोले सारे भ्रात।
ऐसा राज्य हमें मिले, हैं प्रसन्न हम तात!

जो आज्ञा दें आप वह, है सहर्ष स्वीकार।
(पर) होगा किस भू-भाग पर, हम सबका अधिकार।

कैसे साधा जायगा, आर्य! निर्दशित राज्य।
जो अविकल, अविचल, अमल, है अविरल, अविभाज्य।

* राज्य तुम्हारा है जग से निराला,
पाकर बुझ जाती कष्टों की ज्वाला,
वह अपने पर शासन,
संयम सच्चा साधन,
अटल सितारा।

है निर्वाण नगर राजधानी,
जिसकी शोभा की अलख कहानी,
होगा शासित भुवन,
ले लो करके चिन्तन,
तुम दुबारा।

बोधि प्राप्त करो, अब जागो,
झूठी माया की ममता त्यागो,
प्रभु के अमृत वचन,
बरसे ज्यों सावन घन,
वारि-धारा।

गीतक छन्द

सुनी साधक एक मन से हृदय-भेदी वेदना
जगी अन्तर-प्रेरणा, पा एक अभिनव चेतना
शीघ्र पाने राज्य वह, सब हुए प्रोत्साहित मना
शिथिल हो जब कर्म-बन्धन उमड़ती वह भावना,
छोड़ ममता बन विरागी लिया साधक भार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक ! साधना साकार है।

लगती चिन्तन की पुनः अपेक्षा पूरी,
यह विजय रही है कहीं अवश्य अधूरी,
मेरी तो प्रतिभा काम न देती अब है,
युद्धोत्तेजक रव सुन स्तम्भित हम सब हैं,
हो पुनः प्रयाण यही संकेत दिखाता।
आयुधशाला में चक्र नहीं क्यों जाता?

दोहा

हो उन्मन भरतेश तब, करने लगे विचार।
क्या लड़ना अवशेष है? जीता सब संसार।

श्रोता क्षण भर के लिए सभी रह गए मौन।
मुख-मुख प्रश्न यही अरे! बाकी अब है कौन?

गूंज उठा संसद-भवन, रहा न कोई शेष।
द्वारा श्री भरतेश के विजित विश्व निःशेष।

* क्रुद्ध विखिन्न-सा महामात्य अपने आसन से हुआ खड़ा,
राजन्! आज हमारे सम्मुख प्रश्न विजय का खड़ा बड़ा,
लगता ऐसा मुझे अभी तक दिए तले अन्धेरा है,
इस पर सोचें सभी सभासद नम्र निवेदन मेरा है।

दोहा

एक बार फिर हो गई यह सुन संसद सन्न।
नहीं दृष्टिगत हो रहा कोई दूरासन्न।

* रामायण

की इतनी लम्बी विजय विविध
थी किंचित् भी परवाह नहीं क
आगे-आगे वह पीछे हम सब
सर्वत्र जयश्री मिलती जिधर
अब भी यह समरांगण का
आयुधशाला में चक्र नहीं

है एकछत्र साम्राज्य आपका
अहा ! अखिल विश्व में विजय-ध्वज ल
विजयोत्सव बारह वर्ष सहर्ष
लगता वह फिर भी तृप्त नहीं हो
कुछ किन्तु अभी यह स्पष्ट-स्पष्ट
आयुधशाला में चक्र नहीं

दोहा

बोले चक्री क्यों नहीं लेता है स्वस्थान
ज्यों-त्यों उसे धकेल दो मिल योद्धा बलवान

बोला सुषेण स्वामिन् ! हम सैनिक सारे,
रखी न कमी, हारे कर-कर मनुहारें,
पूजा अर्चा भी व्यर्थ रही है सारी,
कोई भी शक्ति न देती काम हमारी,
क्या जाने अब भी जाते क्यों संकुचा
आयुधशाला में चक्र नहीं क्यों जा

लगती चिन्तन की पुनः अपेक्षा पूरी,
यह विजय रही है यहाँ अवश्य अधूरी,
मेरी तो प्रतिभा काम न देती अब है,
युद्धोत्तेजक रव सुन स्तम्भित हम सब हैं,
हाँ पुनः प्रयाण यही संकेत दिखाता।
आयुधशाला में चक्र नही क्यों जाता ?

दोहा

हो उन्मन भरतेश तब, करने लगे विचार।
क्या लड़ना अवशेष है ? जीता सब संसार।

श्रोता क्षण भर के लिए सभी रह गए मौन।
मुख-मुख प्रश्न यही अरे ! बाकी अब है कौन?

गूंज उठा संसद-भवन, रहा न कोई शेष।
द्वारा श्री भरतेश के विजित विश्व निःशेष।

* क्रुद्ध विखिन्न-सा महामात्य अपने आसन से हुआ खड़ा,
राजन् ! आज हमारे सन्मुख प्रश्न विजय का खड़ा बड़ा,
लगता ऐसा मुझे अभी तक दिए तले अन्धेरा है,
इस पर सोचें सभी सभासद नम्र निवेदन मेरा है।

दोहा

एक बार फिर हो गई यह सुन संसद सन्न।
नहीं दृष्टिगत हो रहा कोई दूरासन्न।

* रामायण

* सबको मौन देख महामन्त्री बोला सम्भालो घर को
उसे भूलकर सभी देखते हैं क्यों केवल बाहिर को
राजन्! अपनी विश्व-विजय में तबतक कोई सार नहीं
जब तक दुर्जय बाहुबली पर हो पूरा अधिकार नहीं

दोहा

ज्यों रहते मिथ्यात्व के नहीं सिद्धि साकार।
बाहुबली जीते बिना विश्व-विजय निस्सार।

हुई न कुटिल कषाय-जय (तो) बन्ध मोक्ष के द्वार।
बाहुबली जीते बिना विश्व-विजय निस्सार।

सम्यग् श्रद्धा शून्य ज्यों ज्ञान निकेवल भार।
बाहुबली जीते बिना विश्व-विजय निस्सार।

* कुछ ससद-सदस्य हस बोले वाह! मन्त्रीजी खूब कहा,
बाहुबली छोटा भाई क्या वही जीतना शेष रहा?
वह तो अपने घर का ही है, उस पर क्या करना अधिकार?
सम्भव कोई और शेष हो, करिए उस पर पुनः विचार।

'नहीं, नहीं, कहते जो मन्त्री, सोलह आना बात सही,
कुछ भी नहीं जीत पाए हम, महाविजय तो शेष रही,
बाहुबली को शासित करना, सचमुच ही है टेढ़ी खीर,
तरे स्रोत छोटे-छोटे हैं, अभी दूर सागर का तीर।

कुचले है निर्बल मृग-शावक, अभी सिंह से लड़ना है,
ठुकराए पाषाण-खण्ड लघु, अब पर्वत से भिड़ना है,
महाप्रतापी बाहुबली का बोलो! बल किससे अज्ञात?
चेतन को जड़ करने जैसी, उसे जीतने की है बात।'

दोहा

चिन्तन-मुद्रा में कई चिन्तक थे गम्भीर।
कैसे जीता जायगा बाहुबली सा वीर।

* * *

गीतक छन्द

अखिल भू पर यामिनी का हो रहा अधिकार है,
श्रान्त दिन भर के श्रमिक को नींद का आधार है।
शान्त जन-रव, मूक पक्षी, पवन भी गति मन्द है,
विटप, लतिकाएं, चपल-दल-कमल भी निस्पन्द हैं।

मूक सी सारी दिशाएं, गगन शब्द-विहीन है,
चन्द्र चुपके भरत-हृदयोद्गार सुनने लीन है,
अखरती है भूप को वह कुसुम-कोमल तल्प भी,
नेत्र है उन्निद्र, क्षणभर शान्ति है ना स्वल्प भी।

* मैं मन ही मन अकुलाऊं रे! कुछ समझ न पाऊं रे।
सम्मति लेने कहां जाऊं रे! कुछ समझ न पाऊं रे।
उलझन कैसे सुलझाऊं रे! कुछ समझ न पाऊं रे।

---

* लय—मत बनो दातार रे

महामात्य ने महिप का, देखा हृदय अशान्त।
अति चिन्तन में सो रहे, क्लान्त, श्रान्त, विभ्रान्त।

नत हो पूछ रहा कुशल, किन्तु न कुछ भी ध्यान।
अरे ! हुआ क्या आज यह, है क्यों नृप बेभान ?

* झुककर मधुर स्वर मंत्रीश्वर
बोला, राजन् ! अब तो जागो,
मिट गया निशा का तिमिर जाल
अब तो इस तन्द्रा को त्यागो,
देखो नरवर ! यह भास्कर भी
चरणों में शीश झुकाता है,
मीठे कण्ठों से विहग-वृन्द
रह-रह गुण गौरव गाता है।

चरणायुध हारे जगा-जगा,
बज चुकी सुबह की सहनाई,
फिर भी न उठे क्या कारण है,
क्यों अब तक आंगे अलसाई,
हो रहा समय यह सजद का
पर शेष अभी न्हाना धोना,
यदि अभी नींद की रही प्रभो !
सन्ध्या को था जल्दी सोना।

---

* गहूली

उदास मन मरोड़ नृप, बैठे शय्या छोड़ ।
देख निकट मंत्रीवर, फिर बोला कर जोड़ ।

"इस समय में आकृति पर छाई
यह कैसी आज उदासी है,
मैं देख रहा हूँ क्यों मुरझा ?
जो प्रातर सूर्यविकासी है,
इस सदा प्रफुल्लित चेहरे पर
यह कैसी चिन्ता की रेखा ?
इसमें हैं म्लान नयन कैसे ?
जिनको प्रतिपल खिलते देखा ।

विस्मय होता है देख आज
मैं आया, पर कुछ ध्यान नहीं,
अपराध हुआ क्या मेरे से,
आओ, बैठो सम्मान नहीं,
तब दृष्टि उठा भरतेश्वर ने
मंत्रीश्वर से सविषाद कहा,
क्या बतलाऊं रे ! महामात्य !
दुविधा में जाता आज बहा ।

दोहा

महामात्य बोले महिप, क्या चिन्ता की बात ।
समाधान होगा सकल निश्चित निर्व्याघात ।

है यह लोक-परम्परा, आज्ञा देता ज्येष्ठ।
शिरोधार्य करता अनुज, होता काम यथेष्ट।

यह नीति रख सामने दूत विचक्षण एक।
भेजे तक्षशिलापुरी, जागृत करे विवेक।

नीति विशारद विज्ञ यदि आ जाएगा देव!
तो हो जाएगा सहज कार्य सफल स्वयमेव।

पर वह आने का नहीं, जैसा दृढ़ विश्वास।
मृगपति जो स्वच्छन्द है कभी न सहता पाश।

आज्ञा की अवहेलना का समुचित प्रतिवाद।
करना ही होगा हमें क्या इसमें अपवाद।

●

षष्ठ सर्ग

* वाह्लीक देश था हरा भरा,
वह शस्य श्यामलोर्वरा धरा,
जलधर मन इच्छित देते जल,
जिससे थी सारी भूमि सजल।

सरिताए कलकल कर बहती
मानो पथिकों से वे कहती,
चलते जाम्रो! चलते जाम्रो!
पथ में न रुको, बढ़ते जाम्रो।

वे ऊंचे शैल गगनचुम्बी
चोटियां हजारों फिट लम्बी
मानो महलों के हों प्रहरी
जिनमें थी राष्ट्र-भक्ति गहरी।

ऊपर से आ गिरते निर्झर,
झरते करते मुखरित गिरिवर,
टकरा-टकरा बह रहे उद्गम,
दिखलाते मानो अपना बल।

प्रतिनादित होते गिरि-गह्वर,
हों मिला रहे ज्यों स्वर से स्वर,
जिनकी मनमोहक शिल्पकला
किसको न सुभाती चित्त भला।

स्वच्छ घर, अति स्वस्थ वायु, ग्राम ये छोटे-बड़े,
पान्थ के निर्भ्रान्त स्वागत को समुत्सुक जन खड़े,
पयवती, वलवती गायें भी अनेकों घूमती,
पुष्ट बछड़े, मस्त महिषो. टोनिया थी झूमती।

दर्शनीया राजधानी की छटा रमणीय थी,
अवनि की अमरावती, यह कल्पना कमनीय थी,
भव्य भवनों की बनावट में झलकती चातुरी,
विविध रम्याराम वेष्टित श्रेष्ठ तक्षशिलापुरी।

दोहा

जिसका गौरव आज भी बता रहा इतिहास।
मिला समूचे देश को विद्या, कला, प्रकाश।

* सुन्दरतम है राज्य-व्यवस्था, राज-प्रजा में प्रेम अपार,
है विश्वास परस्पर, एक दूसरे के प्रति वृत्ति उदार,
सच्चे राजकीय अधिकारी, जनता से अच्छे सम्बन्ध,
एकतन्त्र में प्रजातन्त्र की छाया प्रतिबिम्बित निर्द्वन्द्व।

जन हित के कार्यों मे रहता शासकीय पूरा सहयोग,
है दिन दूना रात चौगुना, जिससे वृद्धिगत उद्योग,
नही प्रपंच लंच का कोई, होता क्षीर-नीर का न्याय,
सब सन्तुष्ट, सुखी जीवन है, हो जाती आवश्यक आय।

* रामायण

बाहुबली है प्रबल प्रतापी, भूप प्रजा के पिता समान,
न्यायप्रिय, नैसर्गिक शासक,नीति निपुण, अतिशय बलवान,
सचिव समाज संगठित, सम्मति देने का सबको अधिकार,
समय-समय सारी स्थितियों पर होता रहता विविध विचार।

अभी-अभी मंत्रणा-भवन में बैठा नृप सह सचिव समाज,
बात-बात मे बात चली, बोला रक्षामंत्री महाराज,
सुनने में आता है फैला, भू-मण्डल पर भरतातंक,
औरों के अधिकार कुचलना, राजनीति का बड़ा कलंक ।

छोटे-बड़े सभी राज्यो पर जमा चुका अपना अधिकार,
कितनों को उसने नृशंस बन, दिए मौत की घाट उतार,
राज्य छीन लघु भ्राताओं के फिर भी जी ललचाता है,
अब वह तक्षशिला पर भी अनुशासन करना चाहता है ।

दोहा

द्वारपाल ने आ कहा, हो यदि प्रभु आदेश ।
राजदूत साकेत का चाहता शीघ्र प्रवेश ।

समादिष्ट निर्दिष्ट पथ, हो प्रविष्ट गुणधाम ।
नृप को दूत सुवेग ने सविनय किया प्रणाम ।

है पूर्ण रूप से कुशल भरत के तन मे ?
होगी पूरी सुख-शान्ति भरत के मन मे ?
भाभियां सभी सानन्द ? मुदित सब बच्चे ?
होंगे सब राज्य प्रबन्ध सुचारु अच्छे ?
होगा जनता मे चैन सुवेग ! सुनाओ।
क्या हाल-चाल है वनिता के बतलाओ ?

दिग्-विजय पूर्ण निर्विघ्न हो गई होगी ?
उत्सव मे जनता मग्न हो गई होगी ?
शासन में तो कोई व्याघात नही है ?
कोई ऐसी-वैसी तो बात नही है।
तुम आए हो कैसे ? कारण समझाओ ?
क्या हाल-चाल है वनिता के बतलाओ ?

दोहा

यह सुन तत्क्षण तड़क कर बोला दूत सुवेग।
किसका साहस भरत के, जो कर दे उद्वेग।

* महाराज ! प्रतापी महा भरत
रवि मण्डल मे है तेज प्रखर,
किसकी क्षमता जो आख सके
थोड़ा भी पलके टेढी कर,
उनकी आज्ञा मे जो चलते,
उनके पग-पग पर मगल है,
भू-मण्डल पर है भरत एक
जिसका शुभ शासन अविचल है।

साकेत आपको बुला रहे
मामन्द्रण श्री सम्राट् भरत,
अवसर अच्छा है चलने का
होंगे ही आप स्वयं उद्यत
मेरा भी है अनुरोध यही
अवसर की बात विज्ञ माने,
सोचो राजा किसके भाई
सत् न्याय नीति को पहचाने।

* इन राजाओं से तो हरदम डरते रहना अच्छा है।
इनका तो बस कहा-कहा ही करते रहना अच्छा है।

सुधा भरी इनकी पलकों मे जो आराधना करता,
दृष्टि क्रूर हुई जिस पर, वह बिना मौत ही मरता,
जैसे इंगित हो वैसे सचरते रहना अच्छा है।

कृपापात्र बनने वाला मन चाही मौज उड़ाता,
जो बन गया क्रोध का भाजन, दुख पाता, पछताता,
आजीजी कर इनके चरण पकडते रहना अच्छा है।

एक हाथ मे रासभ रहता, एक हाथ मे घोडा,
इनके तुष्ट रुष्ट होने का चिट्ठा लम्बा चौड़ा,
अतः हमेशा ही नृप अनुपद धरते रहना अच्छा है।

राजा, योगी, पावक, पानी इनकी उलटी रीति,
इन्हे सहल मत गिनो, अरे ये थोड़ी रखते प्रीति,
हो सध्यस्थित हा में हां ही भरते रहना अच्छा है।

---

* लय—ओ इन्सानो ! बीड़ी औ' सिगरेट पीना छोड़ दो

' ये नीति-वाक्य कर याद चलो
साकेत नगर में बाहुबली.
हो जाए सारी बात भली,
खिल जाए सबकी कली कली,
जो प्राणी चूक जाता उसको,
पड़ता रह रह कर पछताना,
जीवन में यह स्वर्णिम अवसर,
दुष्कर है पुन: पुनः आना।

थोड़ी भी ,दृष्टि क्रूर हुई तो
समझो अपना कुशल नहीं,
छिड़ जाने पर गज यूथों को
क्या कभी छोड़ता सिंह कहीं ?
कर्तव्य आपका था राजन् !
यह छोटे भाई के नाते,
भाई का मान बढ़ाने को
चल स्वतः अयोध्या में आते।

बिगड़ा न अभी तक है कुछ भी,
चल भरत भूप के पांव पड़े,
विद्या, बल, वय, वैभव, सेना,
इन सबमें वे हैं बढ़े-चढ़े,
ऐसा न कहीं हो जाय, भरत
चढ़कर आ जाएं तक्षशिला,
ढह जाएंगे ये स्वर्ण महल,
हो जाएगा यह नष्ट किला।

बोले तक्षशिलाधिपति, अब तो रह रे मौन।
यों बकना मेरे निकट, लज्जित होता क्यों न?

* अच्छा आया है तू मुझे बुलाने के लिए?
मीठी-कड़वी बातें कह, बहकाने के लिए?

अरे सुवेग एक नम्बर है बोलों में वाचाल तू,
किया भरत ने अब तक क्या-क्या, उसको भी सम्भाल तू?
आया थोथी स्वामि-भक्ति दिखाने के लिए?

अपने छोटे अठाणू भ्राताओं को तो भगा दिया,
उनके दूध मुहे बच्चों से, हाय! राज्य भी छीन लिया,
आया उसका भ्रातृ-प्रेम बतलाने के लिए।

बीते युग के युग भाई की स्मृति तक उसे नहीं आई,
विजय अधूरी, पूरी करने उसे चाहिए अब भाई,
आया तू उसकी आज्ञा मनवाने के लिए।

अठाणू ज्यों बने विरागी, वैसा जाने नहीं मुझे,
है जैसे ही रहने दे, मैं कह देता हूं स्पष्ट तुझे,
उसे रोक दे, अनुचित चरण बढाने के लिए।

---

* लय—अणुव्रत है सोया ससार

वचपन मे उसके हाथों से छीन-छीन मै खा जाता,
मेरी ओर ताकता वह तो, या रोता ही रह जाता,
आया तू उसका वीरत्व बताने के लिए।

बड़े प्रेम से खेल खेलते, यदि करता वह शैतानी,
तो मैं पूरा मजा चखाता, यद्यपि थी वह नादानी,
आया तू उसकी गुण-गाथा गाने के लिए।

वह डरपोक सदा का है, यह भली-भांति मै जानता,
पता तुझे क्या ? एक एक मैं उसकी रग पहचानता,
आया तू क्या बोल मुझे समझाने के लिए ?

वह निर्भय इसलिए कि उसका भाई दुर्जय बाहुबली,
इसीलिए तो उसके ऊपर नहीं किसी की एक चली,
आया तू मेरे को भय दिखलाने के लिए।

ड़ा बड़प्पन जब तक रखता, तब तक ही सम्मान
ोटे से अड़ने में उसका सर्व भांति अपमान है,
ाया क्या मेरे को नीति सिखाने के लिए।

ब तक कोई मुझे न छेड़े, मैं ना अड़ने वाला हूं,
रण रहे यदि छेड़ लिया तो कभी न टलने वाला हूं,
कह दे इन्कार बाहुबली आने के लिए।

गीतक छन्द

वह बड़ा है उसे थोड़ी लाज आनी चाहिए,
लालसा इसको नहीं इतनी बढ़ानी चाहिए
झगड़ भाई से कभी सुख चैन पाएगा नहीं
राज्य-वैभव तो किसी के साथ जाएगा नही।

किस भरोसे मे भरत है, राज्य क्या उसने दिया ?
चाहता किस मुंह से वह आज मेरे से लिया ?
याद रखना ? बाहुबल उससे न कुछ भी न्यून है,
धमनियो मे वह रहा उस ही पिता का खून है।

देख ले मेरे प्रबल ये शक्तिधर भुजदण्ड है,
मान उसका पलक मे हो जायगा शतखण्ड है,
मीच आंखे, बिना सोचे, वह करेगा काम जो,
समझ लेना अन्त में, होगा बुरा परिणाम जो।

हो गया लोभी, पथ-च्युत भरत, नीति स्पष्ट है,
भ्रात को बैरी बना हो जायगा वह नष्ट है,
अतः अब चुपचाप रहने मे भरत का है भला,
नही तो उसके गले आ जायगी उलटी बला।

गया जब दिग्-विजय करने याद तक आई नहीं,
उस पिता का पुत्र मैं क्या था सगा भाई नहीं ?
अरे! क्या अवनीत मै ? उद्दण्ड था बोलो जरा ?
क्या नही पुरुषार्थ था ? कुछ स्वयं को तोलो जरा ?

अरे ! इस अपमान को क्या भूल जाना चाहिए?
कह रहा किस मुंह से वह, मुझे आना चाहिए?
क्यों न आऊं ? वह बड़ा भाई पिता के तुल्य है,
किन्तु, कुछ तो बाहुबल के मान का भी मूल्य है।

दूर रहते भी अरे ! क्या हृदय मिलते हैं नहीं ?
अभ्र में रवि, अम्बु में क्या पद्म खिलते हैं नहीं ?
यदि भरत के हृदय में कुछ, बाहुबलि का स्थान है,
स्वतः होगा बाहुबलि में, भरत का सम्मान है।

शक्ति मेरे में अतुल, जा छीन लू उसकी विजय,
पर बड़ा भाई समझकर कर दिया उसको अभय,
हर्ष की है बात जो, चलकर भरत आए यहां,
सम्पदा षट्-खण्ड की वह सौंपकर जाये यहां।

दोहा

अरे ! चला जा, भरत की मुझे नही परवाह।
क्या डर है चलते हुए न्याय नीति की राह।

इतनी अच्छी है नहीं राज्य-वृद्धि की चाह।
भाई के नाते उसे मेरी नेक सलाह।

* * *

सोरठा

दूत सुवेग प्रवेश, भरत सभा में कर रहा।
पूछ रहे भरतेश, बाहुबली कब आ रहा ?

* भूल रहे हम किस भ्रम में बाहुबली यहां न आने का।
असफल रहा प्रयास सभी मेरा तो उसे मनाने का।

मैंने देखा बाहुबली का एक छत्र है राज्य वहां,
सबके अधरों पर उसका ही नाम नाचता सुनें जहां,
अच्छा अवसर मिला उसे अपना साम्राज्य जमाने का।

प्रजा वहां की बाहुबल को ही परमेश्वर जान रही,
कौन भरत है ? किसका स्वामी ? उन लोगों को पता नहीं,
बहुत बड़ा सम्मान सभी में देखा राज-घराने का।

निर्भय बेखटके सोते सब, कहीं किसी को क्लेश नहीं,
मैंने देखे बहुत देश, पर देखा ऐसा देश नहीं,
मालूम है न किसी का कोई, अनुचित पथ अपनाने का।

उसको बड़ा घमण्ड स्वयं पर, किस को भी परवाह नहीं,
स्पष्ट-स्पष्ट कहता है वह तो मुझे भरत की चाह नहीं
स्वप्न देखता षट्-खण्डाधिप की विभुता हथियाने का।

वह भुजबल से सारी सेना रौंद डालना चाहता है,
अपनी त्रुटियां नहीं सोचता उलटी धौंस जमाता है,
दुःसाहस करता सबको भी, कुम्भकार बतलाने का।

* लय—प्रभु भज, प्रभु भज, भज रे रे

सप्तम सर्ग

* रणभेरी गूंज उठी नभ मे,
वीरों के मानस फड़क उठे,
वे कड़क उठे हैं लड़ने को,
कायर जन के मन धड़क उठे,
आगे-आगे चल रहा चक्र
नभ पथ मे करता पथ-दर्शन,
दिनकर द्वितीय आया कैसे ?
यह देख हुए विस्मित जन-मन ।

श्वेताश्वारूढ़ कवच पहने
सज्जित सुषेण सेनानायक,
असिरत्न कमर पर कसा हुआ,
कर मे कोदण्ड दण्ड सायक,
करते किल्लोले, मद झरते,
वे मस्त मतगज मतवाले,
हो घिरी अभ्र मे अभ्र घटा,
या शैल शिखर काले-काले ।

उठकर घोड़ों की टापो से,
रजकण जा मिले नील नभ से,
अविरल गति से बढ़ते जाना,
मानो यो कहते थे सब से,

शस्त्रास्त्रों से सज्जित स्यन्दन,
वीरों में नव पौरुष भरते,
अपनी झंकृत गति के द्वारा,
सबको प्रोत्साहित वे करते।

प्रविभक्त अनेक विभागों में,
सबके थे भिन्न-भिन्न बाने,
झण्डे निशान थे पृथक्-पृथक्
प्रोत्साहित सब सीना ताने,
बढ़ते थे उनके सबल चरण
जिससे धरती थर्राती थी,
पग-पग वीरत्व बढ़ाने की
अत्युत्कट ध्वनियां आती थीं।

* उठो उठो हे देशवासियो ! अब कर्तव्य निभाना है।
मातृ-भूमि की रक्षा करने हम सबको डट जाना है।

जिस धरती में पले-पुसे हम, दाना खाया, नीर लिया,
सब कुछ देकर जिसने हमने, अब तक कुछ भी नहीं लिया,
जन्मभूमि के उस ऋण को अब, हमें सहर्ष चुकाना है।
मातृ-भूमि की रक्षा करने हम सबको डट जाना है।

मातृ-भूमि की रक्षा करते प्राणों की परवाह न हो,
लिये देश के हमें हमारे जीवन की भी चाह न हो,
देश-भक्ति का दृश्य अनूठा दुनिया को दिखलाना है।
मातृ-भूमि की रक्षा करने हम सबको डट जाना है।

आप सभी आधारभूत है, आप सभी से देश बना,
जीते जी कब छूट सकेगा, इससे अपनापन अपना,
जो भी हो, जैसे भी हो, इसका सम्मान बचाना है।
मातृ-भूमि की रक्षा करने हम सबको डट जाना है।

मातृ-भूमि के सबल सपूतों की यह सही कसौटी है,
वीरों के सुदृढ़ हाथों में सदा देश की चोटी है,
अवसर पर कर देश-सुरक्षा नव इतिहास सजाना है।
मातृ-भूमि की रक्षा करने हम सबको डट जाना है।

---

* लय—आज हिमालय की चोटी से

* गूंज उठा जनता का नारा,
अचल रहे साम्राज्य हमारा,
अटल रहे सम्राट् हमारा।

वीरों की सन्तान वीर हम,
हैं न किसी से किसी तरह कम,
होंगे सारे सफल उपक्रम,
चमकेगा वाह्लीक सितारा।

देश-भक्त हम अड़े रहेंगे,
सीना ताने खड़े रहेंगे,
नही झुकेंगे, कड़े रहेंगे,
तन मन जीवन अर्पण सारा।

डट करके हम लोहा लेंगे,
एक इञ्च भी भूमि न देगे,
निश्चित रण में विजय वरेंगे,
बाहुबली का सबल सहारा।

दोहा

बच्चे-बच्चे मे जगे देश-भक्ति के भाव।
सहज रूप वीरत्व का है यह प्रादुर्भाव।

* लज्जाजनक है जो कहा, पुत्र
सैनिक बन निकल रहे घर से
हाँ! है उनको माता
आशीष प्यार भरे कर से,
'मेरा पय-पान किया तुमने
उसको न कहीं लांछित करना
देना मत पीछे हट पाद
रण में जय-श्रमता को वरना'।

प्यारी दुलार भरी बहन
करती है मंगल तिलक वहीं,
'वीरो! माना घर जा। समर
हो कायरता का नाम नहीं,
रक्षा-बन्धन जिन हाथों पर
हमने बान्धा उनका पौरुष
दिखलाना देश-सुरक्षा में
होना न कहीं तुम टस से मस'।

कर रहीं पत्नियां विदा उन्हें
सोत्साहित प्रोत्साहित करतीं
'आओ, पौरुष का परिचय दो,
यह आशा रखती मा धरती.
वीरों की वीर नारियां यह.
कहलाने का सौभाग्य मिले,
हम सुने आपका विजय तूर,
मसनूर हृदय अरविन्द खिले'।

* नव सैनानी सह सेना ने फिर
किया भूप का अभिवादन,
तब तोपों की गड़गड़ाहटों से
कांप उठे हैं धरा, गगन,
हो शीघ्र प्रयाण रणांगण में,
लग रही उन्हें भारी क्षण-क्षण,
नरवर के सम्मुख पंक्ति-बद्ध
हो खड़े सभी करते यों प्रण।

लिए देश के तन, मन, जीवन सब कुछ भट चढ़ाएंगे,
इसकी सफल सुरक्षा करने संगर में डट जाएंगे,
विजय प्राप्त करके ही हम सब, राज दुर्ग में आएंगे,
प्राणों की परवाह नही है. प्रण को अटल निभाएंगे।

* * *

र ने शिविर सभा मे प्रतिनिधि परिषद बुलवाई,
चेहरों पर विस्मय की अस्फुट-सी थी परछाई,
राजा, महाराजा, सैनिक, मंत्री, राजकुमार,
म्बोधित कर चक्रीश्वर ने व्यक्त ि

* है परीक्षा का समय यह चूक मत जाना कहीं।
सावधानी और साहस से विजय होगी सही।

युद्ध जो अब तक लड़े, वे युद्ध केवल नाम के,
शूरवीरों के लिए वे थे सहज व्यायाम से,
किन्तु वीरों की कसौटी युद्ध सच्चा है यही।
है परीक्षा का समय यह चूक मत जाना कहीं।

की शिकारें हैं शशों की, सिंह से तुम कब भिड़े ?
आज तक तोड़ी लकड़ियां, वज्र से कब हो अड़े ?
काम टेढ़ा है यहां को कुछ भी लेना नहीं।
है परीक्षा का समय यह चूक मत जाना कहीं।

है नहीं कुछ भी हुआ, करना अभी अवशेष है,
क्या लड़े, अब तक कहो ? लड़ना अभी सब शेष है,
बाहुबलि से युद्ध करना, काम सीधा है नहीं।
है परीक्षा का समय यह चूक मत जाना कहीं।

† सैनिक एक बहल का भी कर सकता उथल-पुथल भारी,
एक-एक से बढ़कर उसके योद्धा वीर धनुर्धारी,
तक्षशिला का बच्चा-बच्चा बनना चाहता सेनानी,
जाग उठी है देश-भक्ति की क्रान्ति वहां पर तूफानी।

---

* लय—रंग लाती है हिना पत्थर पे पिस जाने के बाद

† रामायण

• लिए देश के तन, मन, जीवन सब कुछ भेंट चढ़ाएंगे,
इसकी सफल सुरक्षा करने संगर में डट जाएंगे,
विजय प्राप्त करके ही हम सब, राज दुर्ग में आएंगे,
प्राणों की परवाह नहीं है, प्रण को अटल निभाएंगे।

भरतेश्वर ने शिविर सभा मे प्रतिनिधि परिषद बुलवाई,
सबके चेहरों पर विस्मय की अस्फुट-सी थी परछाईं,
बड़े-बड़े राजा, महाराजा, सैनिक, मंत्री, राजकुमार,
सबको सम्बोधित कर चक्रीश्वर ने व्यक्त किए उद्गार।

* है परीक्षा का समय यह चूक मत जाना कही।
सावधानी और साहस से विजय होगी सही।

युद्ध जो अब तक लड़े, वे युद्ध केवल नाम के,
शूरवीरों के लिए वे थे सहज व्यायाम से,
किन्तु वीरों की कसोटी युद्ध सच्चा है यही।
है परीक्षा का समय यह चूक मत जाना कही।

की शिकारें है शशों की, सिंह से तुम कब भिड़े ?
आज तक तोडी लकड़िया, वज्र से कब हो अड़े ?
काम टेढ़ा है यहां की इञ्च भी लेना मही।
है परीक्षा का समय यह चूक मत जाना कही।

है नहीं कुछ भी हुआ, करना सभी अवशेष है,
क्या लड़े, अब तक कहो ? लडना अभी सब शेष है,
बाहुबलि से युद्ध करना, काम सीधा है नही।
है परीक्षा का समय यह चूक मत जाना कही।

† सैनिक एक वहन का भी कर सकता उथल-पुथल भारी,
एक-एक से बढ़कर उसके योद्धा वीर धनुर्धारी,
तक्षशिला का बच्चा-बच्चा बनना चाहता सेनानी,
जाग उठी है देश-भक्ति की क्रान्ति यहा पर तूफानी।

---

* लय—रंग लाती है हिना पत्थर पे घिस जाने के बाद

† रामायण

अनिलवेग, रत्नार्य आदि सारे उप-शासक हैं
प्रबल शक्तिधर, सबल साहसी देश-सुरक्षा को कटि
जेष्ठापत्य सोम, बाहू का रवि से बढ़कर तेज प्र
कर देते मैदान सफाचट जिधर चल पड़े उसके श

लघुनन्दन सुकुमार सिंहरथ नव निर्वाचित सेनाध्यक्ष,
है दुर्दम्य, अनन्य धनुर्धर, कहो कौन उसके समकक्ष ?
महायश, सिंहसेन, श्येनध्वज, सहस्रमूर्ति से राजकुमार,
एक दूसरे से बढ लड़ने अहंप्रथमिका मे तैयार।

बाहुबली का अतुल पराक्रम मेरे से न छुपा भाई,
सारी सेना को मथ सकती उसकी एक भुजा बांई,
उसको राज्य-प्राप्ति से बढ़कर भी रहती लड़ने की शौक,
है किसकी क्षमता जो उसकी निराबाध गति को दे रोक।

अतः हमें अब युद्ध-भूमि मे लेना है कौशल से काम,
वीरों ! साहस और निपुणता का होगा अच्छा परिणाम,
यह सुषेण सेना-अधिनायक रखना इसका पूरा मान,
इसके इंगित पर सब अपने न्यौछावर कर देना प्राण।

दोहा

पा आज्ञा सम्राट् की गूंज उठा रण तूर।
सेना सारी चल पड़ी ज्यों पानी का पूर।

रण रेखा पर हो गई दोनों की मुठभेड़।
उभय पक्ष में हो रही छुट-पुट छेड़ा-छेड़।

महाबल हाथियों की तरह सुभट देख समकत ।
एक-एक से भिड़ पड़े युद्ध सेना में दल ।

* म्यानों से निकली शमशार
मानो घन में बिजली दमकी,
बरछियां, कटारें, तेज शूल,
ये भालों की अणियां चमकीं,
तीखे बाणों की बौछारें,
मानो सावन की लगी झड़ी,
दहलित करती भू-मण्डल को
तोपें बन्दूकें बड़ी-बड़ी ।

प्रबल पराक्रम से वीरों ने दे सीने का जोर,
त्वरित मचा दी भरत भूप की सेना में भगदौड़,
त्राहि-त्राहि करते, लड़-खड़ते, भागे लेकर प्राण ।

'ठहरो-ठहरो क्यों भगते हो ? तक्षशिला है दूर,
धनाणी का दूध पिया है ? कहलाते हो शूर,
क्या अब तक के युद्धों में ऐसे रक्खा सम्मान ?

बड़े वेग से बाहुबली की सेना चढ़ी सजोश,
भरत-सैनिकों के तो मानो आज उड़ गए होश,
अतुल पराक्रम देख सभी को विस्मय हुआ महान ।

दोहा

देख सैन्य को खिसकते श्रीसुषेण कर कोप ।
चढ़ा-चढ़ा कोदण्ड को, पहने बख्तर टोप ।

पूर्ण खींचकर कान तक किया धनुष टंकार ।
जिसके रव से हो गया भू-नभ एकाकार

भरत सैनिकों में जगा तत्क्षण पौरुष पूर ।
बाहुबली बल को लगे करने चकना चूर ।

[illegible] सह बल का [illegible] ।
[illegible] पहुँचा दो यम-धाम ।

गीतक छन्द

तप्त हो रवि ताप से पड़ता महिष तालाब मे,
मथन करता नीर को उन्मत्त अपने भाव में
बहल-बल का प्रबल-बल वह मथन त्यों ही कर रहा
तोडता ज्यों कर्म लेकर क्षपकश्रेणी मुनि महा

धार खर तलवार की चलती चपल ज्यों चचला,
एक ही बस वार में वह काट देती थी गला,
बाण-वर्षा से समूचा गगन-तल आच्छन्न था,
सूर्य भी मानो उन्ही मे हो रहा प्रच्छन्न था।

अश्व-सूत समेत स्यन्दन, दण्ड से शतखण्ड थे,
मत्त गज-कुम्भस्थलों पर गदा-घात प्रचण्ड थे,
पारधी-भय से यथा मृग-यूथ अस्त-व्यस्त हो,
ओट में छुपने लगे सब भयाकुल संत्रस्त हो।

बाहुबल के सैनिकों की गरदनें कटने लगीं,
शवों से मानो समूची मेदिनी पटने लगीं,
देख भीषण दृश्य पवि-सी छातियां फटने लगीं,
सामने से यत्र तत्र अनीकिनी हटने लगी।

किन्तु क्रुद्ध कृतान्त-सा वह वीर बढ़ता जा रहा,
बढ़ रही प्रलयाग्नि मानो आज करने को स्वहा,
जिधर से वह निकल पड़ता रिक्त बस मैदान था,
समर भू में जहां देखो हो रहा घमसान

* 'ओ ठहर-ठहर हत्यारे ! यों उच्च स्वर से टोका ।
आकर के अनिलवेग ने बढ़ते सुषेण को रोका ।

अंकुश विहीन ओ हाथी ! क्यों मदोन्मत्त है पागल ?
मैं आज देखना चाहता तेरा प्रत्यक्ष भुजा-बल ।
इन पके हुए पत्तों को दलना क्या बात बड़ी है ?
यों कुचल चीटियों का दल,चलना क्या बात बड़ी है।
ले ! दिखला पौरुष अपना, है बराबरी का मौका ।
आकर के अनिलवेग ने बढ़ते सुषेण को रोका ।

चरते सूने खेतों में क्या लज्जा तुझे न आती ?
अड़ना ही था तो अड़ता, टंटोल स्वयं का साथी ।
बलवान एक तू ही है चक्री-सेना मे माना,
पर बाहुबली के कितने हैं जिनका नही ठिकाना ।
मैं तो उन सबमें छोटा, (पर) हूं प्रलय काल का झोंका ।
आकर के अनिलवेग ने बढ़ते सुषेण को रोका ।

रे ! खड़ा देखता क्या है ? यह संगर नही तमाशा,
तेरे से लड़ रण सीखू यह मेरी चिर अभिलाषा,
मैंने तेरे पौरुष की सुन रखी दान्त-कथाएं,
उनको साकार परखना चाहती है आज भुजाएं,
रे ! खिसक कहीं मत जाना मेरे को देकर धोखा ।
आकर के अनिलवेग ने बढ़ते सुषेण को रोका ।

दोहा

ले सिखलाता हूं अभी तेरे को मैं युद्ध ।
तीर चढ़ाया धनुष पर, हो सुषेण अति क्रुद्ध ।

---

* लय—हू बता-बता रे कावा

अनिलवेग ने वेग से मारा बाण अचूक।
चित्र ! त्वरित कोदण्ड के कर डाले दो टूक।

* कि ज्योंही टूट पड़ा कोदण्ड हुआ रोषारुण सेनानी।
हाथ में लेकर दण्ड प्रचण्ड बना है भीषण तूफानी।

आंखें लाल कराल काल-सा बढ़ने लगा सरोष,
हो निर्दय निर्घृण हिंसा से रहा न कुछ भी होश,
बना दी युद्ध-भूमि को रण-चण्डी की वेदी बलिदानी।

जिधर देखता जीवित मानव उधर छोड़ता बाण,
कभी दण्ड तो कभी गदा तो कभी कटार-कृपाण,
बहने लगा रुधिर वर्षा ऋतु में ज्यों सरिता का पानी।

चारों ओर रक्त से लथपथ हैं लाशों के ढेर,
हाय ! हो रहा जान-बूझकर आंख मूंद अंधेर,
क्या बल इसीलिए है तेरा रे ! रे ! मानव अभिमानी।

कुचल-कुचल शव रथ चलता है, घोड़े लाशें रौंध,
प्रलय काल की आज रही हो मानो बिजली कौंध,
हा हा ! शीश बिना क्षत-विक्षत धड़ें न जाती पहिचानी।

कहीं हाथ हैं, कहीं पांव, तो रुंड कहीं हैं मुंड,
समरांगण साक्षात हो रहा देखो रौरव-कुण्ड,
फिर भी है न नृशंस मनुष्य हृदय में कोई भी ग्लानि।

गीतक छन्द

देख सेना-दलन सेनाध्यक्ष सिंहरथ झट उठा,
चाप का संधान कर रण-क्षेत्र मे आकर डटा,
उभय सेनानी परस्पर बाण बरसाने लगे,
यथा शर-प्रतियोगिता मे शौर्य दिखलाने लगे।

समर-सागर मे उमड कर आ गया अब ज्वार-सा,
हुआ भू-नभ यान से भू-व्योम एकाकार-सा,
पता तक लगता न था हम कौन किसको मारते,
क्रुद्ध हो बढ़ने लगे नर-मेदिनी संहारते।

मानवों को मारते शस्त्रास्त्र थकते थे नही,
हृदय दारुण सदय कोई देख सकते थे नही,
सूर्य भी अति खिन्न हो ले ओट पश्चिम को गया,
दुखी दिल को दिखा ज्वाला क्रान्त होकर सो गया।

दोहा

भेरी बजी विराम की, युद्ध हो गया बन्ध।
वीरों के शस्त्रास्त्र सब हैं निश्चल निस्पन्द।

गीतक छन्द

श्रान्त दिन भर के सुभट हो क्लान्त घूम रहे वहां,
मरे कितने बच गरे, एकेक ढूंढ रहे वहां,
घायलों को कुछ चिकित्सा शिविर मे पहुंचा रहे,
मूर्छितों को हवा-पानी से सचेत बना रहे।

देख मरणासन्न मंगल पाठ मधुर सुना
'शरण है श्री ऋषभ' का यों धर्म भाव बढ़ा
शान्त कर सब वृत्तियां करवा रहे संलेषणा
कह रहे सब छोड़ चिन्ता करो स्वात्म-गवेषण

कई परिचित मृत शवों का कर रहे संस्कार
लग रहा सौहार्द-सा सेना बनी परिवार
अर्ध क्षत-विक्षत सभी शव दूर फेंके जा रहे,
मांस-लोलुप श्वान, जम्बुक, गीध उनको खा रहे।

* किसको किसके भविष्य का ज्ञान,
क्या जाने होगी अन्त क्या दशा ?
भाई ! भावी बड़ी बलवान,
उतारो अब तो मान का नशा।

जो थे सबके सम्मानित जन जिनकी पूजा करते।
छिन्न-भिन्न होकर शस्त्रों से त्राहि-त्राहि कर मरते।

जो मस्तक था मनन शक्ति का अक्षय भरा खजाना।
है दयार्द्र दिल देख-देखकर गीधों से नोचा जाना।

जिस हृदय स्थल में कितनों का स्नेह भाव था रहता।
आज खा रहे कौए, कुत्ते, रह-रह शोणित बहता।

जिन आंखों में तेज तरुण था, अरुण ओज की रेखा।
चोंचे [illegible] खोलें दारुण यह दृश्य न जाता देखा।

हृष्ट-पुष्ट सुन्दर वपु जिस पर ये मन स्वतः सुभाते।
काट-काट पैने दांतों से उसको जम्बुक खाते।

जिनके जन्मोत्सव पर भी घर-घर में मंगल माला।
पड़ा सड़ रहा है उनका शव कौन जलाने वाला।

फूलों की सुखमय शय्या में ये जो रंग-रचाते।
टुकड़े-टुकड़े हो उनके शव हाय ठोकरें खाते।

देख-देख संसार चित्रपट सहज विरक्ति होती।
खिले शान्तरस सरस स्नेह से जीवन दीपक-ज्योति।

●

अष्टम सर्ग

* प्रातर ज्योंही रवि ने अपने रश्मि-जाल को फैलाया,
गूंज उठी रण-भेरी, सबमें एक नया पौरुष छाया,
अपने-अपने वाहन वाने, ले अपने-अपने हथियार,
डटे सुभट संग्राम भूमि में, एक दूसरे को ललकार।

भिड़े हाथियों से हाथी, घोड़ों से घोड़े, रथ से रथ,
पैदल से पैदल आपस में, मचा रहे भीषण कलमष,
मार-काट मच गई क्षणों में, बने वीर राक्षस विकराल,
मानो रण प्रांगण में, ताण्डव नृत्य कर रहा काल कराल।

इधर सिंहरथ सेनानायक, भ्राता सिंहकर्ण के साथ,
लगा कुचलने भरत-सैन्यदल, आकस्मिक ज्यों उल्कापात,
दोनों वीर प्रभंजन गति से, आगे से आगे बढ़ते,
किसका साहस है जो आगे आकर के उनसे अड़ते।

आमुख पर आकर सुषेण ने उनका मार्ग किया अवरुद्ध,
नाना शस्त्रास्त्रों से भीषण होने लगा परस्पर युद्ध,
प्रखर तेज दोनों भ्राताओं का न सका कोई भी देख,
लगे खिसकने चक्री की सेना के तब सैनिक एकेक।

सेनाध्यक्ष सुषेण महाबल भी न टिक सका उनके पास,
मुख-मुख से आवाज यही है, वाह! वाह! बाहदुरो शाबाश,
एक ओर से अनिलवेग ने आकर धावा बोल दिया,
काट-बाढ़ में नर-शोणित का नया प्रनाला खोल दिया।

---

* रामायण

आने लगे भरत सेना में, तूफानों पर यों तूफान,
वीर अकेला अनिलवेग बरसाता है बाणों पर बाण,
छक्के छूट गए सुभटों के, हक्के-बक्के ग्रस्त-व्यस्त,
बोला सूचक भरतेश्वर से प्रभो ! परिस्थिति संकट ग्रस्त ।

दोहा

बाहुबली का निकट भट अनिलवेग दुर्दम्य ।
खरतर उसके वार हैं, एक-एक अक्षम्य ।

यदि स्थिति ऐसी ही रही बड़ा कठिन है काम ।
अनिलवेग से भट नहीं कर सकते संग्राम ।

भृकुटि चढ़ा भरतेश ने छोड़ा सहसा चक्र ।
जा, ला उसका काट शर है जो इतना वक्र ।

* अति तीव्र वेग से चक्र चला
गुंजित करता धरणी अम्बर.
रह-रह उठती थी ज्वालाएं
रवि से बढ़ उसका तेज प्रखर,
नभ-पथ से आकर अकस्मात्
वह अनिलवेग पर छूट पड़ा,
धड़ से शिर अलग किया मानो
नक्षत्र ज्यो

सुन प्रनिलवेग की यों मृत्यु
वीरों के गहरी चोट लगी,
सुनते ही सहसा बाहुबली
के मन में क्रोधाग्नि जगी,
वे गर्ज उठे प्रन्याय बड़ा
जो प्रकस्मात् हत्या करना,
जो वीर प्रवृत्ति थी समझ में
प्राकर के उसमें था लड़ना।

सत्ता के मद में चूर क्रूर
भव न्याय-नीति को भूल गया,
जो मैं कहता हूं वही ठीक
अपनी में में ही फूल गया,
बहली के वीर नहीं ऐसे
जो मनमाना प्रन्याय सहे,
शठता का प्रत्युत्तर शठता
मिलने वालों से मिले रहे।

वह प्रनिलवेग है मरा नहीं,
है मरा भरत का न्याय यहां,
वह पूज्य पिताजी की शिक्षा
सारी ही प्राया छोड़ कहां ?
यदि इसी प्रकार प्रवाह रहा,
संसार मुंह पर थूकेगा,
इस एक खून का बदला प्रब,
उसके लाखों से चूकेगा।

भागे लगे भरत सेना में, तूफानों पर
घोर अकेला अनिलवेग बरसाता है बाणों
इसके छूट गए सुभटों के, हक्के-बक्के
बोला सूचक भरतेश्वर से प्रभो ! परिस्थिति

दोहा

बाहुबली का निकट भट अनिलवेग
खरतर उसके वार हैं, एक-एक म

यदि स्थिति ऐसी ही रही बड़ा कठिन है
अनिलवेग से भट नहीं कर सकते

भृकुटि चढ़ा भरतेश ने छोड़ा सहर
जा, ला उसका काट शर है जो इत

* अति तीव्र वेग से चक्र
गुंजित करता धरणी अ
रह-रह उठती थी ज्वा
रवि से बढ़ उसका तेज
नभ-पथ से आकर अक
वह अनिलवेग पर छूट
धड़ से शिर अलग किया
नक्षत्र व्योम से टूट

दोहा

ले आज्ञा भरतेश से श्री महेन्द्र, धरणेन्द्र।
उभय बढ़े रत्नार्य से ज्यों उन्मत्त गजेन्द्र।

पा अवसान महेन्द्र ने गदा घात कर क्रूर।
मिट्टी के घट ज्यों किया रत्न शीश चकचूर।

अन्धे आंधी की तरह, होकर दोनों वीर।
वहली के बल में घुसे चीर सैन्य प्राचीर।

देखा ध्वंस स्वपक्ष का उठे युगल योद्धार।
सुगति, अमितकेतु त्वरित आए कर हुंकार।

प्रथम-प्रथम मुठभेड़ में किये करारे वार।
झट धरणेन्द्र, महेन्द्र को मार किये उस पार।

* जब सुगति केतु अरि सेना पर टूटे।
उनके आते ही सबके छक्के छूटे।

घुसते ही लगे तड़ातड़ तीर चलाने,
करवालों से कितने मारे कहा जाने ?
आहत हत कर ऊपर से कसते ताने,
चपल चपला से लगे दरप दिखलाने,
वे खेल रहे रण-भू के खेल अनूठे,
उनके आते ही सबके छक्के छूटे।

---

* लावनी

यों कहते बाहुबली उठे शान्ति गम्भट।
निडर रत्नार्य तब बदला यों करवट।

'हम सबके रहते हुए कहाँ जा रहे नाथ ?
प्रभो ! कुमत देता उन्हें स्वयं उन्हीं का पाप।'

ले निदेश बाहुबलि का चला वीर रत्नार्य।
चक्रि-चमू में जा धंसा, बन पलायनाचार्य।

रत्नार्य वीर यों धाया चक्री बल को ललकारता।
जो पड़े सामने उनको मृत्यु के घाट उतारता।

बिजली के सम तड़ितपात ज्यों उछल पड़ा अम्बर से।
सभी हो गए आकुल-व्याकुल सैनिक उसके डर से रे!

आते ही घमसान मचाया, मृगपति ज्यों मृगगण में।
मची खलबली एक बार तो सारे समरांगण में रे!

कइयों को कन्दुक की नाईं, टांगे वीर उछाले।
बरछी से कई तरछ-बरछ कर अंगहीन कर डाले रे!

हक्की-बक्की सारी पलटन हाहाकार मचाती।
उसके भय से कइयों की तो फटी जा रही छाती रे!

भगदड़ मची भयंकर रण में एक-एक से आगे।
ज्यों बिल्ली से डरते चूहे पूंछ दबाकर भागे रे!

दोहा

ले आज्ञा भरतेश से श्री महेन्द्र, धरणेन्द्र ।
उभय अड़े रत्नार्य से ज्यो उन्मत्त गजेन्द्र ।

पा अवसान महेन्द्र ने गदा घात कर क्रूर ।
मिट्टी के घट ज्यों किया रत्न शीश चकचूर ।

अन्धे आधी की तरह, होकर दोनों वीर ।
वहली के बल मे घुसे चीर सैन्य प्राचीर ।

देखा ध्वंस स्वपक्ष का उठे युगल योद्धार ।
सुगति, अमितकेतु त्वरित आए कर हुंकार ।

प्रथम-प्रथम मुठभेड़ में किये करारे वार ।
झट धरणेन्द्र, महेन्द्र को मार किये उस पार ।

* जब सुगति केतु चक्री सेना पर टूटे ।
उनके आते ही सबके छक्के छूटे ।

घुसते ही लगे तड़ातड तीर चलाने,
करवालों से कितने मारे क्या जाने ?
आहत हत कर ऊपर से कसते ताने,
चंचल चपला से लगे हृदय दिखलाने,
वे खेल रहे रण-भू मे खेल अनूठे,
उनके आते ही सबके छक्के छूटे ।

---

* लावणी

यह देख उपक्रम सैनिक सब घबराए,
कितनों ने भाग-दौड़कर प्राण बचाए,
रथ छोड़ चले कुछ, अश्व छोड़कर भागे,
बीरत्व छोड़कर, अस्त्र-शस्त्र भी त्यागे,
आ पड़े कि जिनके भाग्य देवता रूठे।
उनके आते ही सबके छक्के छूटे।

अप्रतिहत गति से तत इत घूम रहे हैं,
गज मदोन्मत्त ज्यों रण में झूम रहे हैं,
बस जिधर निकल जाते करते मनमानी,
क्यों सोचें वे किसकी क्या होती हानि ?
नर-मुण्ड चूटते ज्यों खेतों में बूंटे।
उनके आते ही सबके छक्के छूटे।

दोहा

सैनिक प्राण बचा रहे लेट शवों के साथ।
आतंकित भयभ्रान्त हो पड़े न इनके हाथ।

गीतक छन्द

जिधर जीवित देखते थे, लपक पड़ते उधर हा,
हाय ! हत्या की वहां सीमा नहीं कुछ भी रही,
मार डालो, काट डालो, कर रहे ओगाज यों,
झपट पड़ते सैनिकों पर, पंखियों पर बाज ज्यों।

अरे ! मानव ! मनन कर, सामा अपेक्षित सर्वदा,
जहां सीमा टूटती, पग-पग उमड़ती आपदा,
देख अति हिंसा, दिवाकर भी न उसको सह सका,
जा छिपा अस्ताद्रि पर क्षणभर न नभ में रह सका।

दोहा

अपने-अपने शिविर मे पहुंचे सैनिक श्रान्त ।
करते है विश्राम अब हो करके उपशान्त ।

ज्यो हा होता उदय रवि छिड़ जाता सग्राम ।
स्वयं स्थगित होता समर हो जाते ही शाम ।

क्रमशः बढ़ता हो गया आपस का सघर्ष ।
थके नही अब भी सुभट बीते बारह वर्ष ।

गीतक छन्द

इस अवधि मे क्या पता, कितना हुआ घमसान है,
हन्त ! कितने स्वर्ग से घर हो गए श्मशान है,
वीर, योद्धा, सुभट कितने सर्वदा को सो गए,
हाथ प्राणो से यशस्वी हाय ! कितने धो गए ।

हा ! करोड़ों तरुणियो का लुटा भाग-सुहाग है,
अरे ! मानव ! कब मिटेगा यह चिरन्तन दाग है,
खेद ! कितने बाल-बच्चे पितृ, भ्रातृ विहीन है,
हुआ कितनो का कुल-क्रम इस समर मे क्षीण है ।

लिए मन मे कल्पनाए काल्पनिक कितने मरे,
किन्तु रो ! रण-चण्डी के खप्पर नहीं तेरे भरे,
कवि गए कितनेक जिनकी, कौन अब गणना करे,
दार्शनिक, मर्मज्ञ, कोविद क्षय हुए कितने अरे !

साथ उनके हो गई कितनी कलाएं लुप्त
युद्ध की भारी क्षति यह क्या किसी से गुप्त ०,
देखते ही अमित जन-धन का हुआ संहार है,
हाय ! फिर भी रक्त की प्यासी खड़ी तलवार है।

* भरतेश्वर की शिविर सभा में सभी उपस्थित राजकुमार,
मुख्य-मुख्य राजा, योद्धा, मंत्री करते गम्भीर विचार,
बोला श्री सुषेण सेनापति राजन् ! स्थिति है बड़ी जटिल,
बाहुबली के सभी साहसी, शूरवीर हैं बड़े अटल।

एक-एक से बढ़ते-चढ़ते बहली के योद्धा खुंखार,
है न किसी की क्षमता ऐसी उनका झेल सके जो वार,
ज्यों-त्यों करते अन्त एक का, उससे बढ़-चढ़ आता अन्य,
देश-भक्ति का भरा हुआ है उन सबमें उत्साह अनन्य।

देव ! हमारी क्रोड़ों की संख्या लाखों में है आई,
पतझड़ के पत्तों की नांई सारी सेना अलसाई,
थे हम अधिक और वे थोड़े, किन्तु हो रहा उलटा आज,
बहली के वीरों ने तो हम सबका पासा पलटा आज।

बाहुबली के पुत्रादिक सज स्वयं समर में आते हैं,
अपने बल को प्रोत्साहित करते दो हाथ दिखाते हैं,
राजन् ! राजकुमार हमारे रखते बहुत उपेक्षा हैं,
ऐसे अवसर पर हम सबको उनकी बड़ी अपेक्षा है।

आहव में है उचित कहा तब, रखना जो परिजन का मोह,
मैं क्या कम है उनसे स्वामिन् ! डटकर यदि करदें विद्रोह,
हमने देखा स्पष्ट रूप से, ज्योंही वे लख आते हैं,
त्योंही राजकुमार हमारे इधर-उधर छिप जाते हैं।

परिजन-प्रेम सताता इनको, तो क्यों किया युद्ध प्रारम्भ,
अनुकम्पा व्यामोह मोह यह दुनिया को आंखों में दम्भ,
वे तो इतने क्रूर, इधर ये दयावान बन जाते हैं,
इन्हे पता क्या, इससे हम सब क्षति अत्यन्त उठाते हैं।

यह सुनते ही भरतेश्वर ने झांका सबकी ओर सरोष,
सूर्यकुमार खड़ा हो बोला, तत्क्षण सबमें भरते जोश,
सूर्योदय होते ही कल हम युद्ध-भूमि में जाएंगे,
बाहुबली अपवाद सभी को प्रलयधाम पहुंचाएंगे।

दोहा

राजकुमारों में जगा एक नया उत्साह।
आज त्रियामा बन चली रात-यामा की राह।

इधर सूर्य अपनी किरणें ले आया है नभ-प्रांगण में,
इधर सूर्य शार्दूल आदि भ्राताओं सह आया रण में,
बहली की वरुथिनी में तो छूटा जीने का विश्वास,
द्वेष-राग की प्रबल शक्ति ज्यों करती आत्म-गुणों का ह्रास।

दोहा

सुगति, केतु उनसे अड़े, लड़े शौर्य के साथ।
हार-जीत तो अन्त में है भावी के हाथ।

---

* रामायण

गीतक छन्द

सुगति ने सह केतु रथ शार्दूल का तोड़ा तभी,
नाग-पाश चला दिया है, हो रहे विस्मित सभी,
बांधकर शार्दूल को डाला स्वरथ में एकदम,
उछलता अभिमान से हा ! वीर हैं सर्वोच्च हम।

दोहा

नागपाश शार्दूल ने चला गारुड़ी मन्त्र।
तत्क्षण तोड़ा, हो गया अब वह पूर्ण स्वतन्त्र।

बाहिर झपटा उछल ज्यों गिरि-गह्वर से शेर।
सुगति तुम्हारी मृत्यु में अब मत समझो देर।

यों कहकर तलवार से सिद्ध कर दिया काम।
और सूर्य ने केतु को पहुंचाया यम-धाम।

* वहली की अनीकिनी मे थे
वे सर्वेसर्वा वीर युगल,
छाया चेहरों पर सन्नाटा
सारी सेना में उथल-पुथल।
सुन वीर-मृत्यु उन दोनों की
ाहुबली होकर रोपारुण,
ाए पुत्रों को साथ लिए
र्राया सारा समरांगण।

* भीषण घमसान मचाने, आए बाहुबली।
सबको दो हाथ दिखाने, आए बाहुबली।

गरम-गरम निःश्वास वदन से,
रक्त बरसता युगल नयन से,
काट रहे हैं ओष्ठ-रदन से,
लगे सभी घबराने।

पवन चली ज्यों प्रलयंकारा,
छाया है भय-भैरव भारी,
पदाघात से मानो सारी,
धरा लगी थर्राने।

आकुल-व्याकुल सभी सुभट है,
सबसे इनका काम विकट है,
अब हम सबकी मौत निकट है,
क्या होगा क्या जाने।

यह तो अजब-गजब है माया,
मानो सोया सिंह जगाया,
क्या यम रौद्र रूप कर आया?
प्रलयधाम पहुंचाने।

की उत्पन्न सभी में हलचल,
पवन बढ़ाती ज्यों दावानल,
बहली के दल का पौरुष बल,
सौ-सौ गुना बढ़ाने।

---

* लय—तुच्छ स्वार्थ तजो

दोहा

सिंहनाद का तुमुल रव और धनुष-टंकार।
मचा भरत की सैन्य में भीषण हाहाकार।

एक सूर्य को छोड़कर सभी भरत के नन्द।
नौ-दो-ग्यारह हो गए ज्यों प्रातर उडु-वृन्द।

बढ़े बाहुबली वेग से करते भुज-व्यायाम।
रोका आकर सूर्य ने, 'हे पितृव्य! प्रणाम'।

* "चिरंजीव रह वत्स! अभी मत ठहर यहां, जा और कहीं,
मेरे सम्मुख टिकना तेरा सूर्य! इस समय ठीक नहीं,
जितने पुत्र भरत के उनमें रहा एक है तू ही वीर,
तेरे पर चलते ये मेरे सहसा रुक जाते हैं तीर।

लड़ना ही यदि तुझे भतीजे! लड़ तू सोम आदि के साथ,
मेरे से लड़ना बेटा! यह तेरे लिए बुरी है बात,
हाथी लड़े हाथियों से जा, सिंहों से उसका क्या काम?
तेरे पर हार्दिक वत्सलता तुझे दिखाऊं मैं क्या स्याम?"

† "चाचाजी! सुन्दर अवसर है,
भवदीय सपर्या करने का,
कब मिल पाएगा ऐ पितृव्य!
यह समय आपसे लड़ने का,
लड़ने का एक बहाना है
दिखलाना चाहता हूं भुज-बल,
सीखा जो मैंने रण-कौशल,
मैं कितना उसमें रहा सफल।"

* रामायण
† सहनाणी

दोहा

उभय पक्ष मेरी विजय, मैं क्यों सोचूं हार?
बात-बात मे हो रही बाणों की बौछार।

एक-दूसरे को बचा, चला रहे हैं बाण।
बाण-बाण क्या बढ़ रहा, भीषण नर-घमसान।

गीतक छन्द

सूर्य-आयुध बीच ही में काटते बाहुबली,
सूत-केतु-रथाश्व पर शर मारते बाहुबली,
क्रोध मे आ सूर्य जो भी छोड़ता हथियार है,
किन्तु उसके वार सारे हो रहे बेकार हैं।

* चिन्तित सिहरथ सेनानायक, सोम आदि सब राजकुमार,
देख वृत्ति अनुचित विपक्ष की रोषारुण कर रहे विचार,
'हुए बहुत दिन ऐसे लड़ते, आज करेंगे युद्ध समाप्त,
लाते है प्रयोग मे अपने नव्याविष्कृत अस्त्र विषाक्त।'

उस युग के अणु-अस्त्र-शस्त्र वे कर सकते भीषण संहार,
उद्जनबम, ऐटमबम जैसे घोर प्रलय करने तैयार,
उधर सुषेण आदि भी उद्यत, कहो! कौन किससे कम है?
वे न वार करदे पहले यह दोनों मे भारी भ्रम है।

दोहा

समझा पटल कृतान्त क्या करना चाहता लोप?
विश्व निगलने को हुआ या यह प्रलय प्रकोप?

---

* रामायण

नवम स
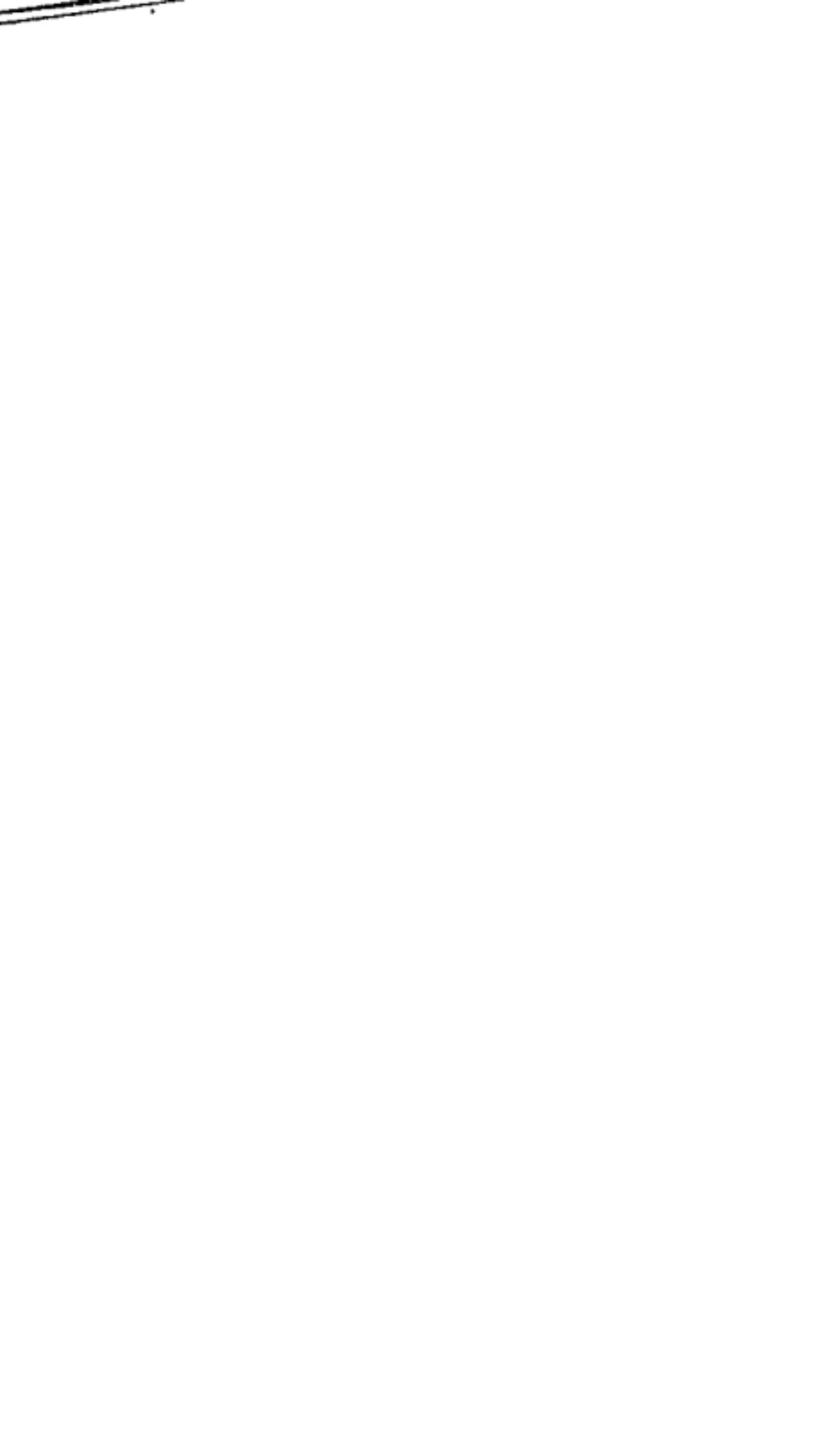
दोहा

मानव की तो बात क्या देव हुए भय-भ्रान्त।
विकट समस्या पर सभी करते चिन्तन शान्त।

* क्या होने वाला है सारी दुनिया का यों संहार ?
हो विषण्ण मन लगे सोचने सुर इसका प्रतिकार।

जो पागल है अपनी धुन में,
अति रोष भरा जिनके मन में,
क्षणभर में अभी मचा देंगे ये जग में हाहाकार।

कोई न बचेगा वीर यहां,
उत्साही तरुण सुधीर यहां,
वृद्धों, बालक, महिलाओं का रह जाएगा ससार।

इनको न अभी है कुछ सुध-बुध,
तैयार खड़े ताने आयुध,
हो जाए कहीं नहीं यह सृष्टि क्षणभर में कातार।

कोई मानव की शक्ति नहीं,
इनको दिखलाए मार्ग सही,
अब हमें खोलना होगा इनके समझौते का द्वार।

---

* लय—पीर पीर क्या करता

दोहा

सारी स्थिति का शीघ्र यों करके चिन्तन ठोस।
देवों ने आकाश में किया दिव्य उद्घोष।

* 'बन्द करो रे ! बन्द करो, लड़ना अब सब बन्द करो।
मन्द करो रे ! मन्द करो, कुछ क्रोधानल मन्द करो।'

जूझ रहे सारे बलवान, दिया न इस वाणी पर ध्यान,
चलने को उद्यत हथियार, पुनः देवता रहे पुकार,
'इनको अब निस्पन्द करो ! बन्द करो रे ! बन्द करो।

आदीश्वर प्रभु का आदेश, सकृत् रोक दो सारा क्लेश,
दो इस पर सब ध्यान विशेष, दूर करो अपना आवेश,
आपस में मत द्वन्द्व करो ! बन्द करो रे ! बन्द करो।'

दोहा

आदीश्वर का नाम सुन आक्रान्ता सब शान्त।
मानो चित्रित भित्ति पर आहव का वृत्तान्त।

* कहने लगे पुनः निर्जर, भरत-बाहुबल को जाकर,
ज्यों-त्यों हम समझाते हैं, सन्धि-पत्र लिखवाते हैं,
तुम सारे आनन्द करो ! बन्द करो रे ! बन्द करो।'

दोहा

आ सुपर्व थी भरत से बोले, हे मतिमान !
नाहक क्यों करवा रहे यह भीषण घमसान ?

* मानो......भरत महान,
भाई से लड़ने में सारी बातों का नुकसान ।

आदीश्वर ने सौंपी इन हाथों में भरत ! रखवाली,
क्या है उचित आपको करना, यों इसका अवसान ?

आप बड़े है अतः बड़प्पन रखना सदा अपेक्षित है,
क्या कर्तव्य आपका होता, यहां जरा दें ध्यान ।

जीत लिए षट्-खण्ड, एक बहली की छोड़ें आशंसा,
इससे प्रत्युत आर्य ! बढ़ेगा, भूतल में सम्मान ।

राजन् ! यह तो सोचें, रण में कितनी हानि होती है ?
बात-बात में लुटे, लुटेंगे इन क्रोडों के प्राण ।

अतः आपसे नम्र निवेदन, अपना हृदय विशाल करें,
रक्षक बने न भक्षक, होकर महा-महिम मतिमान ।

क्षमा-दान देकर के जग में, सुयश पताका लहराएं,
है विश्वास आप हम सबका, अनुनय लेंगे मान ।'

दोहा

सुर-अनुनय सुन श्रीभरत बोले हो विक्षुब्ध ।
'देवानुप्रिय ! राज्य-धन में न कभी मैं लुब्ध ।

† देवों ! होकर विवश मुझे तो यह लड़नी पड़ रही लड़ाई ।
मैं क्या करूं ? बना अविनीत अहो ! मेरे से मेरा भाई ।

---

* लय—वाह ! वाह ! मगन दिवान

† लय—दुनिया राम नाम

विजय प्राप्त कर अखिल विश्व की, बरसों से वनिता आया,
बारह वर्ष सहर्ष विजय-उत्सव भी जोरों से छाया,
फिर भी उसने शिष्टाचार निभाने दी तक नहीं बधाई।

दूत भेजकर मैंने उसको बड़े स्नेह से बुलवाया,
इतना करने पर भी वह अभिमानी वहां नहीं आया,
उलटे-सुलटे लांछन देते उसको लाज न कुछ भी आई।

उसके राज्य, धान्य, धन, वैभव की है मुझे न चाह जरा,
लोक-शास्त्र सम्मत अनुशासन हो यह है परवाह जरा,
कहां तक सहूं बताओ में उसकी, उच्छृङ्खलता अकड़ाई।

इधर न भ्रात विनीत, उधर यह चक्र न जाता वनिता में,
'किं करोमि न करोमि' सुपर्वों! बहता दुविधा-सरिता में,
सारे विफल प्रयत्न, बाध्य हो आखिर करनी पड़ी चढ़ाई।

* नत हो बाहुबल एक बार
यह चक्र स्थान पर पहुंचादे,
फिर राज्य समूचा वह ले ले,
पर उलझी गुत्थी सुलझादे,
जितने डग बाहु भराएगा
उतने ही मैं भर सकता हूं,
अब कहो अधिक इससे ज्यादा
देवों! मैं क्या कर सकता हूं?

दोहा

'है न्यायोचित बात यह', बोले सुर मुग्धमग्न।
अब जाते हैं हम उधर अवरज के आगम्न।

* सहनाणी

सम्भव है वे भी करें प्रस्तुत अपना तर्क।
दृष्टि-दृष्टि में बहुत कुछ रह सकता है फर्क।

मानेंगे तो ठीक है वरना नर-शिर मोड़।
करे लड़ाई बन्द सब द्वन्द्व युद्ध को छोड़।

'स्वीकृत देवाणुप्पिया ! यह सुन्दर प्रस्ताव।
मैं भी चाहता हूं सहज थोड़े मे सुलझाव।'

सोरठा

कहने लगे सुपर्व, जा बाहुबल सन्निकट।
'उर्जस्वीश ! अखर्व ! चिरं नन्द जयता चिरं।

* बहलीश महाबल बाहुबली, अब भीषण रण को बन्द करें।
है सविनय अनुनय हम करते, कृपया इस पर कुछ ध्यान धरें।

श्री श्री आदीश्वर के नन्दन यों लड़ते आप परस्पर में।
राजन् ! है कितनी बात बुरी प्रभु का पावन उपदेश स्मरें।

यों अग्रज के सह अवरज का लड़ना है लालन ! उचित नहीं।
कर शान्त क्रोध, अवरोध युद्ध सबमें अनुपम आनन्द भरें।

देखो क्षण भर तो दृष्टि उठा प्रत्यक्ष प्रेत-वन रण-भूमि।
शोणित की बहती निर्झरिणी, हा कितने नर बेमौत मरे।

मानव के इस उत्तम तन को चोंचों से नोच रहे वोए।
खाते है जम्बुक, गीध, श्वान, कितने क्षत-विक्षत शव बिखरे।

* लय—गुरुदेव तुम्हारे चरणों में

वड़ा माना भरत को यह वस्तुतः ही भूल की,
अर्चना की फूल के बदले विषैले शूल की,
यहा आया क्यों कहो ? क्या मांगता यह कर्ज है ?
स्वयं की रक्षा उचित करना हमारा फर्ज है।

अब बताएं आप मैंने क्या किया अन्याय है ?
युद्ध के अतिरिक्त कोई भी न और उपाय है,
लड़ा बारह वर्ष अब कैसे उसे यों छोड दूं ?
आ रही जो विजय-लक्ष्मी कहो कैसे मोड़ दूं ?

मार कितनो को किया षट्-खण्ड पर अधिकार है,
रक्त-रंजित राज्य को धिक्कार है, धिक्कार है,
मुझे अपने आपमें ही पूर्णतः सन्तोष है,
भरत पर मेरा न कोई राग है ना रोष है।

रोष है तो मुझे उसके लोभ पर, अन्याय पर,
दगा देने मे मुझे रखी नही कोई कसर,
वही अपने आप बिस्तर बान्धकर जाए चला,
सोचले, वह समझले, उसका इसीमे है भला।

है वही आक्रमणकारी, उसे आप हटाइए,
नम्र शब्दों में कहे, कृपया यहा से जाइए,
मुझे क्या डर देवताओं ! पक्ष मेरा न्याय है,
चला जाए वह यहा से सुगम शान्ति उपाय है।'

दोहा

'आयुधशाला मे नहीं जाता उनका चक्र।
कृपया पहुचा दें उसे वनकर आप अवक्र।'

* यह सुनकर बहनों के बल में
अत्यन्त हर्ष का स्रोत बहा,
अब विजय हमारी निश्चित है
श्री तक्षशिलाधिप वीर महा,
इनका शारीरिक पौरुष बल
भरतेश्वर से है अधिक कहीं,
साधारण वारण गन्धहस्ती को
जीत सकेगा कभी नहीं।

चक्री सेना में सुनो जहां
सर्वत्र एक ही है हलचल,
इनसे कैसे लड़ पाएंगे
कि भरतराज इतने कोमल,
जीवन में अपने हाथों से है
अधिक नहीं संग्राम किया,
बस केवल एक इन्होंने तो
आज्ञा देने का काम किया।

सेना से जीत नरेश्वर की
नृप नही स्वयं आकर लड़ते,
अपने बल के बल पर ही वे
आहव में जय कमला वरते,
हम तो सब यही मानते है
ज्यों-त्यों चक्रीश्वर विजय वरे,
पर साक्षी देता नही हृदय
जाने जिन भावी-भाव अरे !

---

* सहनाणी

गीतक छन्द

'उसे बनना चक्रवर्ती, मुझे तो बनना नहीं,
इस विषय में स्पष्ट कहना आपसे मेरा यही,
नमाले यह चक्र को, पर बाहुबल नमता नहीं,
मुझे निष्ठुर और निर्मम बन्धु से ममता नहीं।'

* 'चाहते हैं श्री भरत नमाना, आप न नमने को तैयार,
झगड़ा आपस में दोनों का क्यों सेना का क्षय बेकार,
द्वन्द्व युद्ध स्थापित अब करके बन्द कीजिए नर-संहार,
यह प्रस्ताव हमारा होगा निर्विकल्प निश्चित स्वीकार।'

गीतक छन्द

'है मुझे स्वीकार सादर आपकी यह मन्त्रणा,
व्यर्थ की यह मिटे हिंसा प्रलय की आमन्त्रणा,
आप भी भगवान के हैं भक्त सच्चे सद्गुणी,
उचित सम्मति दी समय पर आपका मैं हूं ऋणी।'

* 'सुनो-सुनो हे सबल सैनिकों ! पुनः हो रही नभ वाणी,
बन्द आज से है तुम सबका युद्ध परस्पर तूफानी,
इन सारे शस्त्रास्त्रों को अब शस्त्रालय में बन्द करो,
बड़े प्रेम से मिलो-जुलो, आपस में सब आनन्द करो।

भरत और बाहुबल दोनों ने प्रस्ताव किया स्वीकार,
दृष्टि, नाद, भुज, दण्ड परस्पर द्वन्द्व युद्ध ये होंगे चार,
है इनमें देवों की साक्षी आप लोग भी देखें शान्त,
धैर्य, स्थैर्य, व्यवस्था की है आवश्यकता यहां नितान्त।'

---

* रामायण

* यह सुनकर बहुतों के मन में
अत्यन्त हर्ष का स्रोत बहा,
अब विजय हमारी निश्चित है
श्री तक्षशिलाधिप वीर महा,
इनका शारीरिक पौरुष बल
भरतेश्वर में है अधिक कहाँ,
साधारण वारण गन्धहस्ती को
जीत सकेगा कभी नहीं।

चक्री सेना में सुनो जहा
सर्वत्र एक ही है हलचल,
इनसे कैसे लड पाएगे
कि भरतराज इतने कोमल,
जीवन मे अपने हाथो से है
अधिक नही संग्राम किया,
बस केवल एक इन्होने तो
आज्ञा देने का काम किया।

सेना से जीत नरेश्वर को
नृप नही स्वयं आकर लडते,
अपने बल के बल पर ही वे
आहव मे जय कमला वरते,
हम तो सब यही मानते हैं
ज्यों-त्यों चक्रीश्वर विजय वरे,
पर साक्षी देता नही हृदय
जाने जिन भावी-भाव अरे !

---

* सहमाणो

दोहा

'उभय पक्ष का शान्त हो सत्वर युद्धावेश।'
सेनाध्यक्षों ने किया वैधानिक आदेश।

किया सैनिकों ने विराट एक साथ उद्घोष,
स्थगित युद्ध पारस्परिक हुए सभी खामोश।

शान्त सैनिकों से भरा आज युद्ध मैदान।
देवों से आकाश में मानो तना वितान।

एक ओर 'जय भरत का' गगन-भेदी है शोर।
'जय बाहुबल' तुमुल रव, आज दूसरी ओर।

वाद्यों की भुंकार में वनिता, बहली-नाथ।
अपनी-अपनी ओर से पहुंचे स्थल पर साथ।

* 'बाहुबल भाई ! अब तो तू मेरा कहना मान ले।
निश्चित है यों युद्ध में, अपने दोनों का नुकसान रे!

भाई ! तू तो सर्वदा था मेरा पूर्ण विनीत रे!
आज गया तेरा कहां वह सारा प्रेम पुनीत रे!

देख दुराग्रह से हुआ यह भीषण नर-संहार रे!
अस्तु, हुआ सो हो गया कुछ अब तो बात विचार रे!

जाएगा भाई ! कहीं इस द्वन्द्व युद्ध में हार रे!
इससे अच्छा है यही, झुक चरणों में एक बार रे!'

* लय—भीखणजी स्वामी भारी मर्यादा बांधी

* 'यदि भ्रातृत्व भरत में है तो मैं सुविनीत बाहुबल हूं,
यदि भाई ! तू बने न पावक तो मैं शीतल ही जल हूं,
क्या आक्रामक बन मेरे पर आते लाज नहीं आई ?
बना लुटेरा शत्रु अरे ! तू रहा कहां मेरा भाई ?

रक्तपात का कारण है तू क्यों देता है दोष मुझे ?
इतनी ही वत्सलता थी तो यहां आना था नहीं तुझे,
बता भरत ! बाहुबल का बल क्या तेरे से है अज्ञात ?
अरे ! शलभ बन करके क्यों लेता दीपक में झपापात ।

तेरे शोषण, अन्यायों के कितने दू मैं तुझे प्रमाण,
अपनी काली करतूतों को देख जरा तू देकर ध्यान,
द्वन्द्व युद्ध ही बतलाएगा किसकी विजय-हार होगी ?
किसने सुयश ध्वजा फहराई ? किसने दुविधाएं भोगी ?'

दोहा

उषा समय प्राची यथा उभय क्रोध से लाल ।
थर-थर्राती मेदिनी आया ज्यों भूचाल ।

सोत्सुक उत्कधर हुए अवनि-अभ्र मे सर्व ।
अब प्रारंभिक घोषणा करते सविधि सुपर्व ।

---

* रामायण

दशम सर्ग

दोहा

"शान्त, शान्त, हो शान्त अब द्वन्द्व युद्ध अविलम्ब।
भरत, बाहुबल का प्रबल होता है प्रारम्भ।

दृष्टि-युद्ध होगा प्रथम होने तक सूर्यास्त।
झपक जाय जिसकी पलक होगा वही परास्त।

गीतक छन्द

नयन अनिमिष उभय बन्धव देखते थकते नही,
यो परस्पर दृष्टि-शायक फेंकते थकते नही,
एक पुद्गल-दृष्टि मानो ध्या रहे मुनि ध्यान ज्यों,
क्षपक श्रेणी प्राप्त करते ध्यान मे गलतान ज्यों।

जय-पराजय को जगह यदि आत्म-शोधक दृष्टि से,
हृदय को सिक्त करते शान्त रस की वृष्टि से,
तो पहुंचते देर क्या थी शिव-सदन के द्वार पर,
अनाद्यन्त, दुरन्त, स्वरचित कर्म-भार उतार कर।

* पर यहां तो दोनो भाई मूल्य विजय का आंक रहे,
घण्टो, प्रहरो उभय एक टक अनिमिष दृग् से झांक रहे,
एकाएक हुई सम्राट् भरत की दोनों पलकें बन्द,
ज्यो प्रातर रवि के आते ही संकुचाता कुमुदों का वृन्द।

---

* राधायरण

दोहा

आंसों में बहने लगा सहसा उनके नीर।
अटल खड़े अपलक नयन बाहुबल गम्भीर।

'जय जय श्री बाहूबली,' पुष्प वृष्टि के साथ।
अन्तरिक्ष उद्घोषणा जीते बहलीनाथ।

सानन्दित सोमादि सब देख भरत की हार।
ली पहले ही मोरचे वाह ! वाह ! बाजी मार।

चक्रीश्वर के चक्र का तेज हुआ अस्फीत।
प्रथम कवल में मक्षिका अब दुःसंभव जीत।

रवि के आगे चन्द्र का होता क्षीण प्रकाश।
बाहुबल के अतुल बल से कुछ भरत उदास।

हर्षोत्सव है इधर तो, उधर विषाद विशाल।
ज्यों मेरु के उभयतः है प्रकाश, तम-जाल।

* तत्क्षण बोले श्री बाहुबली
मैं इसे मानता विजय नहीं,
केवल आंखें ये खुली रहीं
क्या यों होती है जीत कहीं ?
आकस्मिक पलकें झपक गई'
इसकी क्या चिन्ता करता है,
लोकोक्ति सही यह दुनियां की,
"जो चढ़ता है वह गिरता है।"

दोहा

होता है अब दूसरा, वचन युद्ध प्रारम्भ।
सभी शान्त हो सुन रहे ज्यों मन्दिर के स्तम्भ।

सर्व प्रथम वनितेश ने किया स्वयं सिंहनाद।
विदित, विपुल, विस्तीर्ण, वर अविकल, अव्याबाध।

गीतक छन्द

गर्जता ज्यों कन्दरा मे मस्त मृगपति केहरी,
सजल, श्यामल, तड़ित-युत गम्भीर स्वर से ज्यो हरी,
निनादित करता ककुभ ईशान वृषभ दहाड़ता,
द्विरद एरावण यथा सुरलोक मे चिंघाड़ता।

दोहा

तत्पश्चात् महाबली बाहुबली सरोष।
गाढ़ स्वर से कर रहे पंचानन उद्घोष।

गीतक छन्द

मेघ ज्यों कल्पान्त का सौदामिनी सह गर्जता,
हिल गए गिरिवर शिखर भी पादपों का क्या पता ?
फूटता ब्रह्माण्ड मानो खिसकती जाती मही,
व्योम ऊपर उठ रहा, गुञ्जित दिशाएं हो रहीं।

लोकनाली से कही यह घोष स्पर्धा कर रहा,
सुरासुर, नर, विहग, पशु-गण; मन सभी का डर रहा,
आ रहा रह-रह कि मानो सिन्धु मे भी ज्वार-सा,
अश्व, वृषभ, मतंग का प्रतिरोध था बेकार-सा।

दोहा

क्रमशः मन्द हो गए दोनों के सिंहनाद।
लगा भरत के पक्ष में बढ़ने पुनः विषाद।

क्यों कि भरत के घोष का हीयमान था स्थान।
गिरती उत्तम श्रेणी से ज्यों मुनि के परिणाम।

बाहु का गम्भीर रव बढ़ता चला सुदूर।
छाया ज्यों अपराह्न की या सरिता का पूर।

आखिर में भरतेश के हुए कण्ठ अवरुद्ध।
प्रतिश्याय मानो हुआ अवसर पाकर क्रुद्ध।

* प्रत्युत बढ़ता गया निरन्तर बाहुबल का विपुल निनाद,
प्रश्नोत्तर के साथ-साथ में चला परस्पर वाद-विवाद,
विजयी रहे बाहुबल उसमें भू-अम्बर में जय-जयकार,
सुमन वृष्टि करके सुमनों ने किया बहलपति का सत्कार।

हार गए जी, हार गए,
इसमें भी वे हार गए,
अवरज बाजी मार गए,
पुनः भरतजी हार गए।

---

* रामायण

† लय—जावजो रे भाई

वहली-बल ग्रानन्द विभोर,
ग्रमित हर्ष है चारों ग्रोर,
वाह ! वाह !तक्षशिला के नाथ,
जय-जय करतल ध्वनि के साथ,
हम पहले ही ताड़ गए,
हार गए जी हार गए ।

चक्री की सेना हत-कान्त,
रह-रह होती है उद्भ्रान्त,
उड़े जा रहे सब के होश,
बैठे ग्रपना हृदय मसोस,
सिंहनाद निस्सार गए,
हार गए जी हार गए ।

विस्मित सारे दर्शक मौन,
चक्री है दोनों में कौन,
होते जाते भरत परास्त,
ग्रसमय मे मानो सूर्यास्त,
खाली सारे वार गए,
हार गऐ जी हार गए ।

* बोल उठे बाहूबल, भाई ! क्या यों होती विजय कहो ?
जब तक हम ग्रपना-ग्रपना दिखलाएंगे तन-शौर्य नहीं ?
पलकों मे, रसना मे क्या है ? ये तो यों ही थकती हैं,
नहीं ग्रस्थियां इनमे होती, इधर-उधर हो सकती हैं ।

---

* रामायण

दोहा

क्रमशः चलते ही गए दोनों के सिंहनाद।
लगा भरत के पक्ष में बढ़ने पुनः विषाद।

क्यों कि भरत के घोष का हीयमान था स्थान।
गिरते उपशम श्रेणी से ज्यों मुनि के परिणाम।

बाहु का गम्भीर रव बढ़ता चला सुदूर।
छाया ज्यों अपराह्न की या सरिता का पूर।

आखिर में भरतेश के हुए कण्ठ अवरुद्ध।
प्रतिश्याय मानो हुआ अवसर पाकर क्रुद्ध।

* प्रत्युत बढ़ता गया निरन्तर बाहूबल का विपुल निनाद,
प्रश्नोत्तर के साथ-साथ में चला परस्पर वाद-विवाद,
विजयी रहे बाहुबल उसमें भू-अम्बर में जय-जयकार,
सुमन वृष्टि करके सुमनों ने किया वहलपति का सत्कार।

हार गए जी, हार गए,
इसमें भी वे हार गए,
अवरज वाजी मार गए,
पुनः भरतजी हार —

रामायण
लय

बहली-दल आनन्द विभोर,
अमित हर्ष है चारों ओर,
वाह! वाह! तक्षशिला के नाथ,
जय-जय करतल ध्वनि के साथ,
हम पहले ही ताड़ गए,
हार गए जी हार गए।

चक्री की सेना हत-क्रान्त,
रह-रह होती है उद्भ्रान्त,
उड़े जा रहे सब के होश,
बैठे अपना हृदय मसोस,
सिंहनाद निस्सार गए,
हार गए जी हार गए।

विस्मित सारे दर्शक मौन,
चक्री है दोनों मे कौन,
होते जाते भरत परास्त,
असमय मे मानो सूर्यास्त,
खाली सारे वार गए,
हार गए जी हार गए।

बोल उठे बाहूबल, भाई! क्या यों होती विजय कही?
जब तक हम अपना-अपना दिखलाएंगे तन-शौर्य नही?
पलकों मे, रसना मे क्या है? ये तो यों ही थकती हैं,
नही अस्थियां इनमें होती, इधर-उधर हो सकती हैं।

---

* रामायण

दोहा

हो जाओ भुज-युद्ध को भाई ! अब तैयार
हम मानेंगे स्पष्टतः जीत-हार इस बार

* वसुधरा ! जरा तू स्थिर रहना,
दिग्गज ! मत जाना डोल कहीं,
हे शेष ! फणों को दृढ़ रखना,
अचलों ! हो जाना चलित नहीं,
दर्शकों ! साक्षियों ! मनुज ! सुरों !
पलकें मत कर लेना चंचल,
उतरे भुज-युद्ध अखाड़े में,
मानो यों कहते भ्रात-युगल।

गीतक छन्द

मल्ल-कुश्ती के लिए अब उभय आपस में अड़े,
त्त कुंजर, महिप-वृषभ, या मेष-कुर्कट ज्यों भिड़े,
कभी बांथो-बाथ मिलते, दूर हो जाते कभी,
ांव-पेच लगा रहे, अवसान मिलता है जभी।

कड़-पकड़ पछाड़ते है, उछल-कूद मचा रहे,
ल-क्रीड़ा की मधुर स्मृतियां, उभय सरसा रहे,
ाह भरत !' 'वाह बाहुबल !' दर्शक मचाते शोर हैं,
द-फांद मचा रहे, इस छोर से उस छोर हैं।

धूलि से धूसरित दोनों, स्वेद कण है झर रहे,
उछलते रजकण बिठाने, रिक्त भू-तल कर रहे,
पोंछते अपना पसीना, भरत भूप अघा गए,
'मनुज है या दनुज अवरज,' क्रोध मे वे आ गए।

दोहा

प्रकुपित हो तब भरत ने सब बटोर कर सार।
बाहुबल के वक्ष पर मारा मुष्टि-प्रहार।

नयन निमीलित एक क्षण लिया दीर्घ उच्छ्वास।
दिखलाते अब भरत को वीर वृत्ति का न्यास।

'ले अब चख तू ही मजा' यों कह पकड़ा पाव,
सोत्सुक दर्शक कह रहे 'खूब लगा है दांव।'

* रज्जू से आबद्ध लोष्ट को बच्चे यथा घुमाते है,
त्यों कनिष्ट अपने अग्रज चक्री को चक्र चढ़ाते हैं,
घुमा फिरा कर बड़े वेग से उन्हें उछालता नभ-तल मे,
हलचल-सी, खलभल-सी, उथल-पुथल-सी है दर्शक-दल में।

'गजब हो गया, गजब हो गया,' सुनो जहा है शब्द यही,
अब भरतेश्वर के जीवित रहने की आशा रही नही,
नभ मे जाते देख उन्हे, है देव-देवियां भी भयभीत,
'मर्त्यलोक से अरे! उछल यह आया कौन पलीत-पलीत'।

---

* रामायण

दोहा

ऋषभात्मज भरतेश ये पाकर प्रभु वरदान।
क्या सन्देह सुरलोक को करते हैं प्रस्थान ?

कर अखण्ड भू-खण्ड की विजय भरत पुर-जोर।
क्या अतृप्त हो जा रहे चन्द्रलोक की ओर ?

* वाहुवली अब सोचते, हा ! मैंने क्या कर डाला ?
आकाश में यों ज्येष्ठ को कन्दुक की भांति उछाला।

कुछ भी हो, ऐसा करना था मुझे कदापि उचित नहीं,
ऊंचे अम्बर से गिरकर, यह मर जाएगा अगर कहीं,
किसका होगा मुंह काला ?

बन करके क्रोधान्ध कार्य यह मैंने अच्छा किया नहीं,
आतुरता में धैर्य गमा स्खलना कर देता कहीं-कहीं,
मैं होकर मद मतवाला।

पूज्य पिताजी क्या समझेंगे ? अरे ! हुआ अन्याय महा,
चिन्तनशील सभी सोचेंगे, क्या कोई भी नहीं रहा ?
शुभ सम्मति देने वाला ?

गीतक छन्द

वाहुवल ने व्यथित हो, यों बहुत कुछ चिन्तन किया,
व्योम से गिरते भरत को पाणि-पल्लव में लिया,
उस समय वेमान संज्ञा-शून्य, वे निष्प्राण से,
ज्यों गिरा हो विहग कोई विद्ध होकर बाण से।

---

* लय—धाजार भारत के निवासी

सुला करके गोद में, झल रहे पंखा वसन से,
बह रही है अश्रुधारा बाहुबल के नयन से,
अरे भाई! खोल पलकें, ताक मेरी ओर तू,
खिन्न मेरे हृदय को अब बना हर्ष-विभोर तू।

कर रहे उपचार उनका हृदय मुह को आ रहा,
देख भ्रातृ-प्रेम, विस्मय दर्शकों में छा रहा,
लड़ रहे जो शत्रुवत्, पर हृदय स्नेहासिक्त है,
कहां वह सौहार्द बाहुबली के अतिरिक्त है।

दोहा

हो सचेत खोली पलक अपलक रहे निहार।
व्यक्त कर रहे बाहूबल अपने हृदयोद्गार।

* "भरत! तू क्यों यहां आया?
निष्कारण अपना शिर पर्वत से टकराया।
भरत! तू क्यों यहां आया?

भली भान्ति मैं तुझे जानता,
भली भान्ति तू मुझे जानता,
हो…फिर जान-बूझकर, क्यों तूने रण-रंग रचाया?
भरत! तू क्यों यहा आया?

रहना ठीक वहीं है भाई!
यहा आने में नही भलाई,
हो…मैंने पहले ही सुवेग सह था कहलाया।
भरत! तू क्यों यहा आया?

---

* लय—पार कालू की आंब

भाई ! यह थी बात खुलासा,
मेरे से रण नहीं तमाशा,
हो···शक्ति विना लड़ क्यों, इतना नुकशान उठाया ?
भरत ! तू क्यों यहां आया ?

अभी व्योम से गिर मरजाता,
भाई ! यदि मैं नहीं बचाता,
हो···क्या मालुम यहां आने को किसने उकसाया ?
भरत ! तू क्यों यहां आया ?

(क्या) भूल गया बचपन की बातें,
जब हम उभय खेलने जाते,
हो···कौन खेल वह जिसमें मैंने नहीं हराया ?
भरत ! तू क्यों यहां आया ?

दोहा

गर्जे उठे तत्क्षण भरत करके आंखे लाल ।
अरे ! कान बहरे हुए, रह रे चुप वाचाल ।

चरा निरंकुश आज तक बना अंग मुसडण्ड ।
आ अब तू मैदान में उठा हाथ में दण्ड ।

पोंछ पसीना उभय अब पहने बक्तर-टोप ।
छिड़ा भयंकर रूप से दण्ड-युद्ध आटोप ।

* ले लोह दण्ड दोनों उतरे
करते आपस में संघट्टन,
रह-रह उठते उनमें स्फुलिंग
मानो विद्युत-युत सावन घन,

---

* सहनाणी

वह तड़तड़ाट का तुमुल शब्द
हो रही दिशाएं भी बहरी,
आपस में करना चाहते हैं
प्रतिपक्षी पर चोटें गहरी।

दोहा

किया भरत ने अनुज के शिर पर प्रबल प्रहार।
धसे धरा में जानु तक तक्षशिला-नेतार।

* उठ बाहुबली ने दण्ड घूमा
चक्री पर दृढ़ आघात किया,
आ कण्ठ धसे वे धरणी में
आकस्मिक विद्युत्-पात किया,
कर सबल उपक्रम वे सत्वर
धरणी-तल से आए ऊपर,
कर मेघ-निकर को तितर-बितर
आता अम्बर में ज्यों दिनकर।

गीतक छन्द

देख यों अपनी पराजय लगी गहरी ठेस है,
"क्या नहीं मैं चक्रवर्ती," सोचते भरतेश है,
यदि सही मैं चक्रवर्ती (तो) विजय पाना क्यों नहीं ?
अरे ! चारों द्वन्द्व युद्धों में हुआ विरुद्ध यहाँ।

दोहा

गया सहस्त्रों वर्ष का मेरा [illegible]।
हुआ पराजित आज मैं लघु बान्धव से [illegible]।

---

* बाहुबली

अरे ! चक्रवर्तित्व का मेरा मुधाभिमान।
हुए विसन्न, विखिन्न मन, ध्याते आर्त्त-ध्यान।

सोरठा

आया चक्र ज्वलन्त, तत्क्षण उनके हाथ में।
बढ़ा शौर्य अत्यन्त, मिटी म्लानता पलक में।

दोहा

भृकुटि चढ़ा, उत्तप्त हो, बने भरत उद्दाम।
"अरे दुष्ट ! अब दुष्टता का पा तू परिणाम।"

* रोषारुण हो अन्तिम आयुध अपनाया।
चक्री ने हा ! भाई पर चक्र उठाया।

"बाहूबल ! हो अब सावधान, अभिमानी,
मैंने तेरी है बहुत सही मनमानी,
सीमा से बाहिर ठीक नहीं शैतानी,
इसमें तेरी है सभी तरह से हानि,
पहले भी कितनी बार तुझे समझाया।
चक्री ने हा ! भाई पर चक्र उठाया।

"माना वपु-बल है प्रबल बाहुबल तेरा,
पर आखिर तू छोटा भाई है मेरा,
छोटे को तो झुक कर ही रहना होगा,
आजीवन यह अनुशासन सहना होगा,
मायावी तेरी अब न चलेगी माया।
चक्री ने हा ! भाई पर चक्र उठाया।

* मावरी

"तेरे प्रति मेरा जो वात्सल्य रहा है,
अतएव दया कर, मैंने तुझे कहा है,
झुकजा, झुकजा मैं बार-बार समझाता,
वरना यह देख चक्र तेरे पर आता,
हो जाएगी रे! पृथक जीव से काया।
चक्री ने हा! भाई पर चक्र उठाया।

"किंचित भी तू परवाह नहीं करता है,
क्यों अरे! निरर्थक बिना मौत मरता है?
खाली न चक्र का वार कभी भी जाता,
इससे डरते देवों का दिल थर्राता,
फिर मत कहना तू मुझे नहीं बतलाया।
चक्री ने हा! भाई पर चक्र उठाया।

गीतक छन्द

"क्या कहा रे? भरत! बोले गर्ज कर बाहूबली,
दर्द शान्त हुआ पुराना, क्या पुन खुजली चली,
हार पर खा हार, अब भी जरा सकुचाता नही,
पथ भ्रष्टों के पतन का अन्त है आता नही।

समझ भाई! व्योम से गिरते, बचाया था तुझे,
क्या उसी उपकार का बदला चुकाता यह मुझे,
रे कृतघ्न! कृतघ्न! अब भी लाज आनी चाहिए,
ऋषभ-कुल की आन को कुछ तो निभाना चाहिए।

दुष्टता के सामने, कब भी झुकूंगा मैं नहीं,
अटल है संकल्प मेरा, दृढ़ प्रतिज्ञा है यही,
लोह के इस चक्र से तू क्या डराता है मुझे?
ले खड़ा, तैयार करले जो भी हो करना तुझे।

तू नहीं कुछ कर सका तो, क्या करेगा चक्र भी ?
दण्ड से कर चूर्ण, अम्बर में उड़ादूं क्या अभी ?
तू कहे तो गाड़ दूं मैं लात से पाताल में,
तोड़ कर अर एक-एक उछाल दूं तत्काल में।

अनिलवेग समान ही क्या है मुझे तू जानता ?
बाहुबल के प्रबल बल को, क्यों नहीं पहचानता ?
चकुलिका वह जल गई, पर जल नहीं सकती सती,
याद कर अब भी भरत, इतिवृत्त तू अथ से इति।"

दोहा

"अरे ! देखता क्या नहीं मेरी मुष्टि प्रचण्ड।
तेरे, तेरे चक्र के कर सकती शत खण्ड।"

* भणणं भणणं भणणाट शब्द सह ज्वाला,
वहे तड़िदघात की तरह तड़ित रखवाला,
वह जेठ तपन-सा प्रखर उष्ण आतप है,
सम्मिलित साथ में भरतेश्वर का तप है,
अंगुलि पर घुमा-घुमा कर वेग बढ़ाया।
चक्री ने हा ! भाई पर चक्र उठाया।

दर्शक चित्रित हैं सभी नयन चुंधियाए,
सुर किकर्तव्यविमूढ़ हृदय अकुलाए,
है स्पष्टतया अन्याय, कौन समझाए ?
म्यांउ के मुंह पर कहो कौन अब जाए ?
है चारों ओर घोर सन्नाटा छाया।
चक्री ने हा ! भाई पर चक्र उठाया।

---

* लावणी

दोहा

"अरे ! मनु संतान को जा ला गरदन काट ।"
ईर्षारत तड़ित् गति से तदा चक्र चला सरपट ।

कैसा दुनिया का व्यवहार ।*
है भाई, भाई की हत्या करने को तैयार ।

खेले खेल एक आंगन में,
साथी रहे बाल्य-जीवन मे
अरे ! वही भाई, भाई पर, चला रहा हथियार ।

धर्म-कर्म तो उड़ गए सारे,
नीति-रीति भी रही किनारे,
भाई से बढ़कर है धन, वैभव, सत्ता से प्यार ।

इंच-इंच धरती को लेकर,
कितना नर बन जाता बर्बर,
कर लेता है द्वेष, भूलकर सारा प्यार-दुलार ।

स्पर्धा से दिल रहता जलता,
कितना दंभ परस्पर चलता,
यह खलता, दुर्बलता है या प्रबल मोह की मार ?

क्षुद्र स्वार्थवश बन मतवाले,
चलते हाय ! दुरंगी चालें,
कौन सुने कराहती मानवता की करुण पुकार ?

---

* लय—अरे ! ओ ! भारत के मजदूर

गीतक छन्द

चक्र वाहूबल निकट दे रहा मुदित प्रदक्षिणा,
देखकर यह दृश्य अद्भुत है सभी विस्मित-मना,
आ गया वह लौट कर, जहां से गया था फिर वहीं,
वाहुवल पर जोर उसका तनिक चल पाया नही।

जा अरे ! जा ! काटकर ला शीश उसका तू अभी,
पुनः भेजा, देख यह निस्तब्ध दर्शक गए सभी,
भरत का आदेश है, वह रुक नही सकता अतः,
पूर्व-संचित पुण्य-बल, बाहू सुरक्षित पूर्णतः।

सहज शीतल सलिल जाता उबल अनल प्रयोग से,
उष्ण लू बनती हवा, उत्तप्त रवि संयोग से,
शान्त गुरु को चंड करता, शिष्य जो उद्दण्ड है,
हुए प्रकुपित, देख दुर्नय, बाहुबल दोर्दण्ड हैं।

* सहते-सहते अन्यायों को
धीरज का धागा टूट गया,
मुट्ठी को तान बढ़े आगे
मानों अन्तर मन रूठ गया,
रे ! नीति भ्रष्ट अग्रज ! तेरा
दुष्कृत्य चरम सीमा पर है,
इस जड़ रथांग से भी बढकर
तू आज बन रहा बर्बर है।

† लड़ते यों भाई, भाई रे, धिग् धिग् झगड़ाई रे !
हा ! कैसी करुण कमाई रे !

---

* सहनाणी
† लय—मत बनो शराबी रे

श्री श्री आदीश्वर के नन्दन दोनों चरम शरीरी
बने मोह मदिरा पी पागल, स्वर्ण बन रहा रीरी,
मानो सुध-बुध विसराई रे !

बिगड़ भरत का क्या जाता भाई को जो न नमाता ?
क्या होता जो बाहुबली भी एक बार झुक जाता ?
क्यों छिड़ती उग्र लड़ाई रे !

कितना भीषणतम यह कलमष, भारी धन-जन-हानि,
एक इसी अकड़ाई से दोनों को पड़ी उठानी,
फिर भी न समझ कुछ आई रे !

राज्य और पद-यश की लिप्सा सारा भान भुलाती,
क्या जाने मानव से कितने यह अनर्थ करवाती ?
कितनों की कीर्ति गमाई रे !

"मैं" की ही यह अकड़-पकड़ है जननी संघर्षों की,
हा ! हा ! जलती रहती इससे होली आदर्शों की,
(यह) क्यों मानवता मुरझाई रे !

हो जाते क्रोधान्ध मनुज जब सोच न कुछ भी पाते,
भाई पर भरतेश्वर की ज्यों हा ! वे चक्र चलाते,
बाहुबल मुष्टि उठाई रे !

किसके साथ चलेगी पृथ्वी ? किसकी स्थिर यह माया ?
बुझ जाते हैं जलते दीपक, आखिर माल पराया,
सब थोथी मान बड़ाई रे !

दोहा

बढ़े बाहुबल वेग से मार धरा पर लात।
होने वाला भरत पर मानो वज्रापात।

गंदराद्रि विगलित हुआ अविचल धृति को छोड़।
मानो अम्बुधि अवनि पर झपटा सीमा तोड़।

महा भयंकर रूप से प्रकुपित हुआ कृतान्त।
लगता ऐसा सन्निकट है अब तो कल्पान्त।

थर्र्र्र थर्राती धरा कम्पित है शशि-अर्क।
नीली झांई व्योम पर देख अनिष्ट उदर्क।

विश्व-स्थिति का निकट अब लगता है अवसान।
लुटने को है आज इस मानवता का मान।

दशों दिशाओं में तुमुल भीषण हाहाकार।
होने वाला है अभी, अभी भरत-संहार।

●

* चक्रपाणि का भी मन विचलित मुष्टि देख बाहूबल की,
'पता नही क्या कर देगा' यह चेहरे पर चिन्ता झलकी,
ज्यो-ज्यो बाहुबली आते है श्री भरतेश्वर के आसन्न,
त्यो-त्यो ही उद्वेग बढ़ा तेजस्वी वदन छटा आछन्न।

दोहा

सोच रहे सम्भ्रान्त सुर प्रलय हुआ प्रत्यक्ष।
ज्यो-त्यों कर रोकें इन्हे, जा हम शीघ्र समक्ष।

तत्क्षण हो समवेत सब लम्बी बान्ध कतार।
भरत-बाहु के बीच मे मानो खडी दिवार।

एक स्वर से कह रहे 'क्या करते है आप।
इससे आखिर आप को ही होगा सन्ताप'।

† शान्त, शान्त हो शान्त बाहुबल ! कुछ तो बात विचारें।
जो होना हो गया दयार्णव ! बिगडी बात सुधारें।

क्षमा शूर वीरों का भूषण,
क्रोध वीरता का है दूषण,
क्षण भर बनकर शीतल हिमकर सब की लाज उबार।

---

* रामायण
† लय—रिमझिम

वीर ! आपका प्रबल पराक्रम,
अबल अपेक्षित इसमें संयम,
यों उद्धत बन मातृ-विनय का सूत्र न आप उतारें

सीमा तोड़ बहे जो सागर,
कहो कहें फिर किसको जाकर,
शीतल जल प्रज्वलित करे, यदि चन्द्र झरे अंगारे।

जिनसे बड़ी-बड़ी आशाएं,
वे भी यदि नाशक बन जाएं,
जीवन ही जीवन संहारे, अमृत भी यदि मारे।

हो विवेक ही धृति से विचलित,
अच्छा बुरा उचित या अनुचित,
जो भी किया भरत ने उसको दिल से आप उतारें।

अग्रज पर यों क्रूर आक्रमण,
होगा कुल-कलंक का लक्षण,
क्या है वंश आपका कृपया इस पर पलक पसारें।

चले पिता के पद चिह्नों पर,
वह सुपुत्र है वंश-दिवाकर,
प्रभु के आदर्शों को स्मर, तरणी बन जग को तारें।

मुष्टि आपकी पवि से बढ़कर,
इसे सकेगा कौन सहन कर,
हो जायेगा प्रलय पलक में करुणा दृष्टि निहारें।

दोहा

वही रुके बाहुबली करने लगे विचार।
सही, सही ऐसे नही करना उचित प्रहार।

यों ही गिर सकती नहीं जो मुष्टि ली तान।
रखेगा बाहूबली, बाहु-बल का मान।

यों चिन्तन करते विविध जगा हृदय में ज्ञान।
किधर जा रहा बाहुबल भूल स्वयं का भान।

* हा! मैंने यह क्या कर डाला?

है परिमित मेरा जीवन,
अस्थिर है यह वैभव-तन-धन,
मै जिसके पीछे मतवाला।
हा! मैंने यह क्या कर डाला?

रे! कितना मेने पाप किया,
नही आगे-पीछे ध्यान दिया,
जली भीपए ज्वाला।
हा! मै- ाला?

नही,
यही,
ला।
ला?

मैं अपनों से मैं रूठ गया,
हा ! पाके सुख-दुख भूल गया,
पी मादक मोहमयी हाला।
हा ! मैंने यह क्या कर डाला ?

क्या है आदर्श दिखाया था,
मैं भाई से लड़ना सीखा,
कुछ भी न स्वयं को संभाला।
हा ! मैंने यह क्या कर डाला ?

* धिक्कार रे ! मायावी इस संसार को।
दुत्कार रे ! ममता की मीठी मार को।
फंस कर माया के चक्कर में जग दुःख पाता रे।
धिक्कार है ! धिक्कार रे ! मायावी इस संसार को।

कोई सार नहीं संसार में,
पग-पग पर दुविधा की है तलवार दुधारी रे।
क्षण में सरस-विरस होता,
यहां नश्वर घन-छाया-सी सत्ता-विभुता सारी रे।

यहां पर कोई भी है अपना नहीं,
फिर भी चेतन तू करता है तेरा-मेरा रे।
मिलते तारे शशि से सारे रात में,
कोई पास न आता जब हो गया सवेरा रे।

पलक भी न भरोसा श्वास का,
आता आता ही क्या जाने कब रुक जाता रे।
बैठे-बैठे हाथी पर पलकें खोल लो,
समवसरण में पहुंची मोक्ष धाम महामाता रे।

* लय—वैरागी संजम आदरे

दारुण दुनियां की देख अनित्यता,
पूज्य पिताजी ने भी इनको पीठ दिखाई रे।
दु:ख-कर समझ कलह की झोपड़ी,
इनको छोड़ चले अठाणुं छोटे भाई रे।

इसमें हंस-हंस फंसे बाहुबली,
क्यों ? तू देख रहा है पगले सुख का सपना रे।
अब तो तोड़ तू ममता-पास को,
पाले आत्म-शान्ति का सतपथ 'तुलसी' अपना रे।

गीतक छन्द

यों सोचकर उस मुष्टि से वे केश-लुंचन कर रहे,
बन विरागी, विमल त्यागी, शीघ्र संयम वर रहे,
समण मुनि मौनी मनस्वी शान्त सन्त महामना,
मध्यस्थ स्वस्थ, समस्त बन्धन-मुक्त पावन भावना।
जयो बाहुबली जितेन्द्रिय लिया मन को मार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक ! साधना साकार है।

* जादू का सा असर सभी पर चामत्कारिक परिवर्तन,
बीभत्साद्भुत वीर रौद्र से शान्त रसाश्रित सबके मन,
दर्शनीय स्थिति उभय दलों की चित्र-विचित्र वर्णनातीत,
विरह-वह्नि से पिघल लगा बहने को भरत हृदय नवनीत।

दोहा

अश्रु-प्लावित युग नयन खिन्नमना मुख-म्लान।
गद्‌गद् स्वर बोले भरत रे ! रे ! भाई मतिमान्।

---

* रामायण

मैं अपनी मैं में फूल
हा ! सारी सुध-बुध भूल
पी मादक मोहमयी
हा ! मैंने यह क्या कर

क्या है आदर्श पिताज
मैं भाई से लड़ना
कुछ भी न स्वयं को स
हा ! मैंने यह क्या कर

सभी भाभियां तेरी देगी भाई ! मुझे उलाहने,
लोगो के वे कटु ताने भी मुझे पड़ेगे सहने,
भाई ! मेरी अब जान बचा दे,
जाता यह मान बचा दे,
लुटने को यह मेरा संसार है।

* यों कहते-कहते चक्री के
धीरज की कड़िया टूट पड़ीं,
आंखों से नीर लगा बहने
ज्यों मुक्ता लड़ियां टूट पड़ीं,
गिर पड़े बाहुबल-चरणों मे
रोते है भर-भरकर आहे,
मझधार छोड़ मत जा भाई !
दे सजा मुझे जो तू चाहे।

सोरठा

विरल विमल सुविचार, बाहुबल प्रण में अटल।
मौन व्रत स्वीकार, शान्त, स्वस्थ, मध्यस्थ मन।

गीतक छन्द

हुई विस्मित देखकर यह दृश्य दर्शक मण्डली,
विजय का आनन्द लूटा धन्य श्री बाहुबली,
पिता जैसा पुत्र होता, सत्य कर दिखला दिया,
भरत को भी पाठ अच्छा शान्ति का सिखला दिया,
अहा ! अपने आप अपना कर लिया उद्धार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक ! साधना साकार है।

* बहनाली

* भय तू मत ले बाहुबल दीक्षा,
दे दे भाई को भिक्षा,
याचक बन आया तेरे द्वार है,
हो भाई ! भाई की भावभरी मनुहार है।

हा धिग् मैं अभिमानी, लोभी की यह व्यर्थ लड़ाई,
तू महान् है, उन त्रुटियों पर क्षमा-दान कर भाई,
मैंने पहले कुछ भी न विचारी,
खोकर के सुध-बुध सारी,
उमड़ा हा ! दुःख का पारावार है।

अठाएं भ्राताओं ने भी यही राह अपनाई,
तू भी जाता बता अरे ! मैं किसे कहूंगा भाई,
मत जा, मत जा रे प्यारे भाई !
नयनों के तारे भाई !
तू ही बस मेरा तो आधार है।

यों मत कर बाहूबल, ले ले तू जीता मैं हारा,
मुझे चाहिए राज्य नहीं, यह तू ही ले ले सारा,
मैं तो रह-रहकर तुझे मनाऊं,
ले अपनी गोद बिछाऊं,
हलका कर मेरे मन का भार है।

हाय ! मुझे इस चक्र चक्र ने बना दिया मतवाला,
मुंह सुजाकर बाहिर बैठा, घुसा न आयुधशाला,
जी में आता है इसे न देखूं,
टुकड़े-टुकड़े कर फेंकूं,
जिसने करवाया यह संहार है।

---

* लय—झूठी-झूठी इस दुनिया की

सभी भाभियां तेरी देगी भाई! मुझे उलाहने,
लोगों के वे कटु ताने भी मुझे पड़ेंगे सहने,
भाई! मेरी अब जान बचा दे,
जाता यह मान बचा दे,
लुटने को यह मेरा संसार है।

* यों कहते-कहते चक्री के
धीरज की कड़ियां टूट पड़ी,
आंखों से नीर लगा बहने
ज्यों मुक्ता लड़ियां टूट पड़ी,
गिर पड़े बाहुबल-चरणों मे
रोते हैं भर-भरकर आहे,
मझधार छोड़ मत जा भाई!
दे सजा मुझे जो तू चाहे।

सोरठा

विरल विमल सुविचार, बाहुबल प्रण मे अटल।
मौन व्रत स्वीकार, शान्त, स्वस्थ, मध्यस्थ मन।

गीतक छन्द

हुई विस्मित देखकर यह दृश्य दर्शक मण्डली,
विजय का आनन्द लूटा धन्य श्री बाहूबली,
पिता जैसा पुत्र होता, सत्य कर दिखला दिया,
भरत को भी पाठ अच्छा शान्ति का सिखला दिया,
अहा! अपने आप अपना कर लिया उद्धार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक! साधना साकार है।

* लहचाली

कहाँ है उपलब्ध इनसी वीरता, गम्भीरता,
प्राप्त अपनी विजय त्यागी धन्य है रणधीरता,
जो झुकाना चाहते वे स्वयं चरणों में गिरे,
त्याग की प्रत्यक्ष महिमा, आज यह देखी अरे!
विश्व के सम्राट् करते त्याग का सत्कार है
धन्य जीवन-मुक्त साधक! साधना साकार है।

दोहा

बाहुबल वन में चले, लगी हृदय में ठेस।
'हा भाई! कह गिर पड़े', खड़े-खड़े भरतेश।

सजग किया रवि-सोम ने कर शीतल उपचार।
निर्मोही वे वन गए, अब विलाप निस्सार।

मैंने की गलती बड़ी जिसका यह अनुताप।
कब धो पाऊंगा अरे! मैं यह अपना पाप।

अपने आंसू पोंछते, सोम-शीश धर हाथ।
तक्षशिला हो आ रहे वनिता वनिता-नाथ।

* * *

* साधक एकाकी मंथर गति से चलता बीहड़ पथ पर,
सकड़ी पगडण्डी, कांटों का जाल बिछा है पग-पग पर,
चारों ओर घोर जंगल है, भांय-भांय करती भंगी,
ऊबड़-खाबड़, टेढ़ी-मेढ़ी धरा, धरापर है जंगी।

---

* रा

गहरी-गहरी पड़ी दरारें, चारों ओर झाड़-झखाड़,
द्विरद यूथ चिंघाड़ रहे हैं, शेर रहे हैं कहीं दहाड़,
चित्ते, व्याघ्र, भेड़िये, भालू, वन बिलाव, सूअर खूखार,
घूम रहे हैं गेंडे, रोझ, अरण्य-महिष, सारंग सियार।

सघन झाड़ियों की श्यामलता, होता नहीं दृष्टिगत सूर्य,
चमक रहा तेजस्वी साधक, मानों तम में मणि वैडूर्य,
'जाता हूं मैं परम पूज्य प्रभुवर से करने साक्षात्कार',
अति प्रसन्न मुद्रा में अपने चिन्तन में है एकाकार।

'दीक्षित जबसे हुए स्वयंभू मिला न दर्शन का संयोग,
शीघ्र-शीघ्र टूटेगा अब तो मेरे अन्तराय का योग,
प्रभु-पादाम्बुज-स्पर्शन पाकर हो जाऊंगा मैं कृतपुण्य,
वह अनन्य आलोक मिलेगा, होगी मंगल-वेला धन्य।

* मेरे वे अट्ठाणू भाई—
हैं जो प्रभु-चरणों में पलते,
वे भी वहीं मिल जाएंगे
फिर रुके कदम चलते-चलते,
'दीक्षित पहले से रत्नाधिक'
उनको वन्दन करना होगा,
जाते ही उनके चरणों में
मेरे को तो गिरना होगा।

† झुके सदा जो मेरे आगे, क्या मैं वहां झुकूंगा?
नहीं झुकूंगा, नहीं झुकूंगा, मैं तो नहीं झुकूंगा।
छोटों के चरणों में जाकर मैं तो नहीं झुकूंगा।

---

* सहनाणी

† लय—मेरा ऊंचा सदा रहेगा

बहलों की विभुता को तुमने क्षणभर में ठुकराई,
छोड़ चले अहि-कंचुकी की ज्यो विश्व विजय जो पाई,
फिर क्या यह मन मे आई,
मुदित मुमुक्षो ! चरणचारी विचरो ।

एकाकी निर्जन कानन मे घोर तपस्या धारी,
चुपके छुपके कहां कर रहे ? ऐसी क्रिया करारी,
हा ! सहते संकट भारी,
स्मर कर्तव्य ज्योति बनकर निखरो ।

जिस पर चढे हुए हो वह, कुजर कज्जल-सा काला,
उच्छृंखल है, खल है और निरंकुश पीकर हाला,
वह बना हुआ मतवाला,
क्या यह वाहन उचित विचार करो ।

बीत रहा सवत्सर कब तक चढ़े रहोगे भाई,
भेजा प्रभु ने यह सन्देशा ले हम दोनों आई,
खोते क्यो खरी कमाई,
तरो भवाम्बुधि 'तुलसी' विनय भरो ।

* सोच रहे बाहूबल रे क्या है यह नया कुतूहल ?
किसने निहारी मेरी, गज असवारी ।

कानन मे क्यो आई ब्राह्मी-सुन्दरी
पूर्व दीक्षिता मेरी बहन सहोदरी,
वर्ण-अंक विद्याए रे, सबसे पहले पितृवर से सीखी ये सारी ।

---

* लय—मुनि घर आए

विदुषी होकर तुम कैसे गा रही,
नाम निशान यहाँ तो हाथी का नहीं,
मैं तो भूखा-प्यासा रे, बारह महीनों से यहाँ पर करूं तप भारी।

* बहनें भी मृषा कहें कैसे
सम्भव मैं समझ नहीं पाया,
इस घोर भयावह जंगल में
प्रभुवर ने इनसे कहलाया,
छायावादी इस गायन का
अक्षर-अक्षर बतलाता है,
प्रत्येक पद्य सीधा सायक
बन मुझे बींधना चाहता है,

दोहा

भों⋯उद्बोधन है सही मेरी भूल महान्।
सत्यवादिनी भगिनियां, मिटा न मेरा मान।

चौपाई

है यह दुष्ट मान मय हाथी,
बना हुआ जो मेरा साथी,
हा ! मैंने कुछ भी न विचारा,
धर्म मूल सद् विनय विसारा।

मैंने बनकर यों अभिमानी,
कितनी की है अपनी हानि,
भाई से भी लड़ी लड़ाई,
फिर भी रही वही अकड़ाई।

---

*बहनाणी

मुनि होकर भी गर्व न छोड़ा,
दुर्ग नहीं अविनय का तोड़ा,
प्रभु-दर्शन से वंचित बैठा,
हा धिक्कार ! मान में ऐंठा।

नमक बिना सब भोज्य अलोने,
विनय बिना सारे गुण सूने,
अकड़ा खड़ा रे ! रे ! अभिमानी,
बनना चाहता केवलज्ञानी।

गीतक छन्द

अब मुझे अभिमान को मन से हटाना चाहिए,
पूज्य प्रभुवर के निकट भी शीघ्र जाना चाहिए,
है न छोटे भ्रात जो प्रव्रजित दीक्षा ज्येष्ठ हैं,
ज्ञान, दर्शन, चरण गुण मे सब तरह से श्रेष्ठ हैं,
जा गिरू उनके चरण मे बस इसी में सार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक ! साधना साकार है।

सोचकर यों विशद चिन्तन से उठाया पांव है,
बढ़ा मार्दव सहज आर्जव और चढ़ते भाव हैं,
विनय आते ही चतुष्टय कर्म घाती क्षय हुए,
प्राप्त केवलज्ञान-दर्शन चित्र है चिन्मय हुए,
बाहुबल का तुरन्त 'तुलसी' हुआ बेड़ा पार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक ! साधना साकार है।

●

द्वादश सग

* श्री भरतेश्वर ने बुलवाया
भू-मण्डल अधिशास्ता मण्डल,
ज्यों समय-समय पर बुलवाते
हैं सभा सुधर्मा आखण्डल,
ये उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्र
चारों दल उसमें समुपस्थित,
चक्री बोले अब करना है
शासन-प्रबन्ध को समवस्थित।

यौगलिक समय से हुआ यहां
कुलकर परम्परा का वर्तन,
सप्तम कुलकर नाभीश्वर के
युग में आया नव परिवर्तन,
हा-मा-धिग् दण्ड नीतियां का
जब होता देखा उल्लंघन,
तब आवश्यक समझा सबने
करना राजा का निर्वाचन।

मानव-परम्परा के सर्वप्रथम
पहले राजा थे आदीश्वर,
सम्मानित कर के [illegible]
का राज्य [illegible]

वे समझ प्रजा को पुत्र तुल्य
करते थे समुचित प्रतिपालन,
संन्याय नीति का संरक्षण
अन्यायों का प्रतिकार-दमन।

दोहा

पूज्य पिताजी ने किये संस्थापित कुल चार।
जिनसे चलता आ रहा शासन उचित प्रकार।

* नगर सुरक्षा को निर्वाचित आरक्षक जन उग्र कुलीन,
और भोग कुल मंत्रीगण, जो राज्य-व्यवस्था में तल्लीन,
परामर्श दाता प्रान्तों का प्रतिनिधि-मण्डल कुल राजन्य,
क्षत्रिय कुल के अन्तर्गत हैं, सभी राज्य अधिकारी अन्य।

साम, दाम और दण्ड, भेद ये राजनीति के चारो अंग,
प्रचलित किये जनक ने इनको, जिससे रहे व्यवस्थित ढंग,
चला आ रहा है पहले से जो हलका-सा दण्ड विधान,
कड़ा उसे करना होगा आगामी युग पर देते ध्यान।

† अब अपना राज्य हुआ विस्तृत
एकाधिपत्य भू-मण्डल पर,
खण्डों में है प्रविभक्त मही
सब जगह यहां का पड़े असर,
हों सभी व्यवस्थाएं समुचित
अपराध नहीं बढने पाएं,
लागू हैं अतः आज से ये
निम्नोक्त दण्ड की धाराएं।

* रामायण
† सहनाणी

सोरठा

जैसा हो अपराध, वैसा प्रायश्चित्त हो।
अविचल, अव्याबाध, न्याय निभाना है हमें।

दोहा

'यहां बैठ जाओ' यही प्रथम दण्ड परिभाष।
नजर कैद 'मण्डल' पुनः, 'चारक' कारावास।

'बन्ध' हथकड़ी बेड़ियां, 'घात' कटादि प्रहार।
छवि-च्छेद अंगादि का, 'मृत्यु' प्राण-संहार।

अखिल भरत में आज से लागू यही विधान।
रखेंगे मण्डल महिप इस पर पूरा ध्यान।

* साम्राज्य भरत का सारे भू-तल पर छा रहा।
भारत-विभुता का मानो सागर लहरा रहा।

वे रत्न चतुर्दश सारे सुर-सेवित सर्वदा।
नव निधियों का वह निरुपम वैभव बतला रहा।

तीनों दिग् वारिधि वेष्टित, उत्तर हिमवान से।
चतुरंत चक्रवर्ती का शासन सरसा रहा।

वे बड़े-बड़े मण्डलपति बत्तीस सहस्र जो।
बहते चनकर अनुचारी, कहते थे कहां रहा।

दोहा

विविध आयुधों से सजा उनका शस्त्रागार।
होते रहते थे सदा, नव-नव आविष्कार।

* लय — प्रभु पार्श्वदेव चरणों में

मुक्ता, मणि, माणिक्य से भरे हुए भण्डार।
स्वर्ण, रजत, रत्नादि का किसने पाया पार।

पौत्र, प्रपौत्र, सगोत्र से हैं समृद्ध परिवार।
दुःख का नाम तक नहीं, सुख की सदा बहार।

सुन्दर, स्वस्थ, सुडौल तन, तेज पुंज साकार।
मानो पृथ्वी पर लिया रतिपति ने अवतार।

पाकर के सम्राट् का नैतिक नव आलोक।
वरद हस्त की छांह में सदा सुखी सब लोग।

* स्वयं चक्रवर्ती रखते हैं जन-जीवन का पूरा ध्यान,
करदी सभी सुलभ सुविधाएं, मान स्वीय कर्तव्य महान्,
जैसा राजा वैसी जनता यह लोकोक्ति हुई चरितार्थ,
भाग्य गौण कर हर कार्यों में प्रमुख मानते थे पुरुषार्थ।

मानस सबका आदीश्वर की विमल भक्ति से ओत-प्रोत,
बहता था हृदयाचल से सच्ची श्रद्धा का अविचल स्रोत,
शिष्ट, मिष्टभाषी, विशिष्ट, गुणशाली, न्यायनिष्ट अभिराम,
सरल, सत्यवादी, सन्तोषी, सात्विक सहज सौम परिणाम।

† सदा वे करते थे, संयम का सम्मान,
निरन्तर धरते थे, आदीश्वर का ध्यान।

जानते थे सभेद नव तत्त्व,
और षट् द्रव्यों का शुभ सत्व,
रत्नत्रय का अध्यात्म महत्त्व,
हमेशा [illegible]

---

* रामायण
† सब—धर्म में रत

अहिंसा पर उनका विश्वास,
सत्य का नैसर्गिक अभ्यास,
सहज ऋजुता से आत्म-विकास,
भवाम्बुधि तरते थे, कर समतामृत पान ।

नहीं था उनमें अधिकालस्य,
शील, सौजन्य, स्वभाव स्ववश्य,
समझते अन्तर तत्त्व रहस्य,
हृदय में भरते थे, भव्य भाव अम्लान ।

वृत्तियां निश्छल, सरल, विनीत,
परस्पर रखते प्रेम पुनीत,
खीचते जीवन का नवनीत,
प्रतिक्षण डरते थे, करते पर नुकशान ।

धर्म मे रखते प्रमुख विवेक,
समय सापेक्ष क्रिया प्रत्येक,
नीति निष्ठा नियमितता नेक,
इसीसे वरते थे, 'तुलसी' शान्ति महान् ।

* अल्प क्रोध, अभिमान, लोभ, छल, प्रामाणिक उनका व्यवसाय,
संयमपूर्वक हो जाती थी जीवन को आवश्यक आय,
घर-घर मे जिनके थे गोकुल, दूध-दही की कमी नहीं,
आधि-व्याधि, चोरी का तन, मन, धन को भय था नहीं कहीं ।

द्यूतकार, मद्यप, व्यभिचारी का न राज्य मे नाम निशान,
चोरी, चुगली, निन्दा, स्पर्धा तो मानो कर चुकी प्रयाण,
सीधा सादा-सा दैनिक क्रम, थे स्वतन्त्र सीमित उद्योग,
छू तक पाया था न कभी भी उनको अति संचय का रोग ।

* रामायण

गीतक छन्द

प्रकृति भी भरतेश की समुपासना थी कर रही,
दिखा चित्र, विचित्र अभिनव भावना थी भर रही,
नातिवृष्टि, अवृष्टि, आतप, नाति हिम है क्लेशकर,
आ सभी ऋतुएं यथाक्रम काम करती समय पर।

* नव-नव उपहार सजाता ऋतुपति आता।
चक्री-मन रंजित करने रंग रचाता,
विकसित वसन्त ज्यों सन्त हृदय सरसाता,
नव-नव उपहार सजाता ऋतुपति आता।

जागी वनस्थली मानो ले अंगड़ाई,
पत झड़े पादपों पर हरीतिमा छाई,
हंसती खिलती मृदु नई कोंपलें आईं,
मानो कहती थी लो सम्राट् बधाई।

सहकारों पर पिक कू - कू कूज रही है,
पुष्पों पर मधुप-मण्डली गूंज रही है,
सम समय परीषह मुनि को अधिक नहीं है,
हो रही पल्लवित, पुष्पित फलित मही है,
मधु, मधु बरसा कर सबको मुदित बनाता।
नव-नव उपहार सजाता ऋतुपति आता।

† शुचि ऋतु आती शुचिता लेकर
तपता है अति उत्तप्त तपन,
भू के विपाक्त अणुओं का वह
करता था . . . शमन-दमन,

चलती है गरम-गरम लूएं
मानो आरोग्य बढाने को,
गलिओ, तालाबों, नालो का
गन्दा जल, पक सुखाने को,

उत्तप्त तवे-सा धरणी-तन
कूपो का जल अतीव शीतल,
बतलाता ऊपर से कठोर
अन्तस्थल मे चक्री कोमल,
रवि की प्रचण्ड किरणें उनके
उग्रातप को दिखलाती थी,
कोई न सामने दृष्टि करे
बस यह सबको सिखलाती थी।

* चक्री की गुण गाथाए गाती वर्षा ऋतु आती।
रिमझिम-रिमझिम करती वह सबका उत्साह बढाती।

घनघोर घटाए घिर-घिर करती थी रह-रह गर्जन,
चपला की चचलता से उन्मत्त बना देती मन,
वे चातक मोर पपीहे मधुर स्वर शोर मचाते,
मानो प्रेरित वर्षा से चक्री की स्तवना गाते,
लाती है अभ्र पटल पर वे नये रंग बरसाती।
चक्री की गुण गाथाएं गाती वर्षा ऋतु आती।

सावन की पावन झड़िया देती धरती को जीवन,
प्रस्फुटित नवाकुर होते आनन्दित सबका कण-कण,
वनराजी झूम-झूमकर मानो नव नृत्य दिखाती,
बहती कल-कल सरिताएं मृदुतर सगीत सुनाती।

---

* लय—इठलाता सब ही छोड़ो

सरसाती मन हरसाती वह खड़ी फसल लहराती।
चक्री की गुण गाथाएं गाती वर्षा ऋतु आती।

* स्वच्छ शरद ऋतु भरत हृदय की बता रही है निर्मलता,
भू, नभ, सर, सरि-जल मारुत की उपमित करती उज्ज्वलता,
मिलता दिन में सूर्य-ताप सारा घन का आतंक हटा,
वृद्धिगत क्षणदाओं में खिलती शारद-शशि शुभ्र छटा।

धान्य पकाती धरा, धराधिप को करने मंजुल उपहार,
सजा रहा अम्बुधि उपढौकन महगे मोती कर तैयार,
है सबका आरोग्य बढ़ाती नव शोणित का कर संचार,
भरती वह माधुर्य फलों में हो जाता प्रमुदित संसार।

दोहा

हिम ऋतु आते ही बदल देती है संसार।
ले आती संक्षेप में पावस का विस्तार।

शीतल जल, शीतल अनिल, शीतल भूतल-व्योम।
बन जाते हैं अति सघन, मृदु सर-मक्खन-मोम।

शीतल चक्री का हृदय, किन्तु तपनता साथ।
सज्जन - दुर्जन के लिए हिम ऋतु कहती बात।

सारा तन जाता ठिठुर रहे दिनों में काँप।
हिम-सा शासन भरत का, स्पष्ट बताते साँप।

सोरठा

लाती नया घुमाव, प्रकृति की गति शिशिर में।
मानो स्पष्ट प्रभा

* रामानन्द

चलती हवा प्रचण्ड, पत्र विटप से झड़ रहे।
यही मिलेगा दण्ड, यदि अकड़े चक्रीश से।

पा अनुकूल सुयोग ईखों मे ढलती सुधा।
चक्री कृपा-प्रयोग कहती चलती चरखियां।

ॐ

त्रयोदश सर्ग

* अनासक्ति का अद्वितीय आदर्श भरत का जीवन है।
चक्रीश्वर होने पर भी रहता विरक्त अन्तर मन है।

जो थे राज्य-वृद्धि की लिप्सा और प्रतिष्ठा की धुन मे,
लड़-भिड़कर सम्पूर्ण विश्व को लिया स्वीय अनुशासन मे,
पर अवरज की दीक्षा ने ला दिया नया परिवर्तन है।
अनासक्ति का अद्वितीय आदर्श भरत का जीवन है।

रहते थे जो रक्त नक्त-दिन ऐहिक विषय-विलासो मे,
बहते थे जो मोह-जनित मादक भौतिक विश्वासो मे,
अब सब सामग्री होते, लगता उनको सूनापन है।
अनासक्ति का अद्वितीय आदर्श भरत का जीवन है।

आज राज्य जंजाल लग रहा, लगती है फीकी विभुता,
शासन-भार चलाने को यद्यपि सब कुछ करना पड़ता,
किन्तु उन्हें होता प्रतीत इसमे न जरा अपनापन है।
अनासक्ति का अद्वितीय आदर्श भरत का जीवन है।

नृत्य, वाद्य, सगीत, हास्य, सब है विडम्बना से लगते,
कब छूटू इस झझट मे, बस रह-रह भाव यही जगते,
सासारिक सम्बन्ध मोहमय सारे बन्ध-निबन्धन है।
अनासक्ति का अद्वितीय आदर्श भरत का जीवन है।

† सात्विकता थी खान-पान मे रहन-सहन मे सादापन,
कही न हो जाऊ उपलेपित यही एक रहना चिन्तन,

* लय—अरे धार्मिको ! किस प्रवाह मे
† रामायण

दूर कार्यों में उदासीनता और विमुखता रहती थी,
पापभीरुता सदय हृदयता की धारा-सी बहती थी।

बहुधा आध्यात्मिक चर्चाएं राज्य-सभा में चलती थी,
मानो उनकी राजनीति भी धार्मिकता मे पलती थी,
अनेकान्त दर्शन का गहरा क्या है स्याद्वादी सिद्धान्त?
अस्ति, नास्ति सापेक्ष दृष्टि से चलते हेतु युक्ति दृष्टान्त!

कभी-कभी नय-निक्षेपों के छिड़ पड़ते थे गहन प्रसंग,
श्रोताओं को लगता था मानो चलता सुन्दर सत्संग,
ईश्वर के कर्तृत्ववाद पर जब चल पड़ता वाद-विवाद,
आत्मा का कर्तृत्व सिद्ध होता था स्पष्ट बिना अपवाद।

कर्मवाद की जटिल पहेली सबको उलझा देती थी,
संयम, संवर और निर्जरा सब कुछ सुलझा देती थी,
कैसे मिट पाएगा यह जो जड़-चेतन का है एकत्व,
इसका समाधान देता था मुक्तात्मा का महा महत्व।

द्वैत और अद्वैतवाद पर हो जाती थी कभी झड़प,
सभासदों को जिसके सुनने की रहती थी बड़ी तड़फ,
कैसे हो प्रभु की उपासना जो है अनाकार, अविकार,
स्तवना, ध्यान, भाव पूजा ही सच्ची उपासना स्वीकार।

षट्-द्रव्यों का विशद विवेचन पृथक्-पृथक् उनका अस्तित्व,
चक्री कभी स्वयं समझाते जीवाजीव आदि नव तत्व,
प्रश्न कभी यह भी आता था क्या है हेय, ज्ञेय, आदेय,
ज्ञेय सभी हैं, हेय विकृतियां, है आदेय आत्म-पथ श्रेय।

दया-दान क्या है? इनका आध्यात्मिक जीवन में क्या स्थान?
अभय, अहिंसा, संयम-पोषण, जिससे सदा स्व-पर उत्थान,

क्या है धर्म ? वही तो आत्म-शुद्धि का सच्चा साधन है,
आर्हत-भाषित महा-अणुव्रत शुद्ध हृदय का यह धन है।

* एक दिन आए है, वनिता मे भगवान्।
हृदय विकसाए है, छाया हर्ष महान्।
समुदित सब जन जा रहे है प्रमुदित कुसुमोद्यान।
एक दिन आए हैं, वनिता मे भगवान्।

रुप मजुलता खिली रे ! समवसरण सुस्थान।
आते हैं भू-व्योम से वहा वाहन और विमान।

द्वादशविध परिषद जुड़ो रे ! हरा-भरा मैदान।
मनुज, सुरा-सुर, पशु, विहग सब बैठे एक समान।

फरमाते प्रभु देशना रे ! करने जगदुत्थान।
सोत्सुक सारे कर रहे रे ! जिन-वचनामृत पान।

† सयाने ! अपनी निद्रा त्याग, समय अब आया है।
जागना है तो जल्दी जाग, समय अब आया है।
समय अब आया है, भाग्य लहराया है।

मिला मुश्किल से नर अवतार,
साधना का यह मगल द्वार,
तुम्हारे सुकृत का साकार,
मेघ मंडराया है।

---

* लय—हरि गुण गायले रे
† लय—एक दिन उड़े ताल से हंस

चक्रीश्वर सम्राट् भरत है वैभव मे इतने आसक्त,
धर्म क्रिया करते न जरा भी कैसे इनको कहा विरक्त ?
चक्रीपद की गति है रौरव, इन्हें बताया सीधा मोक्ष,
पूर्वापर प्रभु की विरुद्ध ये दो बातें प्रत्यक्ष-परोक्ष।

गीतक छन्द

सार्वभौम विरोध में की जो खुली आलोचना,
बस इसी अभियोग मे उसको लिया बन्दी बना,
न्याय गृह से मृत्यु-दण्ड प्रचण्ड सुनवाया गया,
विनय अनुनय पर उसे यह मार्ग दिखलाया गया

स्नेह परिपूरित कटोरा यह रहेगा हाथ मे,
अनावृत तलवार युत रक्षक रहेंगे साथ मे,
घूमना साकेत के इस छोर से उस छोर तक,
स्खलित क्षणभर भी न हो यह ध्यान रखना एकटक।

एक भी यदि बिन्दु इसमे से कही गिर जायगा,
तो उसी क्षण गला भी तेरा वही गिर जायगा,
कापते स्वर से, भरत-आदेश को स्वीकृत किया,
मृत्यु से बचने कटोरा ले वहा से चल दिया।

दोहा

किया प्रसारित भूप ने, इधर नया आदेश।
नृत्य, गान, वाद्यादि हो पुर मे आज विशेष।

* उठ रही आज धुकारें, सारे साकेत मे।
उत्सव के नये नजारे, सारे साकेत मे।

---

* तर्ज—सारे रमजान में

बजते मंगल वाद्य मनोहर,
हरते हृदय को आकर्षित कर,
मन्दिर घर में जय नारे, सारे साकेत में।

धीं-धीं धम-धम रिमझिम-रिमझिम,
झनन झनन् पिपिहरि टिमटिम,
है बजते ढोल नगारे, सारे साकेत में।

नृत्य हो रहे स्थान-स्थान पर,
नारी विविध शृंगार सजाकर,
है पायल की झनकारें, सारे साकेत में।

तान मान सह मधुर-मधुर स्वर,
गायन होते सुन्दर - सुन्दर,
लगते कानों को प्यारे, सारे साकेत में।

सभी हो रहे जन संकुल पथ,
लोक देखने सुनने में रत,
छाई हैं नई बहारें, सारे साकेत में।

* पुर की पूरी परिक्रमा दे हुआ उपस्थित नृप आसन्न,
उबर गया मैं मृत्यु कष्ट से; हृदय हो रहा परम प्रसन्न,
पूछ रहे सम्राट् बता रे ! क्या-क्या देखा तू ने आज ?
स्नेह पात्र के सिवा और कुछ देख न पाया मैं महाराज !

नहीं देखने का क्या कारण? राजन्! सिर पर मौत सवार,
एक बूंद गिरते ही नीचे, गरदन पर गिरती तलवार,
देव ! इसी भय से संत्रस्त दृष्टि टिकी कटोरे पर,
इतना था अवकाश कहां जो देख सकूं मैं इधर-उधर।

---

* रामायण

दोहा

सम्राट्— अब भी समझा या नही इसका क्या है अर्थ ?
अभियुक्त—प्रभो ! हार्द यह जानने में मैं हूं असमर्थ।

सम्राट्— तुझे नही था मारना पर देनी थी सीख।
प्रभु की वाणी सर्वदा होती लोह की लीक।

पागल ! तेरे ही तरह मेरा भी यह हाल।
सच पूछो तो दीखता, खड़ा सामने काल।

* करना पड़ता राज्य मुझे अपना कर्तव्य निभाने को।
कहता है मन बार-बार ज्यों-त्यों इससे हट जाने को।

मेरे पर उत्तरदायित्व समूचे भारत-शासन का,
इसीलिए मैं करता हूं नेतृत्व यहा पर जन-जन का,
जागरूक रहना पड़ता है स्वीकृत भार चलाने को।

इसे मानता हूं मैं बन्ध-निबन्धन; इसमे सार नही,
धाय खिलाती बच्चे को पर होता अन्तर प्यार नही,
त्योंही सब कुछ मैं करता हू लोक नीति पनपाने को।

है कर्तव्य सभी सांसारिक, पर आध्यात्मिक धर्म नही,
धर्म और कर्तव्य परस्पर पृथक् रूप है कही-कही,
देना पड़ता दण्ड विवश होकर अन्याय मिटाने को।

मौत सामने खड़ी दीखती, नही पता भी है कल का,
अन्तर से चाहता मेरा यह, बन्धन हो जाए हलका,
'तुलसी' यत्नशील रहता हू, जीवन सफल बनाने को।

* लय—प्रभु भज प्रभु भज

* यों थे भरतेश्वर अनासक्त
करते रहते आत्मालोचन,
सांसारिक विषय-वासना से
उनका रहता था उपरत मन,
प्रतिक्षण रहता जल से ऊपर
ज्यों जलज जन्म लेकर जल में,
त्योंही उपलिप्ति नही होती
रहता विराग अन्तस्तल में।

प्रत्येक वस्तु में नश्वरता की
झलक प्रतिक्षण झांक रहे,
इस जीवन की क्षण भंगुरता
अंजलि-जल सी वे आंक रहे,
संयत विचार, संयत भाषा
अपने पर अपना संयम था,
सच्चिक्करण कर्मो का बन्धन
इससे उनके होता कम था।

दोहा

जो थी अब तक भरत की अनासक्ति अव्यक्त।
नई मोड़ ले हो रही आज स्पष्ट अभिव्यक्त।

* आदर्श भवन में भरतेश्वर
आए हैं करने जल मज्जन,
है चारों ओर ज्योति झिगमिग
सहजाकर्षित हो जाता मन,

वे स्फटिक रत्न की दीवारें
मंजुल मुकुरों से भी बढ़कर,
जाती है दृष्टि जिधर अपनी
प्रति छाया होती दृग्गोचर।

मणि-कुट्टिम मन मोहक प्रांगण
वर रत्न जटित है स्नानासन,
उस पर सदैव की भांति आज
करने बैठे चक्री मज्जन,
पार्श्व स्थित भव्य जलाशय में
है भरा सुवासित शीतल जल,
रह-रह कर उठती मधुर महक
मानो परिमल पूरित उत्पल।

* इसी समय में घटित हो रही घटना अद्भुत एक नई
उनकी हस्तांगुलि से सहसा स्वर्ण मुद्रिका निकल गई,
दृष्टि पड़ी आकस्मिक कर पर यह क्या आज अनोखी बात?
आभूषण भूषित सब अवयव फिर क्यों एक हत-प्रभ हाथ।

जो कर-शाखा थी अति सुन्दर वह लगती सूनी-सूनी,
ज्योंही पहनी पुनः मुद्रिका बढ़ गई सुन्दरता दूनी,
मुकुट उतारा ज्योंही; मस्तक उन्हें असुन्दर हुआ प्रतीत,
वापिस पहना फिर वैसा ही लगने लगा अमन्द पुनीत।

दोहा

ज्यों आभरण उतारते लगता सूना अंग।
ज्योंही पहना पूर्ववत खिल आता है रंग।

---

* रामायण

एक-एक करके सभी गहने लिए उतार।
तो विद्रूप लगी उन्हें देह बिना शृंगार।

पुनः उन्हें धारण किया सुन्दर उसी प्रकार।
यही परीक्षण का चला सत्क्रम बारम्बार।

यों चिन्तन करते विविध जागृत हुआ विराग।
जीत लिया नश्वर जगत ज्यों पानी के झाग।

* चेतन क्यों इसमें मुरझाया ?
यह सारा सौन्दर्य पराया।
चेतन क्यों इसमें मुरझाया ?

तू स्वभाव से ही है हल्का,
भार ढो रहा क्यों पुद्गल का ?
पता नहीं है अपने बल का,
माया ने दिग्मूढ़ बनाया।

क्यों अपने स्व तत्त्व को भूला ?
ममता के झूले पर झूल
फिरता है तू फूला-फूला,
नहीं लक्ष्य को स्थिर कर पाया।

अपना मान रहा है पर को,
हाय ! लुटाता है क्यों घर को ?
मरणा पड़ता अजरामर को,
इसका कारण है यह काया।

---

* तर्ज—झंडा लहर-लहर लहराए

स्वर्ण मृत्तिका से संवृत है,
तेल तिलों मे ही आवृत है,
मक्खन गोरस मे मिश्रित है,
जिसने खोजा उसने पाया।

* रे भरत ! बन्धनों से अब शीघ्र मुक्ति पा रे !
वैराग्य की हृदय में नव ज्योति तू जगा रे।

नश्वर हैं सारे नाते अपना नहीं है कोई।
इस स्नेह-शून्य जग से अब स्नेह तू हटा रे।

कर्तव्य मानकर जो साम्राज्य तू चलाता।
(पर) कर्तव्य वास्तविक जो है तू उसे निभा रे।

उत्पन्न जो विलय वह, स्थिति विश्व की यही है।
परिणमन देख ऐसा अब पीठ तू दिखा रे।

तेरा न राज्य वैभव तेरी नहीं है काया।
तेरा है आत्म-धन जो मत यों उसे लुटा रे।

क्षण-क्षण जो जा रही है वे लौटकर न आती।
मत एक क्षण भी अपना संयम बिना बिता रे।

† चिन्तन मे हो एकाग्र बने
ममता का टूट गया बन्धन,
अन्तर आत्मा के मन्थन मे
तल्लीन हो गया उनका मन,

---

* लय—इतिहास गा रहा है
† सहनाणी

[illegible]
मिट गई सब भौतिक माया,
[illegible]
[illegible] गया त्यागा।

उज्ज्वल भावों से ध्यान श्रेणी
से चढ़ते गुणस्थान सत्वर,
विरति को हटा करेंगे ही
गुणस्थान क्षपक श्रेणी चढ़ कर,
दसवाँ बने जब वीतराग
कर दिया मोह का सर्वनाश,
तब यथाख्यात चरित्र प्राप्त
केवल प्रकाश का शुभाभास।

दोहा

एक साथ घाती निचय टूटे तुरत तड़ाक।
गुणस्थान-स्थिति का हुआ जब संपूर्ण परिपाक।

* पूरन, अनुत्तर, निरावरण, प्रतिपूर्ण, निरंजन निर्व्याघात,
लोकालोक प्रकाशी केवलदर्शन-ज्ञान मिले साक्षात,
बिना साधना, बिना परिश्रम, बिना त्याग, तप किये बिना,
व्रत, पोषध, उपवास, शील, सामायक, संवर लिए बिना।

इतनी बड़ी चक्रवर्ती की ऋद्धि-सिद्धि का कर उपभोग,
महामाता मरुदेवा का सा कैसा सहज मिला संयोग,
अनासक्ति से भरतेश्वर ने स्नानालय में करते स्नान,
है अद्भुत आश्चर्य क्षणों में प्राप्त कर लिया केवलज्ञान।

---

* रामायण

दोहा

तत्क्षण स्नानागार से परिहित मुनि का वेश।
राजर्षि के रूप में निकल रहे भरतेश।

अघटित घटना देख यह हैं सब लोक अवाक।
क्या ये सचमुच मुनि बने या कर रहे मजाक?

दौड़ी आईं रानियां, दौड़े राजकुमार।
सचिवादिक सब कह रहे यह क्या है सरकार?

तेल बिन्दु जल में यथा पुर में फैली बात।
जाते वनिता छोड़कर मुनि बन वनितानाथ।

दर्शन को सोत्सुक सभी करते दौड़ा-दौड।
आते नवमुनि सन्निकट, सब धन्धों को छोड।

आकुल-व्याकुल जन सभी राजर्षि भरतेश।
देख प्रजा की व्यग्रता देते हैं उपदेश।

* अब अटल साधना पथ पर संसार छोड़ जाता हूं।
जाता-जाता दो बातें सबको कहना चाहता हूं।

अब छोड़ असंयम को मैं, अविकल संयम पर आया,
अज्ञान मिटा अन्तर का सद्ज्ञान प्राप्त कर पाया,
अब्रह्म त्याग कर मैंने है आत्म-ब्रह्म अपनाया,
उन्मार्ग छोड़ कर मैंने सत्पथ पर चरण बढ़ाया,
दुष्प्राप्य तत्त्व जो पाया थोड़ा-सा बतलाता हूं।
जाता-जाता दो बातें सबको कहना चाहता हूं।

* लय—तू बता-बता रे कागा

है [illegible] है झूठी दुनिया की माया झूठी,
है [illegible] सुख में भटकाती दोनों झूठी,
है इन्द्रधनुष की [illegible] जीवन [illegible],
सुख का न लेश भी इसमें [illegible] दुखों का सागर,
[illegible] का [illegible] है [illegible] दिखलाता है।
[illegible] मरती [illegible] चाहता है।

* [illegible] धोना चाहिए।
हृदय को धोना चाहिए, फिर पावन होना चाहिए।

मानव तन रत्न मिला है,
सचमुच अनमोल मिला है,
कौड़ी में इसको कभी न खोना चाहिए।

थोड़ी-सी करके हिम्मत,
समझो जीवन की कीमत,
मक्खन पाने पानी न बिलोना चाहिए।

केवल रूढ़ी में पड़कर,
मिथ्या आग्रह में अड़कर,
सिर पर लोहे का भार न ढोना चाहिए।

मन चाही मौजें ले लो,
चाहे ज्यों इससे खेलो,
यों जीवन होना नहीं खिलौना चाहिए।

तर करके सागर सारा,
अति श्रम से मिला किनारा,
तट पर आ नैया को न डुबोना चाहिए।

—राणी माया पुला दे हेठ

घरतो तैयार पड़ो है,
मिलती उपदेश झड़ी है,
संयम का बीज यहां पर बोना चाहिए।

अवसर के मंहगे मोती,
जगमग करती है ज्योति,
पाकर अब 'तुलसी' हार पिरोना चाहिए।

गीतक छन्द

श्री भरत राजर्षि अब ग्रामानुग्राम विचर रहे,
दे सरस उपदेश जन-जन को प्रबोधित कर रहे,
रवि तुल्य घट-घट में प्रविशत अज्ञान तम को हर रहे,
ग्रहण कर सद्-ज्ञान, दर्शन, चरण भविजन तर रहे,
वर रहे शुभ आत्म-संयम का सुपथ अविकार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक ! साधना साकार है।

* निर्मम और निरभिमानी मुनि निर्गौरव निर्लेप उदार,
त्रस-स्थावर सब जीवों के प्रति रहता जिनका सम व्यवहार,
लाभालाभ, अभाव-भाव सम, सुख-दुख जीवन-मौत समान,
निन्दा और प्रशंसा भी सम, सम सम्मान तथा अपमान।

गौरव, दण्ड, कषाय, शल्य, भय, हास्य, शोक से हुए निवृत्त,
मुनि अनिदान, अलिप्त, अमल, मध्यस्थ वृत्ति मे सदा प्रवृत्त,
इह लोकाश्रित, पर लोकाश्रित नही कभी भी जो रहते,
केवल ईर्यापथिकक्रिया शुभ योगाश्रित बन्धन सहते।

---

* रामायण

गीतक छन्द

देह दुर्बल, गलितरक्त पातुल्य देख महामना,
पर भवनिर्ममतारणान्तिमभूषणा संलेखना,
कर रहे मुनिधर्म जीवित देह का उत्सर्ग है,
संवेग अष्टापद शिखर पर धर रहे अपवर्ग हैं,
शान्त धृति, प्रकृति, अनशन कर लिया स्वीकार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक ! साधना साकार है।

* वीर वृत्ति अनशन है इसमें कायरता का नाम नहीं,
त्राहि-त्राहि कर रो-रो मरना यह वीरों का काम नहीं,
आखिर तो तन छूटेगा ही फिर क्या इससे करना प्यार ?
अवसर आने पर कर अनशन, क्यों न निकाला जाए सार ?

इसे मानते आत्म-घात जो वे करते हैं दुहरी भूल,
हनन नहीं इसमें, आत्मा तो जाती अभिनव सुख में झूल,
यों ही जीव अनन्त जन्म ले तड़फ-तड़फ मर जाते हैं,
(पर) आत्म-विजय की इस वेदी पर विरले प्राण चढ़ाते हैं।

जीऊं तो संयम जीवन में मरूं समाधि मरण सोल्लास,
यही भावना साधक के जीवन में रहती है प्रति सांस,
अनशन युक्त मरण साधक-जीवन-मन्दिर पर ध्वजा महान,
है सौभाग्य बड़ा ही उसका जिसे प्राप्त हो यह अभिमान।

दोहा

साठ भक्त अनशन अटल सह समाधि आत्मस्थ।
पूज्य पितृ-पथ पा रहे, भरत ऋषीश्वर स्वस्थ।

* लय—रामायण

वाणी-मन-वपु-योग का क्रमशः किया निरोध ।
शैलेशी प्रतिपन्न अब, पहुच रहे शिव-शोध ।

गीतक छन्द

भवोपग्राही चतुष्टय कर्म तत्क्षण तोड़कर,
तेज-कार्मण और औदारिक सदा को छोडकर,
ऊर्ध्व गति से सूर्य-शशि स्वर्गालयों को लाघ कर,
एक ही बस समय मे वे जा टिके लोकाग्र पर,
अरुज अक्षय अमल अव्यय अजर अमर अविकार हैं
धन्य जीवन-मुक्त साधक ! साधना साकार है

युगल केवलज्ञान-दर्शन, आत्म-सुख अविराम है,
सम्यक्त्व क्षायक, अटल अवगाहन, अमूर्तिक धाम है,
अगुरुलघु, विगतान्तराय सु-अष्टगुण सयुक्त है,
सिद्ध-बुद्ध निवृत्त वे भव-बन्धनों से मुक्त है,
जयतु जय श्री भरत 'तुलसी' सदा जय जयकार है
धन्य जीवन-मुक्त साधक ! साधना साकार है

* हे सिद्ध बुद्ध मुक्तात्मन् मेरा प्रणाम लो ।
तुम अजर अमर अविनाशी वन्दन निष्काम लो ।

प्रभु परमात्मा परमेश्वर सत्-चित आनन्द हो ।
है कभी न पुनरावर्तन स्थिरता अविराम लो ।

तुम सकल चराचर द्रष्टा अविकल विज्ञान हो ।
विभु अटल शक्ति, दृढ़ दर्शन अविचल विश्राम लो ।

---

* लय—प्रभु पार्श्वदेव चरणों में

गीतक छन्द

देह दुर्बल, सन्निकट आयुष्य देख महामना,
वर अपच्छिममारणान्तियभूसणा संलेखणा,
कर रहे मुनिवर्य जीवित देह का उत्सर्ग हैं,
शैलेश अष्टापद शिखर पर वर रहे अपवर्ग हैं,
शान्त वृत्ति, प्रवृत्ति, अनशन कर लिया स्वीकार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक ! साधना साकार है।

* वीर वृत्ति अनशन है इसमें कायरता का नाम नहीं,
त्राहि-त्राहि कर रो-रो मरना यह वीरों का काम नहीं,
आखिर तो तन छूटेगा ही फिर क्या इससे करना प्यार ?
अवसर आने पर कर अनशन, क्यों न निकाला जाए सार ?

इसे मानते आत्म-घात जो वे करते हैं दुहरी भूल,
हनन नहीं इसमें, आत्मा तो जाती अभिनव सुख में झूल,
यों ही जीव अनन्त जन्म ले तड़फ-तड़फ मर जाते हैं,
(५२) आत्म-विजय की इस वेदी पर बिरले प्राण चढ़ाते हैं।

जीऊं तो संयम जीवन में मरूं समाधि मरण सोल्लास,
यही भावना साधक के जीवन में रहती है प्रति सांस,
अनशन युक्त मरण साधक-जीवन-मन्दिर पर ध्वजा महान,
है सौभाग्य बड़ा ही उसका जिसे प्राप्त हो यह अभिमान।

दोहा

साठ भक्त अनशन अटल सह समाधि आत्मस्थ।
पूज्य पितृ-पथ पा रहे, भरत [illegible]

* लय—रामायण

वाणी-मन-वपु-योग का क्रमशः किया निरोध।
शैलेशी प्रतिपन्न बन, पहुँच रहे शिव-पोध।

गीतक छन्द

भवोपग्राही चतुष्टय कर्म तत्क्षण तोडकर,
तैज-कार्मण और औदारिक सदा को छोडकर,
ऊर्ध्व गति से सूर्य-शशि स्वर्गालयों को लाँघ कर,
एक ही बस समय में वे जा टिके लोकाग्र पर,
अरुज अक्षय अमल अव्यय अजर अमर अविकार हैं।
धन्य जीवन-मुक्त साधक ! साधना साकार है।

युगल केवलज्ञान-दर्शन, आत्म-सुख अविराम है,
सम्यक्त्व क्षायक, अटल अवगाहन, अमूर्तिक धाम है,
अगुरुलघु, विगतान्तराय सु-अष्टगुण संयुक्त है,
सिद्ध-बुद्ध निवृत्त वे भव-बन्धनों से मुक्त है,
जयतु जय श्री भरत 'तुलसी' सदा जय जयकार है।
धन्य जीवन-मुक्त साधक ! साधना साकार है।

* हे सिद्ध बुद्ध मुक्तात्मन् मेरा प्रणाम लो।
तुम अजर अमर अविनाशी वन्दन निष्काम लो।

प्रभु परमात्मा परमेश्वर सत्-चित्त आनन्द हो।
है कभी न पुनरावर्तन स्थिरता अविराम लो।

तुम सकल चराचर द्रष्टा अविकल विज्ञान हो।
विभु अटल शक्ति, दृढ़ दर्शन अविचल विश्राम लो।

* लय—प्रभु पार्श्वदेव चरणों

हो तीन भुवन के त्रायी (पर) उत्तरदायी नहीं।
सुख-दुख स्व-स्व कर्माश्रित तुम ज्योतिर्धाम लो।

चिन्मय वर वचन अगोचर 'तुलसी' के त्राण हो।
तुम सत्यं शिवं सुन्दरम् स्तुति आठों याम लो।

●

प्रशस्ति

गीतक छन्द

भरत-मुक्ति विमुक्ति-साधन ऐतिहासिक काव्य है,
पाठ्य सामग्री सुसज्जित सरस सुन्दर श्राव्य है,
जैन वाङ्मय मे अनेकों वृत्त ऐसे है भरे,
यह अपेक्षा है उन्हें लोकोपयोगी हम करें।

जैन दर्शन और संस्कृति-साधना गम्भीर है,
सुवृध जन की दृष्टि मे अत्यन्त गहरा नीर है,
डुबकियां उण्डो लगाता सार पाता है वही,
बिना उतरे गहन जल मे रत्न मिलते हैं नही।

जो अनेको दृष्टियों का विशद है एकीकरण,
विविध वादों का किमुत सापेक्षवृत्त्या स्वीकरण,
अनेकान्त सुखान्त दर्शन शान्त है अविवाद है,
और उसके निरूपण की पद्धति स्याद्वाद है।

बन्ध, आश्रव, मोक्ष, सबर, निर्जरा से साध्य है,
ज्ञान, दर्शन, चरण रत्नत्रयी बस आराध्य है।
त्याग की पावन प्रतिष्ठा जैन संस्कृति सार है,
सत्य की अन्वेषणा का सुगम सुन्दर द्वार है।

साधना का पथ अहिंसा महा-अणुव्रत रूप है,
मनोवाक्कायिक नियन्त्रण क्षान्ति-दान्ति स्वरूप है,
'संयमः खलु जोवनम्' ही अमल जिसका घोप है,
प्रमुखता पुरुषार्थ की यह आतम-वल को पोप है।

* यह स्रोत सदा से बहता है जीवित जागृत जग में,
करता स्याद्वाद अहिंसा का शंखनाद पग-पग में,
'निग्गंठ-पावयण' एवं यह 'श्रमण-संघ' कहलाया,
फिर 'जैन धर्म' परिवर्तन ऐसे नामों से आया।

दोहा

इस अवसर्पिणी में हुए तीर्थंकर चौबीस।
किया प्रवर्तन संघ का अर्हंद् धर्माधीश।

प्राप्त परम पद चरम जिन वर्द्धमान भगवान।
आज उन्हीं का चल रहा यह शासन अम्लान।

दिग्गज आचार्य हुए हैं इसके संरक्षक नेता,
प्रतिभा के पुञ्ज सहस्रों ग्रन्थों के प्रखर प्रणेता,
आरोहण-अवरोहण भी है इसमें होते आए,
नाना गण-गच्छ रूप में शाखाएं प्रतिशाखाएं।

दोहा

विक्रम की उन्नीसवीं विशद शदी के सन्त।
भीखणजी से यह चला, तारक 'तेरापन्थ'।

जैनागम साहित्य ही जिसका मूलाधार।
सबल भित्ति सद्भावना श्रद्धा शुद्धाचार।

एक समाचारी सकल ममत्व एक आचार्य।
एक निरूपण-पद्धति तीन तत्त्व शिरसार्य।

—सू बना-बना है काम

* बस इन्हीं बिन्दुओं के बल पर
हाँ भिक्षु ने सब काम किया,
संगठित शक्तियां हुई सभी
जब एक नया सन्देश दिया,
आचार-शिथिलता मिटा श्रमण
गण की, आगम का मंथन कर,
प्रभुवर यह तेरा-पन्थ, पथिक—
हम खड़े रहे प्रहरी बनकर।

कष्टों मे मोद मनाते वे
सहकर सब परिषह जो आए,
बाधाओं, विघ्नों से न कभी
जीवन मे थे वे घबराए,
फूलों-सी कोमलता मानी
अति तीक्ष्ण नुकीले शूलों मे,
प्रासाद समझ सानन्द रहे
उन छोटे - बड़े कुशूलों मे।

गीतक छन्द

भारमल, रायेन्दु, जयजश, श्री मघव, माणक गणी,
डालचन्द, अमन्द कालू सन्त संघ शिरोमणी,
बढ़ी विद्याए विविध पा सफल उनकी प्रेरणा,
है भरी नस-नस मे 'तुलसी' दिव्य अभिनव चेतना।

* श्री जयाचार्य से संस्कृत का
बीजारोपण इस शासन मे,
अंकुरित किया श्री मघवा ने
पल्लवित पूज्य कालू प्रण ने,

* सहनाणी

सुन्दरतम अपना रूप लिए
वह आज प्रफुल्लित और फलित,
सन्तों की सतत साधना से
प्रतिदिन होता रहता विकसित,

कुछ वर्षो पहले हिन्दी का
था अधिक नहीं अभ्यास जहां,
हैं सुघड़ अनेकों सन्त-सती
कवि वक्ता लेखक आज वहां,
दर्शन, सिद्धान्त समन्वय का
सद्-ज्ञान संघ में विस्तृत है,
साहित्यिक हिन्दी गद्य-ग्रन्थ
सुन्दर से सुन्दर प्रस्तुत हैं,

लेकिन हिन्दी के काव्यों का
कुछ-कुछ अभाव-सा अखर रहा,
उसकी प्रारम्भिक कलना में यह
'भरत-मुक्ति' है निखर रहा,
जो अनायास बातों-बातों में
सहज तया सम्पन्न हुआ,
इस सवा मास के शुभ प्रयास से
मानस परम प्रसन्न हुआ।

ग्रवन’ पन्द्रह अगस्त को की रचना इसको प्रारम्भ,
टेम्बर इक्कीस आज सम्पन्न हो रहा है अविलम्ब,
य हजार पन्द्रह भाद्रव सित नवमो समुदित तीर्थ चार,
रोहण दिन पर 'तुलसी' यह सबको मेरा उपहार।

ामायण
न् १९५८

दोहा

यात्रा उत्तर प्रान्त की, यह नूतन अभियान।
पाच मास का कानपुर वर्षा वास महान।

अणुव्रत-आन्दोलन बढ़ा जन-जीवन उत्थान।
शासन मे हो सर्वदा कोटि-कोटि कल्याण।

●

सुन्दरतम अपना रूप लिए
वह आज प्रफुल्लित और फलित,
सन्तों की सतत साधना से
प्रतिदिन होता रहता विकसित,

कुछ वर्षों पहले हिन्दी का
था अधिक नहीं अभ्यास जहां,
हैं सुघड़ अनेकों सन्त-सती
कवि वक्ता लेखक आज वहां,
दर्शन, सिद्धान्त समन्वय का
सद्-ज्ञान संघ में विस्तृत है,
साहित्यिक हिन्दी गद्य-ग्रन्थ
सुन्दर से सुन्दर प्रस्तुत हैं,

लेकिन हिन्दी के काव्यों का
कुछ-कुछ अभाव-सा अखर रहा,
उसकी प्रारम्भिक कलना में यह
'भरत-मुक्ति' है निखर रहा,
जो अनायास बातों-बातों में
सहज तया सम्पन्न हुआ,
इस सवा मास के शुभ प्रयास से
मानस परम प्रसन्न हुआ।

* अट्ठावन[1] पन्द्रह अगस्त को की रचना इसकी प्रारम्भ,
सेप्टेम्बर इक्कीस आज सम्पन्न हो रहा है अविलम्ब,
दोय हजार पन्द्रह भाद्रव सित नवमी
पट्टारोहण दिन पर।

---

* रामायण

१. सन् १६५

दोहा

भाषा उत्तर प्रान्त की, यह नूतन अभियान ।
पाव भाव का कानपुर बना धाम महान ।

मधुवन-आन्दोलन बना जन-जीवन उत्थान ।
पावन मैं ही मानता कोटि-कोटि कल्याण ।

परिशिष्ट : १

पारिभाषिक शब्दकोष

अकषाय—कषाय-रहित आत्मा की अवस्था। इस अवस्था में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का क्षय या उपशमन होता है।

अक्रियावाद—क्रिया को अनावश्यक मानने वाला दर्शन।

अगुरुलघु—न छोटापन और न बड़ापन।

अज्ञानमत—अज्ञान को ही श्रेयस्कर मानने वाला दर्शन।

अटल अवगाहना—शाश्वत स्थैर्य। जन्म-मृत्यु का अत्यन्त उच्छेद।

अनशन—अहोरात्र से लेकर यावज्जीवन तक आहार-परिहार।

अनुभाग—आत्मा द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गलों की फलदान-शक्ति की न्यूनाधिकता।

अनेकान्त—एक ही वस्तु में अनेक विरोधी एवं अविरोधी धर्मों का स्वीकार।

अन्तराय—आठ कर्मों में से एक कर्म, जिसके उदय से दान, लाभ, भोग, उपभोग व वीर्य (शक्ति) में विघ्न होता है।

अप्रत्याप्रत्यय चौक—क्रोध, मान, माया, लोभ-रूप कषाय-चतुष्क के दो प्रकार—अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान के चतुष्क। अप्रत्याख्यान चतुष्क के प्रभाव से जीव को अंशतः भी विरति नहीं हो सकती और प्रत्याख्यान चतुष्क के प्रभाव से पूर्णतः विरति नहीं हो सकती।

अप्रमत्त—प्रमाद के अन्त से होने वाली आत्मावस्था। अरति आदि मोह के उदय से आत्मा का धार्मिक अनुष्ठानों में अनुत्साह। यह अवस्था सप्तम गुणस्थान में प्राप्त होती है।

अमूर्तिक—रूप रहित। आत्मा की अशरीरावस्था।

अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, केवल आत्मा के द्वारा रूपी द्रव्यों को जानना।

अवसर्पिणी—अवनति काल। सुख से दुःख की ओर जाने वाला काल—काल-चक्र का पहला चक्र।

अवेदी—वेद की समाप्ति से होने वाली आत्मावस्था। स्त्री, पुरुष और नपुंसकों की पारस्परिक अभिलाषा—विकार वेद कहे जाते हैं। यह अवस्था नवम गुणस्थान में प्राप्त होती है।

असि—तलवार आदि शस्त्र-धारण कर आजीविका चलाना।

असिरत्न—चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में आठवां रत्न।

आत्म-सुख—वेदनीय कर्म के क्षय से आत्मा को प्राप्त होने वाला अव्याबाध व स्थायी सुख।

आदिदेव (आदीश्वर)—ऋषभनाथ भगवान्।

आदेय—स्वीकार करने योग्य तत्त्व। नव तत्त्वों में से संवर, निर्जरा मोक्ष ये तीन तत्त्व आदेय हैं।

आर्जव—सरलता। धर्म के दश प्रकार में एक प्रकार।

आर्तध्यान—मनोज्ञ वस्तु के वियोग व अमनोज्ञ वस्तु के संयोग पर होने वाला ध्यान।

आश्रव—कर्म को आकर्षित करने वाले आत्म-परिणाम। कर्मागमन का द्वार।

ईर्यापथिक क्रिया—वीतराग (उपशान्त मोह, क्षीण मोह, सयोगी केवली; इन तीन गुणस्थानों में रहे हुए अप्रमत्त साधु) को शुभ योग के द्वारा होने वाला साता वेदनीय कर्म का बन्ध। इसका कालमान दो समय का है।

उग्र कुल—आरक्षक वर्ग।

उदय—बन्धे हुए कर्मों की वह अवस्था, जिससे आत्मा को सुख-दुःख आदि का अनुभव होता है।

उपयोग—ज्ञान (विशेष अवबोध) और दर्शन (सामान्य अवबोध) रूप चेतना का व्यापार। यह जीव का लक्षण है।

उपवास—एक अहोरात्र के लिए चारों प्रकार के आहार का परित्याग।

उपशम श्रेणी—आत्म-विकास की ओर अग्रगामी जीवों के मोह-उपशम करने का क्रम।

ऊहापोह—तर्क-वितर्क। तर्क—ऊह। असत्पक्ष-खण्डन—अपोह।

ऋजुगति—मृत्यु के पश्चात् आत्मा का समश्रेणी में गमन।

एक दण्डी—एक दण्ड रखने वाले तापस—वेदान्ती।

एक पुद्गल-दृष्टि—साधक जब उत्कृष्ट ध्यान की साधना करता है, तब एक ही पदार्थ (पुद्गल) पर दृष्टि—ध्यान लगाकर चिन्तन करता है।

औदारिक—स्थूल पुद्गलों से निष्पन्न एवं रस आदि धातुमय मनुष्यों और तिर्यंचों का शरीर।

औद्देशिक—सामान्य याचकों को देने की बुद्धि से बनाये हुए आहारादि में से ग्रहण करने पर साधु को लगने वाला दोष।

कर्म—आत्मा की सत् एवं असत् प्रवृत्तियों के द्वारा आकृष्ट एवं कर्म रूप में परिणत होने योग्य पुद्गल विशेष।

कवल अशन—आहार के तीन प्रकारों में एक प्रकार। ग्रास के रूप में किया जाने वाला आहार।

प्रकार हैं—ओज,

मान, माया, लोभ।

कार्मण—कर्म-समूह से निष्पन्न अथवा कर्म-विकार को कार्मण शरीर कहते हैं। यह शरीर अति सूक्ष्म होता है और प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ निरन्तर रूप से रहता है। जब आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में जाती है, तब भी कार्मण शरीर उसके साथ रहता है।

क्रीयगड—साधु के निमित्त से खरीदे हुए आहार, वस्त्र, पात्र आदि के ग्रहण करने से साधु को लगने वाला दोष।

कुलकर—यौगलिक व्यवस्था के लगभग समाप्ति काल में विशिष्ट बुद्धि-सम्पन्न और लोक-व्यवस्था करने वाले पुरुष विशेष।

कृषि—खेती द्वारा आजीविका करना।

केवलज्ञान—ज्ञानावरणीय कर्म के पूर्ण क्षय से होने वाला समस्त द्रव्य और पर्यायों का ज्ञान—विशेष अवबोध।

केवल-दर्शन—दर्शनावरणीय कर्म के पूर्ण क्षय से होने वाला समस्त द्रव्य और पदार्थों का दर्शन—सामान्य अवबोध।

क्रमशः योगों का अवरोध—केवलज्ञानी आत्मा, अपने आयुष्य का जब अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहता है, तब मन, वचन और काया—इन तीन योगों का क्रमशः अवरोध करते हैं। उसमें प्रथम स्थूल काय योग से स्थूल मन और वचन के योगों का निरोध करते हैं। तत्पश्चात् स्थूल काय योग का निरोध करते हैं। उसके बाद सूक्ष्म क्रिय-अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान ध्याकर सूक्ष्मकाय योग के द्वारा सूक्ष्म मन और वचन के योगों का अवरोध करते हैं और अन्त में रहस्य सूक्ष्म-काय योग का अवरोध करते हैं। तब उनके आत्म-प्रदेश शरीर-अवगाहना के तृतीयांश में व्याप्त होकर रहते हैं। तदनन्तर समुच्छिन्न-क्रिय अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान को ध्याकर 'शैलेशीकरण' करते हैं अर्थात् 'अयोगी' अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं।

क्रियावाद—क्रिया को प्रधान मानने वाला दर्शन।

क्षत्रिय कुल—उग्र, भोग व राजन्य कुल के अतिरिक्त अन्य सभी।

क्षपक श्रेणी—आत्म-विकास की ओर अग्रगामी जीवों के सर्वथा मोह का निर्मूल करने का क्रम विशेष।

क्षायिक सम्यक्त्व—अनन्तानुबन्धी चार कषाय और दर्शन मोहनीय की तीन—इन सात प्रकृतियों के पूर्ण क्षय से शाश्वत काल के लिए होने वाला सम्यक्-दर्शन।

गवेषणा—सोलह उद्गम-दोष और सोलह उत्पादन-दोष रहित आहार-पानी आदि वस्तुओं का साधु के द्वारा अन्वेषण करना।

गुणस्थान—आत्मा की क्रमिक विशुद्धि—गुणों का प्रादुर्भाव। यह कर्मबन्ध

दूर होने से ही होती है। इसके चवदह प्रकार हैं।

गौरव—अभिमान व लोभ के द्वारा होने वाला आत्मा का अशुभ भाव वह तीन प्रकार का है—ऋद्धि गौरव, रस गौरव, साता गौरव।

घाती कर्म—आत्मा के मूल गुण—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और बल की .. करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म।

घाति-त्रिक—चार घाती कर्मों में से तीन—ज्ञानावरणीय, ... और अन्तराय कर्म।

चक्रवर्ती—(चक्रीश्वर, चक्री) चक्र रत्न के धारक श्लाघ्यपुरुष।

चरम जिन—अन्तिम तीर्थंकर भगवान् श्री महावीर।

चरम शरीर—उसी जन्म मे मोक्ष जाने वाली आत्मा।

चवदह रत्न—स्त्री, सेनापति, गाथापति, पुरोहित, वर्द्धकी, अश्व, हस्ती, असि, दण्ड, चक्र, छत्र, चमर, मणि और काकिणी।

चित्त-वित्त-पात्र—चित्त—दान देते समय दाता की भावना, वित्त—दी जाने वाली वस्तु, पात्र—दान ग्रहण करने वाला—तीनों की शुद्धि आवश्यक है।

चौथा चारित्र (सूक्ष्मसम्पराय चारित्र)—जिस चारित्र में केवल संज्वलन लोभ सूक्ष्म मात्रा मे शेष रह जाता है।

चौक अनितानुबन्धी—आत्मा को सम्यक्त्व विरहित कर अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण कराने वाला कषाय चतुष्क।

छद्मस्थ—घाति कर्म के उदय को छद्म कहते हैं। इस अवस्था में स्थित आत्मा 'छद्मस्थ' कहलाती है। जब तक आत्मा को केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, तब तक वह 'छद्मस्थ' कहलाती है।

छद्मस्थ जिन—जब तक होने वाले तीर्थंकर केवलज्ञान प्राप्त नहीं करते, तब तक वे 'छद्मस्थ जिन' कहलाते हैं।

जातिस्मरण—पूर्व जन्म का ज्ञान। जातिस्मरण ज्ञान वाला मनुष्य अपने एक से लेकर नव सौ पूर्व जन्मों को जान सकता है।

जिन—राग-द्वेष-रूप शत्रुओं को जीतने वाली आत्मा। अरिहंत, तीर्थंकर आदि इसके पर्यायवाची हैं।

ज्ञेय—जानने योग्य तत्त्व। नव तत्त्वों में से सभी तत्त्व 'ज्ञेय' हैं।

तीर्थ चतुष्टय—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका।

तैजस्—जिससे तेजोलब्धि मिले और दीप्ति एवं पाचन हो, उसे 'तैजस् शरीर' कहते हैं। तैजस् शरीर अति सूक्ष्म होता है और प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ निरन्तर रूप से रहता है। जब आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में जाती है, तब भी तैजस् शरीर उसके साथ रहता है।

त्रस—हित की प्रवृत्ति एवं अहित की निवृत्ति के निमित्त गमन करने

वाले प्राणी। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय एवं पचेन्द्रिय जीव त्रस हैं।

त्रिदण्डी—मन, वचन और काय-रूप; तीनों दण्डो से दण्डित होने वाला तापस।

दण्ड—वध, क्लेश व धन-हरण के द्वारा शत्रु को वश करना। चार प्रकार की नीति मे एक नीति।

दण्ड—मन, वचन व काया की अशुभ प्रवृत्ति, जो आध्यात्मिक ऐश्वर्य का अपहरण कर आत्मा को नि:सार बना देती है।

दया—पापमय आचरणो से अपनी या दूसरे की आत्मा को बचाना। लोक व्यवहार मे प्राण-रक्षा को भी दया कहा जाता है।

दान—अपने एव पराये उपकार के लिए अपनी वस्तु का वितरण करना।

दान—धनोत्सर्ग। चार प्रकार की नीति मे एक प्रकार की नीति।

द्वादशविध परिषद्—अरिहन्त के समवसरण मे बारह प्रकार के श्रोता होते है—१. साधु, २. साध्वी, ३. वैमानिक देव, ४. वैमानिक देवियां, ५. ज्योतिषी देव, ६. ज्योतिषी देवियां, ७. व्यंतर देव, ८. व्यंतर देवियां, ९. भुवनपति देव, १०. भुवनपति देवियां ११. मनुष्य और १२. महिलाएं।

द्वैत—विश्व के दो मौलिक तत्त्वों की मान्यता। अद्वैत मे समस्त विश्व को एक ही तत्त्व का रूप माना जाता है।

धर्म ध्यान—अरिहन्त-उपदेश, राग-द्वेष आदि दोष, कर्मफल, लोक का आकार आदि के स्वरूप का चिन्तन।

धिक्कार—किये हुए अपराध के लिए फटकारना। दण्ड-व्यवस्था के आदि काल का तीसरा दण्ड।

ध्यान—एकाग्र चिन्तन एव योग—मन, वचन, काया की प्रवृत्तियो का निरोध।

नय—अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक अश को जानने वाला व अन्य अशों का निराकरण न करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय।

नवकारवाली—नवकार मत्र का एकसौआठ बार जप। "णमो अरिहन्ताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण।" यह नवकार मत्र है।

नव तत्त्व—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष।

नव विधि—चक्रवर्ती का नव प्रकार का विशाल निधान।

१. नैसर्प निधि—नये ग्राम बसाना व पुराने व्यवस्थित करना।

२. पाण्डुक निधि—टकसाल।

३. पिंगल निधि—आभूषणों का प्रबन्ध ।
४. सर्वरत्न निधि—चवदह रत्न ।
५. महापद्मनिधि—वस्त्रागार ।
६. काल निधि—काल-ज्ञान, सौ प्रकार का शिल्प-ज्ञान व वाणिज्य कृषि आदि कर्म का ज्ञान ।
७. महाकाल निधि—खनिजपदार्थ व जवाहरात का संग्रह ।
८. माणवक निधि—सैन्य शिक्षा
९. शंख निधि—कला और साहित्य ।

निक्षेप—स्वरूप समझाने के लिए प्रतिपाद्य वस्तु की नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव में स्थापना करना । शब्द और अर्थ की यथोचित स्थापना करने वाली क्रिया ।

निग्गण्ठ (निर्ग्रन्थ)—जिन-प्रवचन में उपदिष्ट साधु क्रिया का पालन करने वाले जैन मुनि ।

निग्गण्ठ पवयण (निर्ग्रन्थ-प्रवचन)—जैनागम ।

निर्जरा—तपस्या के द्वारा कर्ममल के विच्छेद से होने वाली आत्म-उज्ज्वलता । उपचार से तपस्या को भी निर्जरा कहा जाता है ।

पांच दिव्य—केवलियों के आहार-ग्रहण के समय प्रकट होने वाली पांच विभूतियां—१. नाना रत्न, २. वस्त्र, ३. गन्धोदक और ४. फूलों की वर्षा तथा ५. देवताओं द्वारा दिव्य घोष ।

परिषह—साधु-जीवन में विविध प्रकार से होने वाले शारीरिक कष्ट ।

पात्र-दान—सर्व-व्रती संयमी (साधु) को संयम की वृद्धि के लिए दिया जाने वाला दान ।

पारणा—उपवास की समाप्ति होने पर आहार-ग्रहण ।

पोषध व्रत—एक अहोरात्र के लिए चारों प्रकार के आहार और पाप पूर्ण प्रवृत्तियों का परित्याग ।

प्रासुक—निर्जीव ।

भय—मोहनीय कर्म की एक प्रकृति जिसके उदय से प्राणी को 'भय' उत्पन्न होता है ।

भावितात्मा—संयमरत ।

भेद—विपक्षी दल में फूट डालना—चार प्रकार की नीतियों में एक नीति ।

भोगकुल—मंत्री परिषद् के सदस्य ।

[illegible]—प्रत्येक मांगलिक कार्य के अवसर पर सुना जाने वाला पाठ । [illegible], सिद्ध, साधु व केवली प्रज्ञप्त धर्म को मंगल व लोक में उत्तम [illegible] गया है और इनका ही शरण ग्रहण किया गया है ।

मण्डलपति—माण्डलिक राजा।

मंत्र—मन्त्र द्वारा आजीविका चलाना।

माकार—एक प्रकार की दण्ड नीति, जिसमें अपराधी से केवल इतना ही कहा जाता है—फिर ऐसा मत करना।

मार्दव—विनम्रवृत्ति। धर्म के दस प्रकार में एक प्रकार।

मोक्ष—समस्त कर्मों का अपुनर्बन्ध्य क्षय हो जाने पर आत्मा का अपने ज्ञान-दर्शन मय स्वरूप में अवस्थित होना। मुक्त होने के बाद आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता।

मोह—आठ कर्मों में से एक कर्म, जिसके उदय से आत्मा के सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र का विनाश होता है।

यथाख्यात चारित्र—अकषायी (वीतराग) का निरतिचार चारित्र।

यौगलिक—असंख्य वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यञ्च, जो युग्म (जोड़े) के रूप में एक साथ जन्मते हैं, एक साथ मरते हैं और जिनका जीवन कल्प-वृक्ष के सहारे चलता है।

रत्नत्रय—देव, गुरु और धर्म।

राजन्य कुल—परामर्शदात्री समिति के सदस्य या प्रान्तीय प्रतिनिधि।

लोक नाली—लोक (विश्व) के मध्य भाग में स्थित एक रज्जु विस्तृत और चवदह रज्जु उच्च नाली के आकार का स्थान।

वज्रऋषभनाराच संहनन—अस्थियों की रचना विशेष को संहनन कहते हैं। जिसके शरीर में प्रत्येक संधि पर दो अस्थियां मरकटबन्ध से बद्ध हो और पट्टाकृति वाली तीसरी अस्थि उन्हें परिवेष्टित करती हो; ये तीनों अस्थियां कील के आकार वाली अस्थि से दृढ़ीकृत होती है। इस प्रकार की अत्यन्त दृढ़ अस्थि-रचना को वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन कहते है।

वर्ष-तप—पूरे वर्ष तक एक ही क्रम से चलने वाली तपस्या।

विनयमत—स्वर्ग, अपवर्ग आदि कल्याण की विनय से ही प्राप्ति मानने वाला दर्शन।

वीतराग—कषाय-रहित आत्मा।

शम—क्रोधादि कषाय के अभाव से होने वाला शान्ति-भाव। यह सम्यक् दर्शन का एक लक्षण है।

शय्यातर—साधु जिस व्यक्ति के मकान में सोते हैं, वह व्यक्ति शय्यातर कहलाता है।

शल्य—जिससे पीड़ा हो। वह तीन प्रकार का है—१. *माया शल्य*—कपट-भाव रखना। अतिचार की मायापूर्वक आलोचना करना या गुरु के समक्ष अन्य रूप से निवेदन करना, दूसरे पर झूठा आरोप लगाना। २. *निदान शल्य*—

राजा, देवता आदि की ऋद्धि को देखकर या सुनकर मन में यह
करना कि मेरे द्वारा आचीर्ण ब्रह्मचर्य, तप आदि अनुष्ठानों के फलस्वरूप
भी ये ऋद्धियां प्राप्त हो। ३. मिथ्या दर्शन शल्य—विपरीत श्रद्धा का होना।

शुक्लध्यान—निर्मल-प्रणिधान—समाधि-अवस्था। इसके चार प्रकार हैं
१. भेद प्रधान चिन्तन, २. अभेद प्रधान चिन्तन, ३. सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाती
४. समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति।

शोक—मोहनीय कर्म की एक प्रकृति जिसके उदय से प्राणी को
उत्पन्न होता है।

शैलेशीपन—आत्मा की वह निश्चल अवस्था जब मन, वचन और
योग का सम्पूर्णतः निरोध हो जाता है। इसको 'अयोगी' अवस्था भी कहा
है। यह अवस्था मोक्ष-साधना की समाप्ति काल में केवल पांच ह्रस्व अक्षरों
उच्चारण हो, उतने समय तक रहती है।

श्रमण—जैन साधु।

संज्वलन कषाय—कषाय-मोहनीय कर्म की एक प्रकृति, जो
चारित्र में बाधक होती है।

संज्वलनलोभ—सज्वलन कषाय के चार प्रकारों में से एक प्रकार।

संवर—कर्म-ग्रहण करने वाले आत्म-परिणामों का निरोध करना।

षट्-द्रव्य—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गला-
स्तिकाय और जीवास्तिकाय।

संवेग—मोक्षाभिलाषा। यह सम्यक् दर्शन का एक लक्षण है।

समय—काल का सूक्ष्मतम अविभाज्य अंश। निमेष मात्र में
समय व्यतीत हो जाते हैं।

समवसरण—तीर्थंकर परिषद् अथवा वह स्थान जहां तीर्थंकर
होता है।

समाचारी—आचार-मर्यादा।

समाधि-मरण—साधु-पर्याय में मृत्यु।

सम्यक्त्व—यथार्थ तत्त्व श्रद्धा।

सम्यग्-दर्शन, ज्ञान, चारित्र त्रिवेणी—तत्त्वों पर सत्य श्रद्धा का
सम्यक्-दर्शन, तत्त्वों को सही रूप से जानना सम्यक् ज्ञान, मोक्ष के लिए कि
जाने वाले प्रकृष्ट त्याग को सम्यक् चारित्र कहा जाता है। सम्यक् ज्ञान,
दर्शन और सम्यक् चारित्र यह त्रिवेणी रूप 'मोक्षमार्ग' है।

साठभक्त अनशन—२९ दिवस का अनशन।

साम—प्रतिपक्षी को प्रिय वचन बोल कर अपने वश में करना।

सामायक—सावद्य व्यापार से एक मुहूर्त (४८ मिनट) के लिए निवृत्त होना।

स्नातक चारित्र—घातिकर्म निवारण, त्रियोग से सर्वदा सावद्य योगों से विरति।

सिद्धस्थान—मोक्ष।

सुधर्मा सभा—प्रथम देवलोक के इन्द्र की सभा।

स्थावर—हित की प्रवृत्ति और अहित की निवृत्ति के लिए गमन करने में असमर्थ प्राणी। पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक; एकेन्द्रिय जीव।

स्याद्वाद—एक समय में अनेकान्तात्मक वस्तु के किसी एक धर्म का मुख्य-तया और शेष धर्मों का गौणतया प्रतिपादन करने वाली वचन पद्धति।

स्वानुकम्पी—अपनी ही अनुकम्पा अर्थात् हित का विचार करने वाला।

हाकार—एक प्रकार की दण्डनीति, जिसमें अपराधी से केवल इतना ही कहा जाता है—हा ! तुमने यह किया ?

हास्य—मोहनीय कर्म की एक प्रकृति, जिसके उदय से प्राणी को हास्य उत्पन्न होता है।

हेय—त्यागने योग्य तत्त्व। नव तत्त्वों में से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव और बंध; ये छः तत्त्व हेय हैं।

राजा, देवता आदि की ऋद्धि को देखकर या सुनकर मन में यह अध्यवसाय करना कि मेरे द्वारा आचीर्ण ब्रह्मचर्य, तप आदि अनुष्ठानों के फलस्वरूप मुझे भी ये ऋद्धियां प्राप्त हों। ३. मिथ्या दर्शन शल्य—विपरीत श्रद्धा का होना।

शुक्लध्यान—निर्मल-प्रणिधान—समाधि-अवस्था। इसके चार प्रकार हैं—१. भेद प्रधान चिन्तन, २. अभेद प्रधान चिन्तन, ३. सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाती, ४. समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति।

शोक—मोहनीय कर्म की एक प्रकृति जिसके उदय से प्राणी को शोक उत्पन्न होता है।

शैलेशीपन—आत्मा की वह निश्चल अवस्था जब मन, वचन और काय योग का सम्पूर्णतः निरोध हो जाता है। इसको 'अयोगी' अवस्था भी कहा जाता है। यह अवस्था मोक्ष-साधना की समाप्ति काल में केवल पांच ह्रस्व अक्षरों का उच्चारण हो, उतने समय तक रहती है।

श्रमण—जैन साधु।

संज्वलन कषाय—कषाय-मोहनीय कर्म की एक प्रकृति, जो यथाख्यात चारित्र में बाधक होती है।

संज्वलनलोभ—संज्वलन कषाय के चार प्रकारों में से एक प्रकार।

संवर—कर्म-ग्रहण करने वाले आत्म-परिणामों का निरोध करना।

षट्-द्रव्य—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय।

संवेग—मोक्षाभिलाषा। यह सम्यक् दर्शन का एक लक्षण है।

समय—काल का सूक्ष्मतम अविभाज्य अंश। निमेष मात्र में असंख्य समय व्यतीत हो जाते हैं।

समवसरण—तीर्थंकर परिषद् अथवा वह स्थान जहां तीर्थंकर का उपदेश होता है।

समाचारी—आचार-मर्यादा।

समाधि-मरण—साधु-पर्याय में मृत्यु।

सम्यक्त्व—यथार्थ तत्त्व श्रद्धा।

सम्यग्-दर्शन, ज्ञान, चारित्र त्रिवेणी—तत्त्वों पर सम्यग् श्रद्धा का होना सम्यक्-दर्शन, तत्त्वों को सही रूप से जानना सम्यक् ज्ञान, मोक्ष के लिए किये जाने वाले उत्कृष्ट त्याग को सम्यक् चारित्र कहा जाता है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र यह त्रिवेणी रूप 'मोक्षमार्ग' है।

साठभक्त अनशन—२९ दिवस का अनशन।

साम—प्रतिपक्षी को प्रिय वचन बोल कर अपने वश में करना।

सामायिक—सावद्य व्यापार से एक मुहूर्त (४८ मिनट) के लिए निवृत्त होना।

परिशिष्ट : २

एक अध्ययन के विशेष टिप्पण

: १ :

भगवान ऋषभदेव के सौ पुत्र

जैन और वैदिक, दोनों ही परम्पराओं में भगवान् ऋषभदेव के भरत आदि सौ पुत्र माने गये हैं। परन्तु उनके नाम भिन्न हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में भी नामों की भिन्नता है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार उनके नाम इस प्रकार हैं:

१. भरत, २ बाहुबली, ३ शंख, ४ विश्वकर्मा, ५. विमल, ६. सुलक्षण, ७. अमल, ८. चित्रांग, ९. ख्यातकीर्ति, १० वरदत्त, ११ दत्त, १२. सागर, १३. यशोधर, १४. अवर, १५. थवर, १६. कामदेव, १७. ध्रुव, १८. वत्स, १९. नन्द, २०. सूर, २१. सुनन्द, २२. कुरु, २३. अंग, २४ बंग, २५. कोसल, २६. वीर, २७. कलिंग, २८. मागध, २९ विदेह, ३० संगम, ३१. दशार्ण, ३२ गंभीर, ३३. वसुवर्मा, ३४. सुवर्मा, ३५ राष्ट्र, ३६ सुराष्ट्र, ३७. बुद्धिकर, ३८. विविधकर, ३९. सुयश, ४० यश कीर्ति, ४१. यशस्कर, ४२. कीर्तिकर, ४३. सुषेण, ४४. ब्रह्मसेन, ४५ विक्रान्त, ४६ नरोत्तम, ४७ चन्द्रसेन, ४८. महसेन, ४९. सुषेण, ५०. भानु, ५१. कान्त, ५२. पुष्पयुत, ५३ श्रीधर, ५४. दुर्द्धर्ष, ५५. सुसुमार, ५६. दुर्जय, ५७. अजयमान, ५८. सुधर्मा, ५९ धर्मसेन, ६०. आनन्दन, ६१. आनन्द, ६२. नन्द, ६३. अपराजित, ६४ विश्वसेन, ६५ हरिसेण, ६६. जय, ६७. विजय, ६८. विजयन्त, ६९. प्रभाकर, ७०. अरिदमन, ७१. मान, ७२. महाबाहु, ७३. दीर्घबाहु, ७४. मेघ, ७५. सुघोष, ७६. विश्व, ७७. वराह, ७८. वसु, ७९. सेन, ८०. कपिल, ८१. शैलविचारी, ८२. अरिञ्जय, ८३. कुञ्जरबल, ८४. जयदेव, ८५. नागदत्त, ८६. काश्यप, ८७. बल, ८८. वीर, ८९. शुभमति, ९०. सुमति, ९१. पद्मनाभ, ९२. सिंह, ९३. सुजाति, ९४. सञ्जय, ९५. सुनाभ, ९६. नरदेव, ९७. चित्तहर, ९८. सुरवर, ९९ दृढ़रथ, १००. प्रभञ्जन। ब्राह्मी और सुन्दरी दो पुत्रियां थीं।

—श्रीकल्पसूत्र किरणावली, पत्र १५१-२, १५२-१

दिगम्बर परम्परा के अनुसार महापुराण में केवल नौ पुत्रों व दो पुत्रियों के नाम ही मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं:

१. भरत, २. वृषभसेन, ३. अनन्तविजय, ४. अनन्तवीर्य, ५.
वीर, ७. वीरवर, ८. ब्राह्मी (पुत्री)

१. बाहुबली, २. सुन्दरी (पुत्री)

—महा पुराण, पर्व १६ वे

जैन मतसार पुस्तक में ऐसा उल्लेख भी मिलता है कि १. अं
३. कलिंग, ४. काश्मीर, ५. पंचाल, ६. कच्छ, ७. कर्णाटक, ८.
सिन्धु, १०. कन्धार, ११ यवन, १२. चेदी, १३. वाह्लीक, १४.
कम्बोज, १६. कुरजांगल, १७ चूल आदि देशों का नामकरण भगवा
देव के पुत्रों के नाम पर हुआ है।

श्रीमद् भागवत पुराण में भरत के अतिरिक्त निम्नांकित अठा
और मिलते हैं :

१. कुशावर्त, २. इलावर्त, ३. ब्रह्मावर्त, ४. मलय, ५. केतु, ६. भ
इन्द्रस्पृक्, ८. विदर्भ, ९. कीटक; ये नौ पुत्र भारतवर्ष के सब ओर
द्वीपों के अधिपति हुए। १. कवि, २. हरि, ३. अन्तरिक्ष, ४. प्रबुद्ध, ५
लायन, ६. आविर्होत्र, ७. द्रुमिल, ८. चमस, ९. करभाजन; ये नौ पुत्र
रहते हुए अधिकारियों को परमार्थ का उपदेश देते रहे।

—श्रीमद् भागवत पुराण, स्कन्ध ११

: २ :

बहत्तर कला

किसी भी कार्य के नियमित तथा व्यवस्थित सम्पादन-कौशल को कला कहा जाता है। प्राचीन शास्त्रों में पुरुष की बहत्तर व स्त्री की चौसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है। विभिन्न विद्वानों में कला की परिभाषा व उनकी परिगणनाओं में यत्र-तत्र मत-भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। अभिधान राजेन्द्र, भाग ३ में उद्धृत समवायांग सूत्र के अनुसार बहत्तर कलाएं निम्न प्रकार से हैं:

१. लेख
२. गणित
३. चित्र
४. नाट्य
५. गीत
६. वाद्य
७. स्वर-ज्ञान
८. पुष्कर-ज्ञान
६. समताल-ज्ञान
१०. द्यूत
११. जनवाद (वार्तालाप)
१२. नगर-रक्षा
१३. अष्टापद—चौपड
१४. दकमृत्तिका—पानी व मिट्टी से नाना वस्तुएं बनाना
१५. अन्नविधि—पाक विद्या व अन्न-उत्पन्न करने की कला
१६. पान विधि—पानी साफ करना, उसके गुण-दोष जानना
१७. वस्त्र विधि—वस्त्र बनाना, पहनना, रंगना व धोना
१८. शयन विधि—शयन के उपकरणों व प्रकारों का ज्ञान
१६. आर्या—संस्कृत-कविता बनाने की कला
२०. प्रहेलिका—गूढ़ार्थ-प्रकाशन

२१. मागधिका—छन्द विशेष बनाने की कला
२२. गाथा—प्राकृत-गाथा रचने की कला
२३. श्लोक—श्लोक बनाने की कला
२४. गंधयुक्ति—सुगंधित पदार्थ बनाने की कला
२५. मधुसिक्थ—मधुरादिक छः रस बनाने की कला
२६. आभरण-विधि
२७. युवती प्रतिकर्म—प्रशिक्षण
२८. स्त्री-लक्षण
२९. पुरुष-लक्षण
३०. अश्व-लक्षण
३१. गज-लक्षण
३२ वृषभ-लक्षण
३३. कुर्कट-लक्षण
३४. मेढा-लक्षण
३५. चक्र-लक्षण
३६ छत्र-लक्षण
३७. दण्ड-लक्षण
३८. असि-लक्षण
३९. मणि-लक्षण
४०. काणिनी-लक्षण
४१. चर्म-लक्षण, चन्द्र-लक्षण ; सूर्य, राहु व अन्य ग्रहों की गति का ज्ञान तथा उनकी गति के आधार पर सौभाग्य व दुर्भाग्य का निर्णय, रोहिणी-प्रज्ञप्ति आदि विद्या व मंत्रों का ज्ञान तथा प्रच्छन्न वस्तु का ज्ञान।
४२. सभासंचार
४३. व्यूह—व्यूह रचने की कला
४४. स्कन्धावार-मान
४५. नगर-मान
४६. वस्तु-प्रमाण
४७. स्कन्ध-निवेश—मोर्चाबन्दी का ज्ञान
४८. वस्तु-निवेश—वस्तु-स्थापन करने की विधि
४९. नगर-निवेश
५०. इषुशास्त्र, त्सरुप्रवाद—बाण और अस्त्र-ज्ञान
५१. अश्व-शिक्षा—अश्व को गति का शिक्षण देना
५२. गज-शिक्षा—गज को गति का शिक्षण देना

१०. द्यूत
११. जनवाद (वार्तालाप)
१२. नगर-रक्षा
१३. अष्टापद—चौपड़
१४. दकमृत्तिका
१५. अन्न-विधि
१६. पान-विधि
१७. वस्त्र-विधि
१८. शयन-विधि
१९. आर्या
२०. प्रहेलिका
२१. मागधिका
२२. गाथा
२३. श्लोक
२४. गन्धयुक्ति
२५. मधुसिक्थ
२६. आभरण-विधि
२७. युवती प्रतिकर्म—प्रशिक्षण
२८. स्त्री-लक्षण
२९. पुरुष-लक्षण
३०. अश्व-लक्षण
३१. गज-लक्षण
३२. वृषभ-लक्षण
३३. कुर्कुट-लक्षण
३४. मेढा-लक्षण
३५. चक्र-लक्षण
३६. छत्र-लक्षण
३७. दण्ड-लक्षण
३८. असि-लक्षण
३९. मणि-लक्षण
४०. कांगिनी-लक्षण
४१. चर्म-लक्षण
४२. चन्द्र-लक्षण
४३. सूर्य-चर्या—सूर्य की गति का ज्ञान

४४ राहु-चर्या
४५. ग्रह-चर्या
४६ सौभाग्यकर—सौभाग्य का ज्ञान
४७ दुर्भाग्यकर—दुर्भाग्य का ज्ञान
४८ विद्या-ज्ञान—रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं से सम्बन्धित ज्ञान
४९ मंत्र-ज्ञान—मन्त्रों की साधना का ज्ञान
५०. रहस्य-ज्ञान—गुप्त वस्तु का ज्ञान
५१ सभास—प्रत्यक्ष वस्तु को ठीक-ठीक जानना
५२ चार—सैन्य का प्रमाण आदि जानना
५३ प्रतिचार—सेना को युद्ध में उतारने की कला
५४. व्यूह
५५. प्रतिव्यूह—व्यूह के समक्ष उसे पराजित करने वाले व्यूह की रचना
५६. स्कन्धावार-मान
५७. नगर-मान
५८. वस्तु-मान
५९. स्कन्धावार-निवेश
६०. वस्तु-निवेश
६१. नगर-निवेश—नगर बसाने की कला
६२. ईसत्थ—थोड़े को बहुत करके दिखाने की कला
६३. छरुप्रवाद
६४. अश्व-शिक्षा
६५. गज-शिक्षा
६६. धनुर्वेद
६७. हिरण्यपाक, स्वर्णपाक, मणिपाक, धातुपाक
६८. बाहु-युद्ध, दण्ड-युद्ध, मुष्टि-युद्ध, यष्टि-युद्ध, युद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध
६९. सूत्र-खेड, नालिका-खेड, वर्त-खेड, धर्म-खेड, चर्म-खेड
७० पत्र-छेदन, कटक-छेदन
७१. सजीव-निर्जीव
७२. शकुनरुत

ज्ञाताधर्मकथागसूत्र, अध्ययन १, सू० १८ के अनुसार बहत्तर कलाएं इस प्रकार हैं :

१. लेख	२. गणित
३. रूप	४. नाट्य
५. गीत	६. वादित्र

७. स्वरगत
८. पुष्करगत
९. समताल
१०. द्यूत—जूआ
११. जनवाद
१२. पाशक—पास
१३. अष्टापद
१४. पुरः काव्य—
१५. दकमृत्तिका
१६. अन्न-विधि
१७. पान-विधि
१८. वस्त्र-विधि
१९. विलेपन-विधि
२०. शयन-विधि
२१. आर्या
२२. प्रहेलिका
२३. मागधिका
२४. गाथा
२५. गीति
२६. श्लोक
२७. हिरण्ययुक्ति
२८. स्वर्णयुक्ति
२९. चूर्णयुक्ति
३०. आभरण-विधि
३१. तरुणी-प्रतिकर्म
३२. स्त्री-लक्षण
३३. पुरुष-लक्षण
३४. हय-लक्षण
३५. गज-लक्षण
३६. गौ-लक्षण
३७. कुक्कुट-लक्षण
३८. छत्र-लक्षण
३९. दण्ड-लक्षण
४०. असि-लक्षण
४१. मणि-लक्षण
४२ काकणी-लक्षण
४३. वास्तुविद्या
४४. स्कन्धवारमान
४५. नगर-मान
४६. व्यूह
४७. प्रतिव्यूह
४८. चार
४९. प्रतिचार
५०. चक्रव्यूह
५१. गरुड व्यूह
५२. शकट व्यूह
५३. युद्ध
५४. नियुद्ध-मल्लयुद्ध
५५. युद्धातियुद्ध
५६. दृष्टि-युद्ध
५७. मुष्टि-युद्ध
५८. बाहु-युद्ध
५९. लता-युद्ध
६०. इषुशास्त्र
६१. त्सरुप्रवाद
६२. धनुर्वेद
६३. हिरण्यपाक
६४. स्वर्णपाक
६५. सूत्र-खेल
६६. वस्त्र-खेल
६७. नालिका-खेल
६८. पत्रच्छेद्य
६९. कटच्छेद्य
७०. सजीव
७१. निर्जीव
७२. शकुनरुत

उववाई सूत्र के अनुसार इस प्रकार हैं:

१. लेख
२. गणित
३. रूप
४. नाट्य
५. गीत
६. वादित्र
७. स्वरगत
८. पुष्करगत
९. समताल
१०. द्यूत—जूआ
११. जनवाद
१२. पाशक—पासा
१३. अष्टापद
१४. पुरःकाव्य—आशुकवित्व
१५. दकमृत्तिका
१६. अन्न-विधि
१७. पान-विधि
१८. वस्त्र-विधि
१९. विलेपन-विधि
२०. शयन-विधि
२१. आर्या
२२. प्रहेलिका
२३. मागधिका
२४. गाथा
२५. गीति
२६. श्लोक
२७. हिरण्ययुक्ति
२८ स्वर्णयुक्ति
२९. गंधयुक्ति
३०. चूर्णयुक्ति
३१. आभरण-विधि
३२. तरुणी प्रतिकर्म
३३. स्त्री-लक्षण
३४ पुरुष-लक्षण
३५. हय-लक्षण
३६. गज-लक्षण
३७. गो-लक्षण
३८. कुक्कुट-लक्षण
३९. छत्र-लक्षण
४०. दण्ड-लक्षण
४१. असि-लक्षण
४२. मणि-लक्षण
४३. काकंणी-लक्षण
४४. वास्तुविद्या
४५. स्कन्धावार-मान
४६. नगर-मान
४७. व्यूह
४८. प्रतिव्यूह
४९. चार
५०. प्रतिचार
५१. चक्र व्यूह
५२. गरुड़ व्यूह
५३. शकट व्यूह
५४. युद्ध
५५. नियुद्ध—मल्लयुद्ध
५६. युद्धातियुद्ध
५७ मुष्टि-युद्ध
५८. बाहु-युद्ध
५९ लता-युद्ध
६०. इषुशास्त्र
६१. त्सरुप्रवाद
६२. धनुर्वेद
६३. हिरण्यपाक
६४. स्वर्णपाक
६५ वस्त्र-खेल
६६. सूत्र खेल

म

६७. नालिका-खेल
६८. पत्रच्छेद
६९. पटच्छेद
७०. सजीव
७१. निर्जीव
७२. शकुनरुत

रायपसेणी के सूत्र अनुसार इस प्रकार हैं :

१. लेख
२. गणित
३. रूप
४. नाट्य
५. गीत
६. वादित्र
७. स्वरगत
८. पुष्करगत
९. समताल
१०. द्यूत—जूआ
११. जनवाद
१२. पाशक—पासा
१३. अष्टापद
१४. पुरःकाव्य—आशुकवित्व
१५. दकमृत्तिका
१६. अन्न-विधि
१७. पान-विधि
१८. वस्त्र-विधि
१९. विलेपन-विधि
२०. शयन-विधि
२१. आर्या
२२. प्रहेलिका
२३. मागधिका
२४. गाथा
२५. गीति
२६. श्लोक
२७. हिरण्ययुक्ति
२८. स्वर्णयुक्ति
२९. आभरण-विधि
३०. तरुणी-प्रतिकर्म
३१. स्त्री-लक्षण
३२. पुरुष-लक्षण
३३. हय-लक्षण
३४. गज-लक्षण
३५. गौ-लक्षण
३६. कुक्कुट-लक्षण
३७. छत्र-लक्षण
३८. चक्र-लक्षण
९. दण्ड-लक्षण
४०. असि-लक्षण
. मणि-लक्षण
४२. काकणी-लक्षण
. वास्तुविद्या
४४. नगर-मान
स्कन्धावार-मान
४६. चार
प्रतिचार
४८. व्यूह
प्रतिव्यूह
५०. चक्र व्यूह
रुडव्यूह
५२. शकट-व्यूह
द्ध
५४. नियुद्ध—मल्लयुद्ध
ातियुद्ध
५६. यष्टि-युद्ध
५८. बाहु-युद्ध
६०. इषुशास्त्र

६१. त्सरुप्रवाद
६२. धनुर्वेद
६३. हिरण्यपाक
६४. स्वर्णपाक (मणिपाक
६५. सूत्र-खेल
६६. वस्त्र-खेल
६७. नालिका-खेल
६८. पत्रच्छेद
६९. कटच्छेद
७०. सजीव
७१. निर्जीव
७२. शकुनरुत

श्रीजम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिचन्द्रीयवृत्ति, वक्षस्कार २, पत्र सं० १३६-२, १
आधार पर बहत्तर कलाएं इस प्रकार हैं :

१. लेख
२. गणित
३. रूप
४. नाट्य
५. गीत
६. वादित्र
७. स्वरगत
८. पुष्करगत
९. समताल
१०. द्यूत—जूआ
११. जनवाद
१२ पाशक—पासा
१३. अष्टापद
१४ पुरःकाव्य—आशुकवित्व
१५. दकमृत्तिका
१६ अन्न-विधि
१७. पान-विधि
१८. वस्त्र-विधि
१९. विलेपन-विधि
२०. शयन-विधि
२१. आर्या
२२. प्रहेलिका
२३. मागधिका
२४ गाथा
२५. गीति
२६. श्लोक
२७ हिरण्ययुक्ति
२८. स्वर्णयुक्ति
२९. चूर्णयुक्ति
३०. आभरण-विधि
३१. तरुणी-प्रतिकर्म
३२. स्त्री-लक्षण
३३. पुरुष-लक्षण
३४. हय-लक्षण
३५. गज-लक्षण
३६. गौ-लक्षण
३७. कुक्कुट-लक्षण
३८ छत्र-लक्षण
३९. दण्ड-लक्षण
४० असि-लक्षण
४१. मणि-लक्षण
४२ काकणी-लक्षण
४३. वास्तुविद्या
४४. स्कन्धावारमान
४५. नगर-मान
४६. चार
४७. प्रतिचार
४८. व्यूह
४९. प्रतिव्यूह
५०. चक्रव्यूह
५१. गरुड़ व्यूह
५२. शकट व्यूह

५३. युद्ध
५४. नियुद्ध—मल्लयुद्ध
५५. युद्धातियुद्ध
५६. दृष्टि-युद्ध
५७. मुष्टि-युद्ध
५८. बाहु-युद्ध
५९. लता-युद्ध
६०. इषुशास्त्र
६१. त्सरुप्रवाद
६२. धनुर्वेद
६३. हिरण्यपाक
६४. स्वर्णपाक
६५. सूत्र-खेल
६६. वस्त्र-खेल
६७. नालिका-खेल
६८. पत्रच्छेद्य
६९. कटच्छेद्य
७०. सजीव
७१. निर्जीव
७२. शकुनरुत

कल्पसूत्र में बहत्तर कलाओं के जो नाम दिये गये हैं, वे लगभग भिन्न है :

१. लेखन
२. गणित
३. गीत
४. नृत्य
५. वाद्य
६. पठन
७. शिक्षा
८. ज्योतिष
९. छन्द
१०. अलंकार
११. व्याकरण
१२. निरुक्ति
१३. काव्य
१४. कात्यायन
१५. निघण्टु
१६. गजारोहण
१७. अश्वारोहण
१८. आरोहण-शिक्षा
१९. शस्त्राभ्यास
२०. रस
२१. यंत्र
२२. मंत्र
२३. विष
२४. खन्ध
२५. गंधवाद
२६. प्राकृत
२७. संस्कृत
२८. पैशाचिका
२९. अपभ्रंश
३०. स्मृति
३१. पुराण
३२. विधि
३३. सिद्धान्त
३४. तर्क
३५. वैद्यक
३६. वेद
३७. आगम
३८. संहिता
३९. इतिहास
४०. सामुद्रिक
४१. विज्ञान
४२. आचार्य विद्या
४३. रसायन
४४. कपट

४५. निद्रानुसार दर्शन	४६. संस्कार
४७ धूर्त मवनक	४८ मणिकर्म
४९. तरु-चिकित्सा	५०. खेचरी कला
५१. अमरीकला	५२ इन्द्रजाल
५३ पाताल-सिद्धि	५४. यन्त्रक
५५. रसवती	५६. सर्वकरणी
५७. प्रासादलक्षण	५८. पण
५९. चित्रोपल	६०. लेप
६१ चर्मकर्म	६२. पत्रछेद
६३. नखछेद	६४ पत्र-परीक्षा
६५. वशीकरण	६६. काष्ठघटन
६७ देशभाषा	६८ गारुड
६९ योगाग	७० धातु कर्म
७१. केवल विधि	७२. शकुनरुत

समवायागमूत्र, ज्ञाताधर्मकथागमूत्र, उववाईसूत्र, रायपसेणीसूत्र, जम्बूदीपपण्णत्ति-वृत्ति व कल्पसूत्र के अतिरिक्त नन्दी सूत्र (सूत्र ४२), कल्पसूत्र सुबोधिका टीका (पत्र ४४५-४४६), कल्पसूत्र सन्देह विषौषधि (पत्र १२२-१२३), कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी टीका (पृ० २२९) आदि मे भी कुछ परिवर्तन के साथ बहत्तर कलाओ का उल्लेख मिलता है। आवश्यक निर्युक्ति (श्लो० १३४-१३७) व आवश्यक मलयगिरि टीका (१९५-२) मे उन्तालीस कलाओ का ही उल्लेख मिलता है।

चौसठ कला

जम्बूदीपपण्णत्ति-वृत्ति (वक्षस्कार २, पत्र १३९-२, १४०-१) मे चौसठ कलाओ के नाम इस प्रकार दिये गये हैं :

१. नृत्य	२. औचित्य
३. चित्र	४. वाद्य
५. मत्र	६. तंत्र
७ ज्ञान	८. विज्ञान
९. दम्भ	१०. जलस्तम्भ
११. गीत-मान	१२. ताल-मान
१३. मेघवृष्टि	१४. फलाकृष्टि
१५ आरामरोपण	१६. आकारगोपन

१७. धर्म विचार	१८. शकुनसार
१९. क्रियाकल्प	२०. संस्कृतजल्प
२१. प्रासाद नीति	२२. धर्म नीति
२३. वर्णिकावृद्धि	२४. स्वर्ण सिद्धि
२५. सुरभितैलकरण	२६. लीलासंचरण
२७. हयगज-परीक्षा	२८. पुरुष-स्त्री-लक्षण
२९. हेमरत्न भेद	३० अष्टादश लिपि-परिच्छेद
३१. तत्काल बुद्धि	३२. वास्तुसिद्धि
३३. काम विक्रिया	३४. वैद्यक क्रिया
३५. कुंभ भ्रम	३६. सारी श्रम
३७. अंजन योग	३८. चूर्ण योग
३९. हस्तलाघव	४०. वचन पाटव
४१. भोज्य-विधि	४२. वाणिज्य-विधि
४३. मुखमण्डन	४४. शाली खण्डन
४५. कथाकथन	४६. पुष्पग्रंथन
४७ वक्रोक्ति	४८. काव्यशक्ति
४९. स्फारविधिवेष	५०. सर्वभाषा विशेष
५१. अभिधान-ज्ञान	५२. भूषण-परिधान
५३. भृत्योपचार	५४. गृहाचार
५५. व्याकरण	५६. परनिराकरण
५७. रंधन	५८. केश-बन्धन
५९. वीणानाद	६०. वितंडावाद
६१. अंक-विचार	६२. लोक व्यवहार
६३. अन्त्याक्षरिका	६४. प्रश्न प्रहेलिका

कल्प सूत्र के अनुसार चौसठ कलाएं निम्नलिखित हैं :

१. नृत्य	२. औचित्य
३. चित्र	४. वादित्र
५. मंत्र	६. तंत्र
७. घनवृष्टि	८. फलाकृष्टि
९. संस्कृतवाणी	१०. क्रियाकल्प
११. ज्ञान	१२. विज्ञान
१३. दम्भ	१४. जलस्तम्भ
१५. गीत	१६. ताल
१७. आकृति-गोपन	१८. आकार-गोपन

१९. वास्तु-दर्शन
२०. वक्रोक्ति
२१. नरलक्षण
२२. गज-परीक्षा
२३. अश्व-परीक्षा
२४. वास्तुसिद्धि
२५. लघु बुद्धि
२६. शकुन-विचार
२७. धर्माचार
२८. अंजनयोग
२९. चूर्ण योग
३०. गृहीधर्म
३१. प्रसादन कर्म
३२. सुवर्ण सिद्ध
३३. वर्णिकावृद्धि
३४. वाक्पाटव
३५. करलाघव
३६. ललितचरण
३७. तैलसुरभिकरण
३८. भृत्योपचार
३९. गृहाचार
४०. व्याकरण
४१. परनिराकरण
४२. वीणानाद
४३. वितण्डावाद
४४. अंकस्थिति
४५. जनाचार
४६. कुम्भभ्रम
४७. सारिश्रम
४८. रत्नमणिभेद
४९. लिपिपरिच्छेद
५०. वैद्य-क्रिया
५१. कामाविष्करण
५२. रसोई
५३. केशबन्धन
५४. शालिखण्डन
५५. मुखमण्डन
५६. कथाकथन
५७. कुसुम-ग्रथन
५८. सर्वभाषा विशेष
५९. वाणिज्य
६०. भोज्य
६१. अभिधान-परिज्ञान
६२. यथास्थान आभूषण धारण
६३. अन्त्याक्षरिका
६४. प्रहेलिका

कामसूत्र के विद्या समुद्देश में चौसठ कलाओं के नाम इस प्रकार हैं :

१. गीत
२. वाद्य
३. नृत्य
४. आलेख्य
५. विशेषकच्छेद्य
६. तंदुल कुसुमबलिविकार
७. पुष्पास्तरण
८. दशन वसनांगराग
९. मणिभूमिकाकर्म
१०. शयन-रचन
११. उदकवाद्य
१२. उदकघात
१३. चित्र योग
१४. माल्यग्रथन
१५. शेखर का पीड़ योजन
१६. नेपथ्य प्रयोग
१७. कर्णपत्र भंग
१८. गंधयुक्ति
१९. भूषणयोजन
२०. इन्द्रजाल

२१. कौचुमारयोग
२२. हस्तलाघव
२३. विचित्रशाक
२४. पानकरसरागासव योजन
२५. सूचीवान कर्म
२६. सूत्रक्रीडा
२७. वीणाडमरूक वाद्य
२८. प्रहेलिका
२९. प्रतिमाला
३०. दुर्वचिक योग
३१. पुस्तक-वाचन
३२. नाटकाख्यायिक दर्शन
३३. काव्य समस्या-पूर्ति
३४. पत्रिका वेत्रवान विकल्प
३५. तक्षकर्म
३६. तक्षण
३७. वास्तुविधि
३८. रूप्यरत्न परीक्षा
३९. धातुवाद
४०. मणिरागाकर-ज्ञान
४१. वृक्षायुर्वेद
४२. मेषकुकुटलावक युद्ध-विधि
४३. शुकसारिका प्रलापन
४४. उत्सादन, संवाहन और केश
कौशल
४५. अक्षर मुष्टिका कथन
४६ म्लेच्छित कलाविकल्प
४७. देश भाषाविज्ञान
४८. पुष्पकटिका
४९. निमित्त ज्ञान
५०. यत्र मातृका
५१. धारण मातृका
५२. संपाठ्य
५३. मानसी काव्यक्रिया
५४. अभिधान कोश
५५. छन्दो विज्ञान
५६. क्रियाकल्प
५७. छलितक योग
५८. वस्त्र-गोपन
५९. द्यूत विशेष
६०. आकर्ष क्रीड़ा
६१. बालक्रीडन
६२. वैनयिका
६३. वैजयिका
६४. व्यायिकी

●

: ३ :

अठारह लिपि

जिसके माध्यम से अपने भाव लिखकर व्यक्त किये जा सकें, उसे लिपि कहा जाता है। भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को सर्वप्रथम अठारह लिपियों का ज्ञान दिया था। वे इस प्रकार हैं :

१. ब्राह्मी	२. यावनी
३. दोषउपरिका	४. खरोष्ट्रिका
५. खरसाविका	६. पहारातिगा
७. उच्चत्तरिका	८. अक्षरपृष्टिका
९. भोगवतिका	१०. वैणकिया
११. निण्हविका	१२. अंकलिपि
१३. गणितलिपि	१४ गधर्वलिपि
१५. आदर्शलिपि	१६. माहेश्वरी
१७. दामिलिपि	१८. बोलिदलिपि

—समवायांग सूत्र, सम० १८ के आधार पर

पन्नवणा सूत्र में कुछ भेद के साथ अठारह लिपियों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं :

१. ब्राह्मी	२. यावनी
३. दोसापुरिया	४. खरोष्ठी
५. पुक्खरसारिया	६. भोगवती (भोगवइया)
७. पहराइया	८. अन्तक्खरिया
९. अक्खर पुट्ठिया	१०. वेनयिकी
११. निह्नविकी	१२. अंकलिपि
१३. गणितलिपि	१४. गधर्वलिपि
१५. आयसलिपि	१६. माहेश्वरी
१७. दोमिलिपि	१८. पौलि दी

—पन्नवणा पद १, सूत्र ३७ के आधार पर

: ४ :

नाना तापस

औपपातिक सूत्र मे गगा के तट पर रहने वाले नाना तापसो का वर्णन मिलता है। उनके आचार, अनुष्ठान व विधि-विधान एक-दूसरे से भिन्न है। वे तापस इस प्रकार है :

१. होत्तिय—अग्निहोत्र करने वाले
२. पोत्तिय—वस्त्रधारी तापस
३. कोत्तिय—भूमि पर सोने वाले
४. जण्णई—यज्ञयाजिन
५. सड्ढई—श्राद्धिक तापस
६. थालई—अपना सामान साथ लेकर घूमने वाले
७ हुंबउट्ठा—कुण्डिका सदा साथ मे लेकर भ्रमण करने वाले
८. दन्तुक्खलिया—फलभोजी
९. उम्मज्जका—उन्मज्जन मात्र से स्नान करने वाले
१०. सम्मज्जका—कई बार गोता लगाकर सम्यक् रूप से स्नान करने वाले
११. निम्मज्जका—क्षण मात्र मे स्नान करने वाले
१२. सपक्खला—मिट्टी घिस कर शरीर साफ करने वाले
१३ दक्खिणकूलका—गगा के दक्षिण किनारे पर रहने वाले
१४. उत्तरकूलका—गगा के उत्तर किनारे पर रहने वाले
१५ संखधम्मका—भोजन से पूर्व शख बजाने वाले ताकि भोजन के समय कोई न आवे
१६. कूलधम्मका—तट पर शब्द करके भोजन करने वाले
१७ मियलुद्धका—पशुओ का मृगया करने वाले
१८. हत्थितावसा—ये लोग हाथी मार लेते थे और महीनो तक उसी का मांस खाते थे
१९ उद्दण्डका—दण्ड ऊपर करके चलने वाले

विशेषावश्यक टीका व कल्पसूत्र में अठारह लिपियों के नाम कुछ भिन्न दिये हैं। वे इस प्रकार हैं :

१. हंस	२. भूत
३. यक्षी	४. राक्षसी
५. उड्डी	६. यवनी
७. तुरुक्की	८. कीरी
९. द्रविड़ी	१०. सिंघवीय
११. मालवीनी	१२. नडि
१३. नागरी	१४. लाट
१५. पारसी	१६. अनिमित्ती
१७. चाणक्की	१८. मूलदेवी

कल्प सूत्र में उपरोक्त नामों के अतिरिक्त निम्न प्रकार से भी अठारह नाम बताये गये हैं :

१. लाटी	२. चौडी
३. डाहली	४ कानडी
५. गूजरी	६' सोरहठी
७. मरहटी	८. कोंकणी
९. खुरासानी	१०. मागधी
११. सिंहली	१२ हाडी
१३. कीडी	१४. हम्मीरी
१५. परसी	१६. मसी
१७. मालवी	१८. महायोधी

: ४ :

नाना तापस

औपपातिक सूत्र में गगा के तट पर रहने वाले नाना तापसों का वर्णन मिलता है। उनके आचार, अनुष्ठान व विधि-विधान एक-दूसरे से भिन्न हैं। वे तापस इस प्रकार हैं:

१. होत्तिय—अग्निहोत्र करने वाले
२ पोत्तिय—वस्त्रधारी तापस
३ कोत्तिय—भूमि पर सोने वाले
४. जण्णई—यज्ञयाजिन
५. सड्ढई—श्राद्धिक तापस
६ थालई—अपना सामान साथ लेकर घूमने वाले
७. हुपहुट्ठा—कुण्डिक सदा साथ में लेकर भ्रमण करने वाले
८. दन्तुक्खलिया—फलभोजी
९. उम्मज्जका—उन्मज्जन मात्र से स्नान करने वाले
१०. सम्मज्जका—कई बार गोता लगाकर सम्यक् रूप से स्नान करने वाले
११. निम्मज्जका—क्षण मात्र में स्नान करने वाले
१२ सपक्खला—मिट्टी घिस कर शरीर साफ करने वाले
१३. दक्खिणकूलका—गगा के दक्षिण किनारे पर रहने वाले
१४. उत्तरकूलका—गगा के उत्तर किनारे पर रहने वाले
१५. सखधम्मका—भोजन से पूर्व शख बजाने वाले ताकि भोजन के समय कोई न आये
१६. कूलधम्मका—तट पर शब्द करके भो
१७. मिगलुद्धका—पशुओं का मृगया
१८. हत्थितावसा मी का मास खाते थे

२०. दिसापोक्खीणो—चारों दिशाओं में जल छिड़ककर फल-फूल एकत्र करने वाले

२१. वाकवासिणो—वल्कलधारी

२२. अंबुवासिणो—पानी में रहने वाले

२३. बिलवासिणो—बिल (गुफाओं) में रहने वाले

२४. जलवासिणो—जल में रहने वाले

२५. वेलवासिणो—समुद्रतट पर रहने वाले

२६. रुक्खमूलिया—वृक्षों के नीचे रहने वाले

२७. अंबुभक्खिणो—केवल जल पीकर रहने वाले

२८. वायुभक्खिणो—केवल हवा पर रहने वाले

२९. सेवालभक्खिणो—शैवाल खाकर रहने वाले

३०. मूलाहारा—केवल मूल खाने वाले

३१. कंदाहारा—केवल कंद खाने वाले

३२. तयाहारा—केवल वृक्ष की छाल खाने वाले

३३. पत्ताहारा—केवल पत्र खाने वाले

३४. पुप्फाहारा—केवल पुष्प खाने वाले

३५. बीयाहारा—केवल बीज खाने वाले

३६. परिसडियकंदमूलतयपत्तफलपुप्फफलाहारा—कंद, मूल, छाल, पत्ता, पुष्प, फल खाने वाले

३७. जलाभिसेयकढिणगायभूया—बिना स्नान भोजन न करने वाले

३८. आयावणाहिं—थोड़ा आतप सहन करने वाले

३९. पंचग्गितावेहिं—पंचाग्नि तापने वाले

४०. इंगालसोल्लियं—अंगार पर सेक कर खाने वाले

४१. कंडुसोल्लियं—तवे पर सेक कर खाने वाले

४२. कट्ठसोल्लियं—लकड़ी पर पका भोजन खाने वाले

* * *

१. अत्तुक्कोसिया—आत्मा में ही उत्कर्ष मानने वाले

२. भूइकम्मिया—ज्वरित आदि उपद्रव में रक्षार्थ भूमिदान करने वाले

३. भुज्जो-भुज्जो कोउयकारका—सौभाग्यादि के निमित्त स्नानादि कराने वाले कौतुककारक

* * *

औपपातिक सूत्र में कुछ तापसों का उल्लेख स्फुट रूप से भी मिलता है। वे इस प्रकार हैं :

१. धम्मचिंतक—धर्मशास्त्र पाठक

२. गोव्वइया—गोव्रत धारण करने वाले
३. गोममा—छोटे बैल को कदम रखना सिखला कर भिक्षा मागने वाले
४. गीयरई—गीत-रति से लोगों को मोहने वाले

* * *

विजयेन्द्रसूरि ने तीर्थंकर महावीर, भाग १, परिशिष्ट में औपपाति सूत्र के अतिरिक्त आगमेतर साहित्य के संदर्भों से भी कुछ एक तापसों क उल्लेख किया है। वे इस प्रकार हैं :

१. चडिदेवगा[1]—चक्र को धारण करने वाले, चंडी के भक्त।
२. दगसोयारिय[2]—साख्य मत के अनुयायी जो पानी बहुत गिराते हैं।
३. कम्मारभिक्खु[3]—देवताओं की द्रोणी लेकर भिक्षा मागने वाले।
४. कुच्चए[4]—दाढी रखने वाले।
५. पिंडोलवा[5]—भिक्षा पर जीवन-निर्वाह करने वाले
६. ससरक्ख सचित्तरजोयुक्ते[6]—धूलिवाला तापस
७. वारिभद्रक[7]—पानी में ही कल्याण मानने वाले
८. वारिखल[8]—मिट्टी से बारह बार भाजन शुद्ध करने वाले।

इस प्रकार विभिन्न सन्दर्भों में ५७ प्रकार के तापसों का उल्लेख पाय जाता है। निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि के विभिन्न स्थलों पर भी इकतीस प्रकार के श्रमण-श्रमणियों का उल्लेख मिलता है।

१. आजीवक, २. कप्पडिय, ३. कव्वडिय, ४. कावालिय, ५. कावाल, ६. कापालिका, ७. गेरुअ, ८. गोव्वय, ९. चरक, १० चरिका, ११. तच्चनिय, १२. तच्चणणी, १३. तडिय, १४. तावस, १५. तिदण्डगी परिव्वायक, १६. दिसापोक्खिय, १७ परिव्वाय, १८. परिव्राजिका, १९. पचगव्वासणीय, २०. पचग्गितावय, २१. पडरग, २२. पडर भिक्खु, २३. रत्तपड, २४. रत्तपडा, २५. वणवासी, २६. भगवी, २७. वुड्ढसावक, २८. सक्क-सावय, २९. सरकव, ३०. समण, ३१. हुडुसरकव।

---

१. सूत्रकृताग, प्रथम भाग, पत्र १५४-१ (निर्युक्ति)
२. पिंडनिर्युक्ति मलयगिरि की टीका सहित, गाथा ३१४, पत्र ९८-१
३. बृहत्कल्पभाष्य ३, ४३२१, विभाग ४, पृ० ११७०
४. वही १, २८२२, विभाग ३, पृ० ७९८
५. उत्तराध्ययन चूर्णि पत्र १३८
६. आचाराग सूत्र २, १, ६, ३
७. सूत्रकृताग प्रथम भाग, पत्र १५४-१ (निर्युक्ति)
८. बृहत्कल्पभाष्य १, १७३८—विभाग २, पृ० ५११

: ५ :

तीनसौतरेसठ दर्शनाभास

सूत्रकृतांगसूत्र[1], अ० २; स्थानांगसूत्र[2], स्था० ४, उ० ४; भगवती श० ३०, उ० १; उत्तराध्ययनसूत्र नेमीचन्द्रीय टीका, अध्ययन १८, गा० आदि में मुख्यत. १. क्रियावाद, २. अक्रियावाद, ३. अज्ञानवाद और ४. वि वाद; इन चार दर्शनो का उल्लेख मिलता है। समवायांगसूत्र,[5], नन्दीसूत्र सूत्रकृतांग-निर्युक्ति, स्थानांगसूत्र[8] टीका, प्रवचन सारोद्धार, हरिभद्रीय आवश्यक निर्युक्ति टीका आदि मे उनकी शाखा-प्रशाखाओं का भी उल्ले किया गया है। यहा क्रियावाद के १८०, अक्रियावाद के ८४, अज्ञानव

---

१. किरियावाईणं अकिरियावाईणं अन्नाणियवाईणं वेणइयवाईणं।

२. चत्तारि वातिसमोसरणा पं०—किरियावादी, अकिरियावादी, अन्नाणि यवादी, वेणइयवादी।

३. गोयमा! चत्तारि समोसरणा पण्णत्ता, तंजहा किरियावादी, अकिरियावादी अन्नाणियवाई, वेणइयवाई।

४. किरिअं अकिरिअं विणयं अण्णाणं च महामुणी।
एएहिं चउहिं ठाणेहिं मे अण्णे किं पभासति।

५. असीअस्स किरियावाइसयस्स, चउरासीइए अकिरियावाईणं, सत्तट्ठिए अण्णाणियवाईणं, बत्तीसाए वेणइयवाईणं, तिण्हं तेवट्ठीणं अण्णदिट्ठिय सयाणं वूहं।

६. असीअस्स किरियावाइयसयस्स, चउरासीइए अकिरिआवाईणं, सत्तट्ठिए अण्णाणिअवाईणं, वत्तीसाए वेणइअवाईणं, तिण्हं तेसट्ठाणं पासंडियसयाणं।

७. असीयसयं किरियाणं, अक्किरियाणं च होइ चुलसीती।
अण्णाणिय सत्तट्ठी, वेणइयाणं च बत्तीसा॥

८. पत्र २६८-२

९. उत्तर भाग, पत्र ३४४-१

१०. पत्र ८१६-२

के ६७ और विनयवाद के ३२ भेद किये गये हैं। इस प्रकार १८०+८४+६७+३२=३६३ दर्शनाभास हो जाते हैं।

क्रियावाद की १८० शाखाएं

क्रियावाद की मान्यता के अनुसार पुण्यपापादि लक्षण क्रिया बिना कर्ता के हो नहीं सकती; क्योंकि वह आत्मा के साथ समवाय-सम्बन्धी है। जीव, अजीव आदि नव पदार्थों को वे केवल अस्तित्व स्वरूप ही मानते हैं। काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव का स्वतः-परतः और नित्य-अनित्य रूप से जीव आदि नौ तत्वों के साथ सम्बन्ध होने पर क्रियावाद की १८० शाखाएं होती हैं, जो इस प्रकार हैं :

१. जीव २. अजीव ३. पुण्य ४. पाप ५. आश्रव ६. संवर ७. निर्जरा ८ बन्ध ९. मोक्ष

स्वतः | परतः

नित्य | अनित्य | नित्य | अनित्य

काल ईश्वर आत्मा नियति स्वभाव | का० ई० आ० नि० स्व०

काल ईश्वर आत्मा नियति स्वभाव का० ई० [illegible]

९×२×२×५=१८०

अक्रियावाद की ८४ शाखाएं

अक्रियावाद के अनुसार पुण्यपापादि [illegible] अजीव [illegible] स्थिर पदार्थ [illegible] नहीं है। [illegible] है ही नहीं। [illegible] ही उनका [illegible] है। [illegible] १. जीव, २. अजीव, ३. आश्रव, ४. संवर, ५. निर्जरा [illegible] सात पदार्थ है। [illegible]

२. राजा, ३. यति, ४ ज्ञाति, ५. स्थविर, ६ अधम, ७. माता, ८. पिता, इनका १. मन, २. वचन, ३. काया और ४. देश-काल-उचित दान से विनय करना।

१. सुर २. राजा ३. यति ४. ज्ञाति ५. स्थविर ६ अधम ७ माता ८. पिता

मन — वचन — काया — देश-काल-उचित दान

८×४=३२

सभाष्य-चूर्णि निशीथ में निम्नलिखित दर्शन और दार्शनिकों के उल्लेख हैं :

१. आजीवग, २. ईसरमत, ३ उलूग, ४ कपिलमत, ५. कविल, ६. कावाल, ७. कावालिय, ८. चरग, ९. तच्चन्निय, १० परिव्वायग, ११. पंडरंग, १२. बोडिय, १३. भिच्छुग, १४. भिक्खू, १५ रत्तपड, १६. वेद, १७. सक्क, १८. सरक्ख, १९. सुतिवादी, २०. सेयवड, २१ सेयभिक्खु, २२. सासणमत, २३. हंडुसरक्ख।

बौद्ध-ग्रन्थों में

दीघनिकाय के ब्रह्मजाल-सुत्त में वर्णन है कि बुद्ध के काल में ६२ दार्शनिक मत प्रचलित थे। उनमें १८ धारणाएं 'आदि' के सम्बन्ध में और ४४ धारणाएं 'अन्त' के सम्बन्ध में थीं।[१]

---

१. दीघनिकाय मूल (नालंदा) पृ० १२ से ४०
दीघनिकाय (हिन्दी-अनुवाद) पृ० ५ से १५

२. ईश्वर, ३. आत्मा, ४. नियति, ५. स्वभाव और ६. यदृच्छा इन भेद-प्रभेदों से पृथक्-पृथक् शाखाएं होती हैं।

१. जीव २. अजीव ३. आस्रव ४. बन्ध ५. निर्जरा ६. बन्ध ७. मोक्ष

स्वतः   परतः

काल ईश्वर आत्मा नियति स्वभाव यदृच्छा काल ईश्वर आत्मा नियति स्वभाव यदृच्छा

७×२×६=८४

अज्ञानवाद की ६७ शाखाएं

ज्ञान बन्ध का कारण है और अज्ञान कल्याण का। पूर्ण ज्ञान किसी को हो नहीं सकता। अधूरे ज्ञान से नाना मतों की उत्पत्ति होती है; अतः ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार की मान्यता वालों की ६७ शाखाएं होती हैं १. सत्त्व, २. असत्त्व, ३. सदसत्त्व, ४. अवाच्यत्व, ५. सद्‌वाच्यत्व, ६. असद्‌वाच्यत्व, ७. सदसद्‌वाच्यत्व के द्वारा नव पदार्थों को कौन जानता है या उनके ज्ञान से क्या लाभ; इस प्रकार ६३ शाखाएं होती हैं। इनके अतिरिक्त पदार्थों की उत्पत्ति को सत्त्व, असत्त्व, सदसत्त्व, अवाच्यत्व से न जानना।

१. जीव २. अजीव ३. पुण्य ४. पाप ५. आश्रव ६. संवर ७. निर्जरा ८. बन्ध ९. मोक्ष

सत्त्व असत्त्व सदसत्त्व अवाच्यत्व सदवाच्यत्व असदवाच्यत्व सदसदवाच्यत्व

९×७+४ (उत्पत्ति के)=६७

विनयवाद की ३२ शाखाएं

विनयपूर्वक चलने वाले विनयवादी कहलाते हैं। उनके कोई वेश या शास्त्र नहीं होते। वे केवल मोक्ष को मानते है। उनकी ३२ शाखाएं है। १. सुर

२. राजा, ३. यति, ४. ज्ञाती, ५. स्थविर, ६. अधम, ७. माता, ८. पिता, इनका १. मन, २. वचन, ३. काया और ४. देश-काल-उचित दान से विनय करना।

१. सुर २. राजा ३. यति ४. ज्ञाती ५. स्थविर ६. अधम ७. माता ८. पिता

मन वचन काया देश-काल-उचित दान

८×४=३२

सभाष्य-चूर्णि निशीथ में निम्नलिखित दर्शन और दार्शनिकों के उल्लेख है :

१. आजीवग, २. ईसरमत, ३ उलूग, ४. कपिलमत, ५. कविल, ६. कावाल, ७. कावालिय, ८. चरग, ९. तच्चन्निय, १०. परिव्वायग, ११. पडरग, १२. बोडित, १३. भिच्छुग, १४. भिक्खू, १५. रत्तपड, १६. वेद, १७. सक्क, १८. सरक्ख, १९. सुतिवादी, २०. सेयवड, २१. सेयभिक्खु, २२. शाक्यमत, २३. हडुसरक्ख।

बौद्ध-ग्रन्थों में

दीघनिकाय के ब्रह्मजाल-सुत्त मे वर्णन है कि बुद्ध के काल मे ६२ दार्शनिक मत प्रचलित थे। उनमें १८ धारणाएं 'आदि' के सम्बन्ध में और ४४ धारणाएं 'अन्त' के सम्बन्ध मे थी।[1]

---

१. दीघनिकाय मूल (नालदा) पृ० १२ से ४०
दीघनिकाय (हिन्दी-अनुवाद) पृ० ५ से १५

: ६ :

नमि के पच्चास नगर

१. वाहुकेतु, २. पुडरीक, ३. हरित्केतु, ४. सेतकेतु, ५. सपारिकेतु, ६. श्रीवाहु, ७. श्रीगृह, ८. लोहार्गल, ९. अरिजय, १०. स्वर्गलीला, ११. वज्रगल, १२. वज्रविमोक, १३. महिसारपुर, १४. जयपुर, १५. सुकृतमुखी, १६. चतुर्मुखी, १७. बहुमुखी, १८. रत्ता, १९. विरक्ता, २०. आखंडलपुर, २१. विलासयोनिपुर, २२. अपराजित, २३. कांचिदम, २४. सुविनय, २५. नमःपुर, २६. क्षेमंकर, २७. सहचिन्नपुर, २८. कुसुमपुरी, २९. संजयती, ३०. शक्रपुर, ३१. जयन्ती, ३२. वैजयन्ती, ३३. विजया, ३४. क्षेमंकरी, ३५. चन्द्रभासपुर, ३६. रविभासपुर, ३७. सप्तभूतलावास, ३८. सुविचित्र, ३९. महाभ्रपुर, ४०. चित्रकूट, ४१. त्रिकूटक, ४२. वैश्रमणकूट, ४३. शशिपुर, ४४. रविपुर, ४५. विमुखी, ४६. वाहिनी, ४७. सुमुखी, ४८. नित्योद्योतिनी, ४९. श्रीरथनूपुर, ५०. चक्रवाल ।

: ७ :

विनमि के साठ नगर

१. अर्जुनी, २. वारुणी, ३. वैरसंहारिणी, ४. कैलासवारुणी, ५. विद्युद्दीप्त, ६. किलिकिल, ७. चारुचूडामणि, ८. चन्द्रभूषण, ९. वंशवत, १०. कुसुमचूल, ११. हंसगर्भ, १२. मेघकर, १३. शंकर, १४. लक्ष्मीहर्म्य, १५. चामर, १६. विमल, १७. असुमत्कृत, १८. शिवमंदिर, १९. वसुमती, २०. सर्वसिद्धस्तुत, २१. सर्वशत्रुंजय, २२. केतुमालाक, २३. इन्द्रकान्त, २४ महानन्दन, २५ अशोक २६. वीतशोक, २७. विशोकक, १८. सुखालोक, २९. अलकतिलक, ३०. नभस्तिलक, ३१. मंदिर, ३२. कुमुदकुन्द, ३३. गगनवल्लभ, ३४ युवतीतिलक, ३५. अवनितिलक, ३६. सगंधर्व, ३७. मुक्तहार, ३८. अनिमिषविष्टप, ३९. अग्निज्वाला, ४०. गुरुज्वाला, ४१. श्री निकेतनपुर, ४२ जयश्रीनिवास, ४३. रत्नकुलिश, ४४. वसिष्ठाश्रम, ४५. द्रविणजय, ४६ सभद्रक, ४७. भद्राशयपुर, ४८. फेनशिखर, ४९. गोक्षीरवर शिखर, ५०. वीरक्षोभ शिखर, ५१. गिरिशिखर, ५२. धरणी, ५३. वारणी, ५४. सुदर्शनपुर, ५५. दुर्ग, ५६ दुर्द्धर, ५७ माहेन्द्र, ५८. विजय, ५९. सुगन्धिन सुरत, ६०. नागरपुर और रत्नपुर ।

/

: ८ :

विद्याधरों की सोलह जातियाँ

गौरीणां नाम्ना गौरेया मनूनां मनुपूर्वकाः।
गान्धारीणां तु गान्धारा मानवीनां तु मानवाः॥
विद्यानां कौशिकीनां तु कौशिकी पूर्विकाः स्मृताः।
विद्यानां भूमितुण्डानां विदिता भूमितुण्डकाः॥
विद्यानां मूलवीर्याणां जल्पिता मूलवीर्यकाः।
शंकुकानां शंकुकास्तु पाण्डुकानां च पाण्डुकाः॥
कालीनां कालिकेयाश्च श्वपाकीनां श्वपाककाः।
मातंगीनां च मातंगाः पार्वतीनां च पार्वताः॥
वंशालयानां विद्यानां जाता वंशालया इति।
विद्यानां पांशुमूलानां विख्याताः पांशुमूलिकाः॥
विद्यानां वृक्षमूलानां विख्याता वृक्षमूलिकाः।
निकाया जज्ञिरे स्वस्व विद्यानाम्नेति षोडश॥

गौरी विद्या से गौरेय, मनु विद्या से मनुपूर्वक, गांधारी विद्या से गांध
मानवी विद्या से मानव, कौशिकी विद्या से कौशिक, भूमितुण्ड विद्या से भूमि
तुण्डक, मूलवीर्य विद्या से मूलवीर्यक, शंकुक विद्या से शंकुक, पांडुक विद्या
पांडुक, काली विद्या से कालिकेय, श्वपाकी विद्या से श्वपाकक, मातंगी वि
से मातंग, पार्वती विद्या से पार्वत, वंशालया विद्या से वंशालय, पांशुमूला वि
से पांशुमूलक और वृक्षमूला विद्या से वृक्षमूलक।

—पद्मानन्द महाकाव्य, सर्ग १

चौपन म्लेच्छ जातियाँ

प्रश्नव्याकरण सूत्र में ५४ जातियों के नाम मिलते हैं। इन जातियों
कार्यों की बहुलता थी; अतः इन्हें म्लेच्छ जाति कहा गया। यद्यपि यह
यह नहीं बताया गया है कि इनके नाम के पीछे अनश्रुति क्या है, फिर भी
भगवान् ऋषभदेव के कुछ एक पुत्रों के नामों से इन नामों की समानता होने

से जातियों के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उन जातियों के नाम इस प्रकार हैं :

१. शक, २ यवन, ३. शबर, ४. बर्बर, ५. गाय, ६ मुरुण्ड, ७ उद, ८ भटक, ९. तित्तिक, १०. पक्कणि [नितिक], ११ कुलाक्ष, १२. गौड, १३. सिंहल, १४. पारस, १५. क्रौंच, १६. अध्र [आन्ध्र], १७. द्राविड, १८. बिल्वलु, १९. पुलिन्द, २० अरोष, २१. डोंब, २२. पोक्कण, २३. गन्धहारक, २४. बहलीक, २५. जल्ल, २६. रोम, २७ माष, २८. बकुश, २९ मलय, ३०. चुचुक, ३१. चूलिक, ३२ कोंकणक, ३३. मेद, ३४. पह्लव, ३५ मालव, ३६. महुर, ३७. आभाषिक, ३८. अणक्क, ३९ चीन, ४०. ल्हासिक, ४१. खस, ४२. खासिक, ४३ नेहुर, ४४ मरहट्ठ, ४५ मूढ—मौष्टिक, ४६. आरब, ४७. डोंबिलक, ४८. कुहण, ४९. केकय, ५० हूण, ५१. रोमक, ५२. रुरु, ५३. मरुक, ५४. चिलाती।

—प्रश्नव्याकरणसूत्र, प्रथम अधर्मद्वार

: ६ :

चवदह रत्न

१. चक्र रत्न—चक्रवर्ती की सेना के आगे आकाश में चलता है। चक्रवर्ती को षट्खण्ड-साधन का मार्ग बताता है तथा युद्ध में शत्रुओं का शिरश्छेदन करता है।

२. छत्र रत्न—छत्राकार बनकर सेना को सर्दी, गर्मी व वर्षा से बचाता है।

३. दण्ड रत्न—विषम स्थान को सम बनाता है। वैताढ्य पर्वत की दोनों गुफाओं के द्वार खोलकर चक्रवर्ती को उत्तर भारत मे पहुंचाता है।

४. असि रत्न—पच्चास अंगुल लम्बा, सोलह अंगुल चौड़ा, आधा अंगुल मोटा तथा अत्यन्त धार युक्त। बहुत दूर से ही यह शत्रु का शिर काट लेता है।

५. मणि रत्न—ऊंचे स्थान पर रखने से यह चन्द्र की तरह प्रकाश फैलाता है। हाथी के कान पर बांधने से मालिक की सुनिश्चित विजय होती है।

६. काकिणी रत्न—उत्तर भारत मे जाते समय चक्रवर्ती जब वैताढ्य की गुफाओं में से गुजरता है, तब अन्धकार को मिटाने के लिए इस रत्न से एक-एक योजन के अन्दर से धनुष की तरह गोलाकार उनपचास मण्डल बनाता है। उनका प्रकाश चन्द्र के समान चक्रवर्ती की विद्यमानता तक रहता है। इन्हीं मार्गों से उत्तर भारत से दक्षिण भारत और दक्षिण भारत से उत्तर भारत की यात्राएं होती हैं।

७. चर्म रत्न—दिग्विजय के समय मार्ग में जब कभी बड़ी नदियां आती हैं, तब दिव्य शक्ति के द्वारा नाव रूप में बनकर यह चक्रवर्ती की सारी सेना को पार पहुंचाता है। उत्तर भारत में युद्ध के समय भील नरेशों द्वारा घोर वृष्टि द्वारा जल-प्लावन किये जाने पर सेना की सुरक्षा में नाव का आकार ग्रहण करता है।

८. सेनापति रत्न—चक्रवर्ती की सेना का प्रमुख, जो वासुदेव जितना बलिष्ठ होता है। दिग्विजय में मध्य के दो खण्डों में चक्रवर्ती पहुंचता है और

अन्य चार खण्डों में सेनापति के नेतृत्व में ही युद्ध होता है।

९. गाथापति रत्न—चक्रवर्ती व उसकी सेना का खाद्य—व्यवस्थापक।

१०. वर्धकी रत्न—युद्ध में जाते समय सेना का जहां पड़ाव लगता है, वहां अपनी दिव्य शक्ति से मुहूर्त-मात्र में ही सारी आवास-व्यवस्था करता है। वैताढ्य की 'उन्मुग्न जला' या 'निमग्न जला' नदियों पर पुल बांधने का कार्य यही करता है।

११. पुरोहित रत्न—मुहूर्त, लक्षण, व्यजन, स्वप्न व शान्ति-कर्म का ज्ञाता उपदेष्टा तथा कर्ता।

१२. स्त्री रत्न—वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी के राजा की नीरोग, सुरूप सदा युवती व अतिशय लावण्यवती पुत्री, जिसके स्पर्श मात्र से जनता के रोग दूर हो जाते हैं।

१३. अश्व रत्न—अस्सी अगुल ऊंचा, एकसौआठ अगुल लम्बा एव क्ष माात्र में ही अपने मालिक को ईप्सित स्थान पर पहुंचाने वाला।

१४. हस्ती रत्न—कार्यदक्ष, सुडौल और पुष्ट।

—ठाणागसूत्र ठा० ७; समवायाग सूत्र, समवाय १४ के आधार

वैदिक ग्रन्थों में चवदह रत्नों के नाम इस प्रकार है . हाथी, घोड़ा, र स्त्री, बाण, भण्डार, माला, वस्त्र, वृक्ष, शक्ति, पाश, मणि, छत्र और विमा

: ६ :

चवदह रत्न

१. चक्र रत्न—चक्रवर्ती की सेना के आगे आकाश मे चलता है। चक्रवर्ती को षट्खण्ड-साधन का मार्ग बताता है तथा युद्ध में शत्रुओं का शिरश्छेदन करता है।

२. छत्र रत्न—छत्राकार बनकर सेना को सर्दी, गर्मी व वर्षा से बचाता है।

३. दण्ड रत्न—विषम स्थान को सम बनाता है। वैताढ्य पर्वत की दोनों गुफाओं के द्वार खोलकर चक्रवर्ती को उत्तर भारत में पहुंचाता है।

४. असि रत्न—पच्चास अंगुल लम्बा, सोलह अंगुल चौडा, आधा अंगुल मोटा तथा अत्यन्त धार युक्त। बहुत दूर से ही यह शत्रु का शिर काट लेता है।

५. मणि रत्न—ऊंचे स्थान पर रखने से यह चन्द्र की तरह प्रकाश फैलाता है। हाथी के कान पर बाधने से मालिक को सुनिश्चित विजय होती है।

६. काकिणी रत्न—उत्तर भारत मे जाते समय चक्रवर्ती जब वैताढ्य की गुफाओं में से गुजरता है, तब अन्धकार को मिटाने के लिए इस रत्न से एक-एक योजन के अन्दर से धनुष की तरह गोलाकार उनपचास मण्डल बनाता है। उनका प्रकाश चन्द्र के समान चक्रवर्ती की विद्यमानता तक रहता है। इन्हीं मार्गों से उत्तर भारत से दक्षिण भारत और दक्षिण भारत से उत्तर भारत की यात्राएं होती हैं।

७. चर्म रत्न—दिग्विजय के समय मार्ग मे जब कभी बड़ी नदियां आती हैं, तब दिव्य शक्ति के द्वारा नाव रूप में बनकर यह चक्रवर्ती की सारी सेना को पार पहुंचाता है। उत्तर भारत में युद्ध के समय भील नरेशों द्वारा घोर वृष्टि द्वारा जल-प्लावन किये जाने पर सेना की सुरक्षा में नाव का आकार ग्रहण करता है।

८. सेनापति रत्न—चक्रवर्ती की सेना का प्रमुख, जो वासुदेव जितना बलिष्ठ होता है। दिग्विजय में मध्य के दो खण्डों में चक्रवर्ती पहुंचता है और

अन्य चार खण्डों में सेनापति के नेतृत्व में ही युद्ध होता है।

९. गाथापति रत्न—चक्रवर्ती व उसकी सेना का खाद्य—व्यवस्थापक।

१०. वर्धकी रत्न—युद्ध में जाते समय सेना का जहां पड़ाव लगता है, वहा अपनी दिव्य शक्ति से मुहूर्त-मात्र में ही सारी आवास-व्यवस्था करता है। वैताढ्य की 'उन्मुग्न जला' या 'निमग्न जला' नदियों पर पुल बांधने का कार्य यही करता है।

११. पुरोहित रत्न—मुहूर्त, लक्षण, व्यजन, स्वप्न व शान्ति-कर्म का ज्ञाता, उपदेष्टा तथा कर्त्ता।

१२. स्त्री रत्न—वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी के राजा की नीरोग, सुरूपा सदा युवती व अतिशय लावण्यवती पुत्री, जिसके स्पर्श मात्र से जनता के रोग, दूर हो जाते हैं।

१३. अश्व रत्न—अस्सी अगुल ऊचा, एकसौआठ अगुल लम्बा एवं क्षण मात्र में ही अपने मालिक को ईप्सित स्थान पर पहुचाने वाला।

१४. हस्ती रत्न—कार्यदक्ष, सुडौल और पुष्ट।

—ठाणागसूत्र ठा० ७; समवायाग सूत्र, समवाय १४ के आधार से

वैदिक ग्रन्थो मे चवदह रत्नो के नाम इस प्रकार हैं हाथी, घोडा, रथ, स्त्री, बाण, भण्डार, माला, वस्त्र, वृक्ष, शक्ति, पाश, मणि, छत्र और विमान।

: १० :

नव निधियां

नेसप्पे पण्डुयए पिंगलते सव्वरयण महापउमे।
काले य महाकाले माणव य महानिही संखे।

१. नैसर्प निधि—ग्राम-नगर बसाने, सेना के पड़ाव आदि की ज्ञापिका।

२. पाण्डुक निधि—गणित, मान, उन्मान तथा प्रमाण-विधि की ज्ञापिका।

३. पिंगल निधि—मनुष्य व पशुओं के पहनने योग्य आभूषणों की विधि की ज्ञापिका।

४. सर्वरत्न निधि—चक्रवर्ती के चौदह रत्न।

५. महापद्म निधि—सब प्रकार के वस्त्रों की उत्पत्ति, पहनने, रंगने व धोने की विधि।

६. काल निधि—काल, शिल्प व कर्म का ज्ञान। कालज्ञान—भूत-भविष्य के तीन-तीन वर्षों का शुभाशुभ फल सूचित करना। शिल्प ज्ञान—कुम्भकार, लोहकार, चित्रकार, नापित व जुलाहे का ज्ञान। कर्म ज्ञान—कृषि, वाणिज्य आदि कर्मों का ज्ञान।

७. महाकाल निधि—सब प्रकार की धातुओं का आकार; मणि, स्फटिक, मोती की उद्भाविका।

८. माणवक निधि—सुभटों के आवरण—सन्नाह आदि सब प्रकार के शस्त्रों की उत्पत्ति, युद्ध-नीति तथा दण्ड-नीति की विधि की ज्ञापिका।

९. शंख निधि—सब प्रकार के त्रुटितांग व वाद्य की विधि धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष; इन चार साधनों को बताने वाले शास्त्र।

—ठाणांगसूत्र ठा० ६ सूत्र १६; जम्बूदीपपण्णत्ति चक्रवर्ती-अधिकार के आधार से

हिन्दु धर्म शास्त्रों में १. महापद्म, २. पद्म, ३. शंख ४. मकर, ५. कच्छप, ६. मुकुन्द, ७. कुन्द, ८. नील और ९. खर्व; ये नव निधियां बतलाई गई हैं। निधियां कुबेर का भण्डार भी कहलाती हैं।

: ११ :

अठारह श्रेणी-प्रश्रेणी

नव नारु और नव कारु को अठारह श्रेणी कहा गया है। जम्बूदीवपण्णत्ति वृत्ति [वक्षस्कार ३, पत्र १९३] में उनके नामों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :

नव नारु

१. कुम्भकार, २. रेशमी वस्त्र बनाने वाला, ३. स्वर्णकार, ४ सूपकार, ५. गायक, ६. नापित, ७. मालाकार, ८. कच्छकार, ९ तमोली।

नव कारु

१. चर्मकार, २. जन्तु-पीलक [तेली], ३. गंछी [अंगोछा बेचने वाले], ४. छींपा, ५. कंसकार [ठठेरा], ६. दर्जी, ७. ग्वाला, ८. शिकारी, ९. मछुवे।

बौद्ध ग्रन्थ महावस्तु, भाग ३ में श्रेणियों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं :

१. सौवर्णिक
२. हैरण्यिक
३. प्रावारिक—चादर बेचने वाले
४. दासिक—दास का काम करने वाले
५. दन्तकार—हाथी दान्त का काम करने वाले
६. मणिकार
७. पत्थर का काम करने वाले
८. गंधी
९. रेशमी कपड़े वाले
१०. कम्बलिक—ऊनी कपड़े वाले
११. तेली
१२. घृतकुण्डिक—घी बेचने वा[illegible]

: १० :

नव निधियाँ

नेसप्पे पडुयए पिंगलते सव्वरयण महापउमे।
काले य महाकाले माणव य महानिही संखे।

१. नैसर्प निधि—ग्राम-नगर बसाने, सेना के पड़ाव आदि की ज्ञापिका।

२. पाण्डुक निधि—गणित, मान, उन्मान तथा प्रमाण-विधि की ज्ञापिका।

३. पिंगल निधि—मनुष्य व पशुओं के पहनने योग्य आभूषणों की विधि की ज्ञापिका।

४. सर्वरत्न निधि—चक्रवर्ती के चोदह रत्न।

५. महापद्म निधि—सब प्रकार के वस्त्रों की उत्पत्ति, पहनने, रंगने व धोने की विधि।

६. काल निधि—काल, शिल्प व कर्म का ज्ञान। कालज्ञान—भूत-भविष्य के तीन-तीन वर्षों का शुभाशुभ फल सूचित करना। शिल्प ज्ञान—कुम्भकार, लोहकार, चित्रकार, नापित व जुलाहे का ज्ञान। कर्म ज्ञान—कृषि, वाणिज्य आदि कर्मों का ज्ञान।

७. महाकाल निधि—सब प्रकार की धातुओं का आकार; मणि, स्फटिक, मोती की उद्भाविका।

८. माणवक निधि—सुभटों के आवरण—सन्नाह आदि सब प्रकार के शस्त्रों की उत्पत्ति, युद्ध-नीति तथा दण्ड-नीति की विधि की ज्ञापिका।

९. शंख निधि—सब प्रकार के त्रुटितांग व वाद्य की विधि धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष; इन चार साधनों को बताने वाले शास्त्र।

—ठाणांगसूत्र ठा० ९ सूत्र १९; जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति चक्रवर्ती-अधिकार के आधार से

हिन्दु धर्म शास्त्रों में १. महापद्म, २. पद्म, ३. शंख ४. मकर, ५. कच्छप, ६. मुकुन्द, ७. कुन्द, ८. नील और ९. खर्व: ये नव निधियां बतलाई गई हैं। ये निधियां कुबेर का भण्डार भी कहल

: ११ :

अठारह श्रेणी-प्रश्रेणी

नव नारु और नव कारु को अठारह श्रेणी कहा गया है। जम्बूदीपपण्णत्ति वृत्ति [वक्षस्कार ३, पत्र १९३] में उनके नामों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :

नव नारु

१. कुम्भकार, २. रेशमी वस्त्र बनाने वाला, ३. स्वर्णकार, ४ सूदकार, ५ गायक, ६. नापित, ७ मालाकार, ८. कच्छकार, ९ तमोली।

नव कारु

१. चर्मकार, २. जन्तु-पीलक [तेली], ३. गच्छी [अगोछा बेचने वाले], ४. छीपा, ५. कंसकार [ठठेरा], ६. दर्जी, ७. ग्वाला, ८. शिकारी, ९. मछुये।

बौद्ध ग्रन्थ महावस्तु, भाग ३ में श्रेणियों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं :

१. सौवर्णिक
२. हैरण्यिक
३. प्रावारिक—चादर बेचने वाले
४. शांखिक—शंख का काम करने वाले
५. दन्तकार—हाथी दान्त का काम करने वाले
६. मणिकार
७. पत्थर का काम करने वाले
८. गंधी
९. रेशमी कपड़े वाले
१०. कोशाविक—ऊनी कपड़े वाले
११. तेली
१२. घृतकुण्डिक—घी बेचने वाले

१३. गौलिक—गुड़ बेचने वाले
१४. वारिक—पान बेचने वाले
१५. कार्पासिक—कपास बेचने वाले
१६. दाध्यिक—दही बेचने वाले
१७. पूयिक—पूये बेचने वाले
१८. खण्डकारक
१९. मोदकारक
२०. कण्डुक—कन्दोई
२१. सपितकारक—ग्राटा बेचने वाले
२२. सतूकारक
२३. फलवणिज
२४. मूलवणिज
२५. सुगन्धित चूर्ण और तैल बेचने वाले
२६. गुडपाचक
२७. खाण्ड वनाने वाले
२८. सोंठ बेचने वाले
२९. सीधुकारक
३०. शर्करवणिज

डा० रमेशचन्द्र मजूमदार को अठारह श्रेणियां कौनसी थी; यह ज्ञात नहीं हो सका। सम्भवत: जम्बूदीपपण्णत्ति के पारायण का अवसर उन्हें प्राप्त न हुआ हो; इसीलिए उन्होंने विभिन्न स्थानों से संगृहीत कर एक स्वतंत्र तालिका तैयार की है, जो इस प्रकार है :

१. लकड़ी पर काम करने वाले (जातक ६, पृ० ४२७)
२. धातुओं का काम करने वाले (वही)
३. पत्थर का काम करने वाले
४. चमड़े का काम करने वाले (वही)
५. हाथी दान्त पर काम करने वाले
६. ग्रादेयांत्रिक (नासिक—इंस्क्रप्शन, ल्यूडर्स, ११३७)
७. वासकार (जुन्नार—इंस्क्रप्शन, ल्यूडर्स, ११६५)
८. कसकार (वही)
९. जौहरी
१०. जुलाहे (ना० इं०
११. कुम्हार (ना० इं०
१२. तेली (वही)

१३. टोकरी बनाने वाले
१४. रंगरेज
१५. चित्रकार (जातक ६, पृ० ४२७)
१६. धार्मिक (जु० इ० ११८०)
१७. कृषक (गौतम धर्म सूत्र ६, २१)
१८. मद्यवाहे
१९. पशु-वध करने वाले
२०. नाई
२१. माली (जातक ३, ४०५)
२२. जहाजी (जातक ४, १३७)
२३. ढोर चराने वाले (गौ० ध० सू० ६, २१)
२४. सार्थवाह (वही, जातक १, ३६८, जातक २, २९५)
२५. डाकू (जातक ३, ३८८; ४, ४३०)
२६. जंगल में नियुक्त रक्षक (जातक २, ३३५)
२७. कर्ज देने वाले (गौ० ध० शा० २१ तथा रीसडेविस की बुद्धिस्ट-इण्डिया पृ० ९०)

यजुर्वेद में

यजुर्वेद के ३० वें अध्याय में समाज-व्यवस्था के विभाजन तथा वर्ण-व्यवस्था के बारे में कहा गया है 'ब्रह्म' कृत्यों के लिए ब्राह्मण, राज कृत्यों के लिए क्षत्रिय, वाणिज्य और कृषि के लिए वैश्य तथा सेवा और तपस्या के लिए शूद्र आदि की स्थापना हुई। इसी प्रकार वहां अन्यान्य शिल्प, उद्योग आदि का उल्लेख भी मिलता है जो श्रेणी-प्रश्रेणी से बहुत कुछ समानता रखता है। इनमें से कुछ उद्योग तो ऐसे है जो एक ही के विस्तार हैं *तथा कुछ एक नाम-भिन्नता से वर्णित किये गये हैं; अतः उनकी संख्या ५३ हो गई है।*

१. कारि—शिल्पकार
२. रथकार—रथ बनाने वाला
३. तक्षाण—बढ़ई
४. कौलाल—कुम्भकार का पुत्र
५. कर्मार—राज-मिस्त्री
६. मणिकार—जौहरी

---

१. ब्रह्मणे ब्राह्मणं, क्षत्राय राजन्यं, मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे शूद्रम्।
—यजुर्वेद, ३०।५

७. वप—बीज बोने वाला
८. इषुकार—बाण बनाने वाला
९. धनुष्कार—धनुष बनाने वाला
१०. ज्याकार—धनुष की ज्या [तांत] बनाने वाला
११. रज्जुसर्ज—रस्सी बनाने वाला
१२. मृगयु—शिकारी या मृगों को जानने वाला
१३. श्वनिन—कुत्तों को जानने वाला
१४. पौञ्जिष्ठ—मछुआ
१५. विदलकारी—बास चीरने वाली स्त्री
१६. कण्टकीकारी—कांटों से काम करने वाली स्त्री
१७. पेशस्कारी—कढ़ाई का काम करने वाली स्त्री
१८. भिषज—वैद्य
१९. नक्षत्रदर्श—ज्योतिविद
२०. हस्तिप—हाथियों का रक्षक
२१. अश्वप—घोड़ों का रक्षक
२२. गोपाल—ग्वाला
२३. अविपाल—गडेरिया या भेड़ों का पालक
२४. अजपाल—बकरियो का पालक
२५. कीनाश—किसान
२६. सुराकार—मद्य बनाने वाला
२७. गृहप—द्वारपाल
२८. अनुक्षत्तृ—द्वारपाल का अनुचर
२९. दार्वाहार—लकडहारा
३०. अग्न्येध—आग जलाने वाला
३१. अभिषेक्तृ—अभिषेक करने वाला
३२. पेशितृ—नक्कासी या कढाई करने वाला मिस्त्री
३३. वास: पल्पूली—धोबिन
३४. रजयित्री—रगरेजिन
३५. अयस्ताप—लोहार
३६. योक्तृ—हल या रथ का जूआ लगाने वाला
३७. आञ्जनीकारी—अञ्जन लगाने वाली
३८. कोशकारी—म्यान बनाने वाली
३९. अजिनसन्ध—खाल साफ [illegible] और खाल पकाने वाला
४०. चर्मम्न—चर्म को अन्त [illegible] ला

४१. बैन्द—धीवर
४२. दाश—मछुआ
४३. धैवर—तालाब में मछली पकड़ने वाला
४४. शौष्कल—मछली बेचने वाला
४५. मार्गार—मछली खोजने वाला
४६. कैवर्त—मछली पकड़ने वाला
४७. आन्द—पानी बाँधकर मछली पकड़ने वाला
४८. मैनाल—छिछले पानी में मछली पकड़ने वाला
४९. हिरण्यकार—सुनार
५०. वाणिज—बनिया
५१. प्रच्छिद—भट्टी बनाने वाला
५२. वनप—वन की सुरक्षा रखने वाले
५३. दावप—जंगलों को आग लगने से बचाने वाला

—वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा, पृ० २९-३१

डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने 'हिन्दू सभ्यता' पुस्तक में पृथक्-पृथक् समय में प्रचलित नाना शिल्पों का उल्लेख किया है। उनमें ऋग्वेद में उल्लिखित तथा ई० पू० ६५०-३२५ के समय प्रचलित होने वाले शिल्पों का सोदाहरण विवेचन किया है।

ऋग्वेद

१. बढ़ई—यह शिल्पियों का अगुआ था और युद्ध तथा सवारी के लिए रथ, माल ढोने के लिए छकड़े आदि बनाता था।

२. कर्मार—धातु का काम करने वाला। यह चिड़ियों के पंखों की धोंकनी और सूखी लकड़ियों से धातु को गलाकर उसके बर्तन बनाता था। लोहे को पीटकर भी बर्तन बनाये जाते थे।

३. हिरण्यकार—सोने के आभूषण बनाता था।

४. चर्मकार—प्रत्यञ्चा, गोफना, रथ कसने की बद्धियां, रास, चाबुक, मशक आदि चमड़े का सामान तैयार करता था।

५. बुनकर—बुनाई का काम अधिकांशतः स्त्रियां ही करती थी।

६. भिषज—वैद्य

७. उपलप्रक्षिणी—चक्की पीसने वाली।

ई० पू० ६५०-३२५ के शिल्प

डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने ई० पू० ६५०-३२५ के मध्यवर्ती जिन शिल्पों

का उल्लेख किया है, वे बौद्ध वाङ्मय पर आधारित हैं। 'महावस्तु' में समागत श्रेणियों के नामों से ये कुछ भिन्न हैं तथा कुछ समान भी हैं। यहां कुछ शिल्प को 'हीन शिल्प' के नाम से अभिहित किया गया है तथा कुछ एक को विशेष (बढ़िया)।

१. वड्ढकी—नाव, शकट, यान, रथ आदि कई प्रकार की गाड़ियां बनाने वाला।

२. कर्मार—सब प्रकार की धातुओं का काम करने वाला।

३. चर्मकार—चमड़े का काम करने वाला।

४. चित्रकार

५. थपति—कई प्रकार का काष्ठ-कर्म करने वाला।

६. तच्छक—रन्दने वाला।

७. भ्रमकार—खरादी

८. पाषाण कोट्टक—पत्थर का काम करने वाला।

विशेष शिल्प

१. दन्तकर्म—हाथी दान्त का काम करने वाले

२. तन्तुवाय—बुनकर

३. आपूपिक कर्म—हलवाई

४. सुवर्णकार कर्म

५. मणि कर्म—रत्नों का काम

६. कुम्भकार या कुलाल कर्म

७. ईषुकार और धनुपकार कर्म

८. मालाकार कर्म

हीन शिल्प

१. व्याध, वागुरिक—जाल लगाकर फसाने वाले।

२. मछुए—कैवर्त या मत्स्य-घाती।

३. सौनिक—पशु-घाती और चमड़ा सिझाने वाले।

४. नट, नर्तक, गायक

५. बेंत, तिनकों आदि को बीन कर सामान बनाना, गाड़ी बनाना।
ये वन्य जातियों के शिल्प कर्म थे।

परिशिष्ट : ३

आधारभूत ग्रन्थ व पत्र-पत्रिकाएं

अग्नि-परीक्षा
अग्निपुराण
अजैन विद्वानों की सम्मतियां
अभिज्ञानशाकुन्तल
अभिधान राजेन्द्र
अहिंसा-वाणी
आचारांगसूत्र
आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ
आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ
आचार्य श्री तुलसी के अमर सन्देश
आदिपुराण
आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प
आवश्यक चूर्णि
आवश्यक निर्युक्ति
आवश्यक मलयगिरि, प्रथम खण्ड
उत्तररामचरितम्
उत्तराध्ययनसूत्र
उत्तराध्ययनसूत्र चूर्णि
उत्तराध्ययन सूत्र नेमिचन्द्रीय टीका
उपायहृदयशास्त्र
उववाई सूत्र
ऋग्वेद
ऋषभ चरित्र
कला और संस्कृति
कल्पसूत्र

कल्पसूत्र किरणावलि
कल्याण, देवी भागवत-अंक
कामसूत्र
काल लोक प्रकाश
कूर्मपुराण
गरुडपुराण
जम्बूदीपपण्णत्ति
जम्बूदीपपण्णत्तिवृत्ति
जैन इतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान
जैन एन्टिक्वेरी
जैन धर्म की प्राचीनता
जैन पथप्रदर्शक, भा० ३
जैन मत सार
ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र
ज्ञानयोग का तत्त्व
ठाणांगसूत्र
ठाणांगसूत्र वृत्ति
तीर्थंकर महावीर
तैत्तिरीय आरण्यक
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र
दशवैकालिकसूत्र, चूलिका
दीघनिकाय ब्रह्मजाल सुत्त
धम्मपद
नन्दीसूत्र
नया युग
नवभारत टाइम्स
नारदपुराण
न्यायबिन्दु
पउमचरिउ
पउमचरिय
पद्मानन्द महाकाव्य
पन्नवणासूत्र
पिंडनिर्युक्ति
प्रवचन डायरी

प्रवचन सारोद्धार
प्रश्नव्याकरणसूत्र
प्राचीन भारत
प्रेमचन्द : कुछ विचार
बुद्ध पूर्व का भारतीय इतिहास
ब्रह्माण्डपुराण
भक्तामर स्तोत्र
भगवती सूत्र
भरत-मुक्ति
भारत के प्राचीन राजवंश
भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर, खण्ड २, रत्न १७, भरत चरित
मत्स्यपुराण
मनुस्मृति
महापुराण
महाभारत
महावस्तु
मार्कण्डेयपुराण
मेराजुत्तवारीख
यजुर्वेद
युगचरण, वर्ष २, अंक ११
योगवासिष्ठ
रायपसेणी सुत्त
लिंगपुराण
वसुदेवहिंडी
वायुपुराण
वाराहपुराण
विशेषणवती
विशेषावश्यक टीका
विश्वधर्म की रूपरेखा
विष्णुपुराण
बृहत्कल्पभाष्य
वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा
शतपथ ब्राह्मण
शिशुपालवधम्

श्रमण संस्कृति के प्रथम में
श्रीशत्रुंजयोल्लास
श्रीमद्भागवत
षट्प्राभृत
संस्कृति के चार अध्याय
सटीक अभिधान चिन्तामणि
सभाष्य-चूर्णि निशीथ
समवायांग सूत्र
साप्ताहिक हिन्दुस्तान
सामवेद
सुभाषितरत्नभाण्डागारम्
सूत्रकृतांग सूत्र टीका
सूत्रकृतांग सूत्र निर्युक्ति
स्कन्दपुराण
स्वर्णसप्तति टीका
हरिभद्रीय आवश्यक निर्युक्ति टीका
हर्ष चरितम्
हिन्दू सभ्यता
हीर प्रश्न वृत्ति
A Commentary on the Sat Sastra, 1. 2. Taisho Tr. VOL. 42
Description of the Chracter, Manners and Customs of the people of India and of their institution—Religious and Civil.
Geological Background of Indian History.
Historical Gleamings.
Indian Antiquary, Vol. III, IX.
Indian Historical Quarterly.
Indian Philosophy, Vol. I.
Kalpa Sutra, Introduction.
The Jain Stup—Mathura.
The Philosophies of India.
These Teachers are offshoots of the seat of Rsabha.
The Short Study in Science of Comparative Religion.
The Vedic Age.

आचार्य श्री तुलसी को अणुव्रत-आन्दोलन के द्वा
नैतिक उद्बोधक के रूप में कोटि-कोटि लोगों ने जा
महान जैनाचार्य की उनकी भूमिका है । तेरापं
अपने नवम शास्ता के रूप में पाकर कृतकृत्य है। क
ग्रन्थ-प्रणेता के रूप में संसार ने उनको अब तक इत
आंका है, पर वे जितने कुशल आचार्य, नैतिक क्र
अग्रदूत है, उतने ही सिद्धहस्त व जन मानस को आ
करने वाले महाकवि भी है । हिन्दी, संस्कृत व रा
उनकी अधिकृत भाषाएं है और उनमें वे निर्बाध लि
भाषा और अभिव्यक्ति पर पूर्ण अधिकार व अनु
की बहुलता से वे साहित्यिक जगत् में नई मान्यत
नई परम्पराओं के सर्जक है । कवित्व की उनकी ए
जहां भक्ति-परम्परा के उपासक सूर, तुलसी
आदि प्राचीन सन्तों की है, वहां वे साहित्य की
ारा के साथ भी अग्रगण्य होकर बढ़े है । हिन्दी
ानी में उनके कई महाकाव्य व खण्ड-काव्य आ
ो साहित्य जगत् में विशेषत. समादृत हुए है ।

वे ग्यारह वर्ष की अवस्था में प्रव्रजित हुए, ब
ी अवस्था में लगभग पांच सौ साधु साध्वियों ल
ाय अनुशासिता के एकमात्र आचार्य बन और
य की अवस्था में उन्होंने अणुव्रत-आन्दोलन जैसे
अभियान का प्रवर्तन किया ।